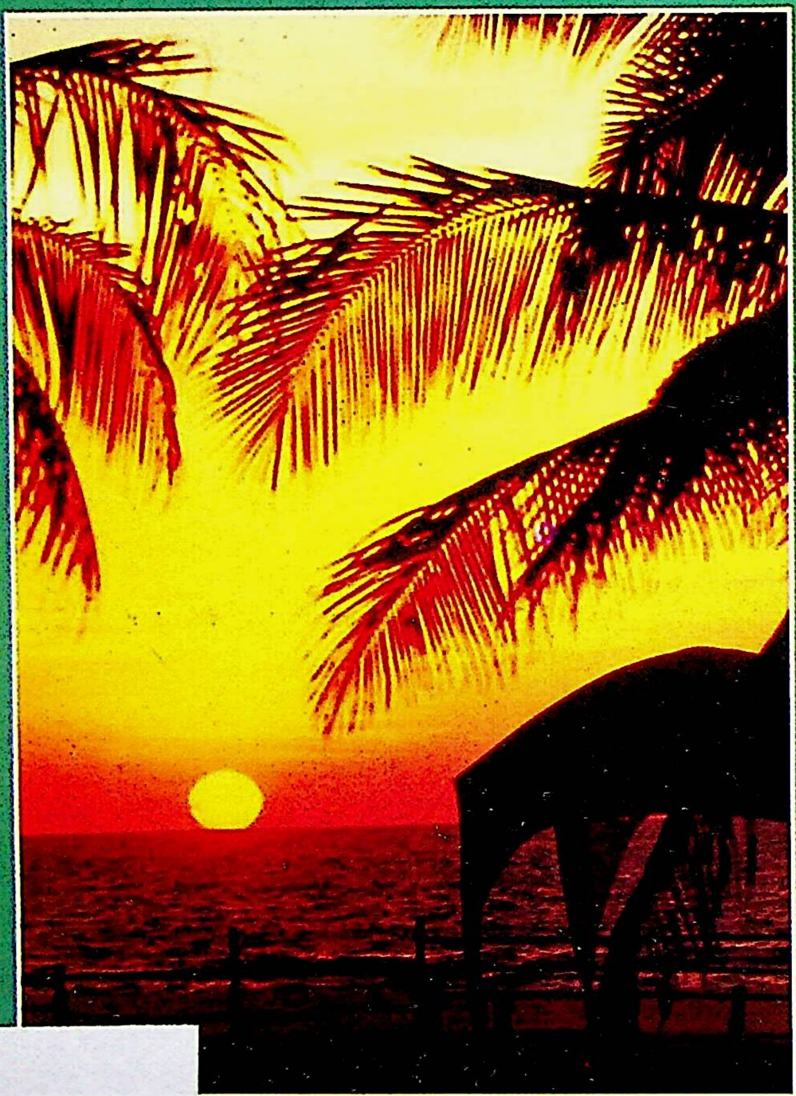
संस्कृत रीति सिद्धांत का हिन्दी रीति काव्य पर प्रभाव



डॉ० इंदु

हिंदी रीति-काव्य के पीछे संस्कृत का एक विशाल शास्त्रीय आधार है। संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न संप्रदायों की प्रतिष्ठा के साथ काव्य के सभी अंग सिद्धांत स्थिर हो चुके थे। हिंदी रीति कविता को कवि कर्म के रूप में अपनाकर चले। काव्य-सृजन के साथ काव्य-अध्यापन भी उनसे अपेक्षित था। परिणामस्वरूप रीति कवि संस्कृत काव्यशास्त्र की ओर मुड़े और कालांतर में हिंदी का विशाल काव्यशास्त्र खड़ा हो गया। ऐसे ग्रंथों की रचना हुई जिनमें काव्यशास्त्रीय सिद्धांत उदाहरणों के साथ स्पष्ट किए गए थे। चूंकि मूलाधार संस्कृत काव्यशास्त्र था, इसलिए हिंदी रीति कवियों की सिद्धांतदृष्टि, कलापद्धति और काव्यकला पर संस्कृत कवि और शास्त्रकारों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति का अर्थ काव्यनियम अथवा काव्यसिद्धांत के व्यापक रूप में नहीं अपितु विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति-पद्धति के अर्थ में प्रचलित रहा। हिंदी रीति-काव्य में रीति शब्द काव्यशास्त्र का पर्याय बन गया। जिस ग्रंथ में रचना संबंधी नियमों का विवेचन हो, वह रीति ग्रंथ तथा जिस काव्य की रचना काव्यशास्त्रीय नियमों से आबद्ध हो, वह रीति-काव्य है। सामान्य धर्म में रीति परंपरा या पद्धति का अर्थबोध कराते काव्य परिपाटी या काव्य-रचना नियमों के अर्थ में हिंदी में व्यवहृत हुई। रीति संप्रदाय रचना अथवा वाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मानती है। आरंभ में हिंदी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति संप्रदाय से लिया गया एवं यहाँ इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में हुआ। संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति का संबंध काव्य के बाह्य रूप से रहा। काव्य शोभा का वस्तुगत विवेचन रीति संप्रदाय का आधार है। उसके अनुसार पदों का निपुण प्रयोग, वर्णों का ललित विन्यास तथा भावों की सज्जा काव्य-सौंदर्य की सृष्टि हेतु होता है। अतः 'संस्कृत रीति संप्रदाय' और 'हिंदी रीति-काव्य' में प्रयुक्त रीति शब्द की भिन्नार्थकेता अद्यतन प्रस्तुत मान्यताओं के साथ पुनः अवलोकनीय है।

ISBN : 81-85184-94-1

प्रकाशक एवं वितरक :
विनोद कुमार शर्मा
निर्माण प्रकाशन
1/3476-बी, अशोक मार्ग, रामनगर एक्स., शाहदरा, दिल्ली-110032
शाखा : डी-5, इन्द्रापुरी, लोनी सिटी, गाजियाबाद (उ.प्र.)-201102
☎ 0120-2687204 [दिल्ली से 95120]

प्रथम संस्करण : 2004

मूल्य : 300.00

आवरण :
अमिताभ राय

अक्षर संयोजन :
राजेश लेजर प्रिंट्स, शाहदरा, दिल्ली-32

मुद्रक :
त्रिवेणी ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032



समर्पण

"मुझे जीवन देने वाले,
जीना सिखाने वाले,
मेरे जीवन के आधार,
मेरे माता-पिता
को
यह पुस्तक
सादर
समर्पित है।"

डॉ. इंदु



प्राक्कथन

हिन्दी आलोचना जगत् में यह तथ्य सर्वमान्य है कि रीतिकाव्य के पीछे संस्कृत का एक विशाल शास्त्रीय आधार है। संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा के साथ काव्य के सभी अंगों का सूक्ष्म विश्लेषण होने के बाद सिद्धांत स्थिर हो चुके थे। हिन्दी रीति कवि कविता को कवि कर्म के रूप में अपनाकर चले थे। काव्य सृजन के साथ ही काव्य अध्यापन भी उनसे अपेक्षित रहता था। यही कारण था कि यह कवि संस्कृत काव्यशास्त्र की तरफ मुड़े और कालान्तर में हिन्दी का विशाल काव्यशास्त्र खड़ा हो गया। विभिन्न काव्यांग और काव्यतत्त्व कवि बनने के लिए तथा कविता समझने के लिए समझे और समझाए जाने लगे। परिणामस्वरूप ऐसे ग्रन्थों की परम्परा चल निकली, जिसमें काव्यशास्त्रीय सिद्धांत उदाहरणों के साथ स्पष्ट किए गए थे। चूँकि मूलाधार संस्कृत काव्यशास्त्र था, इसलिए हिन्दी रीति कवियों की सिद्धांतदृष्टि, कलापद्धति और काव्यकला पर संस्कृत कवि और शास्त्रकारों का प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक था। इसी आधार पर आलोच्य शोध-विषय को सार्थकता की भूमि मिलती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि और औचित्य—यह सम्प्रदाय माने गये हैं। यहाँ एक तथ्य विशेषतः उल्लेखनीय है कि 'संस्कृत रीति सम्प्रदाय' और हिन्दी रीतिकाव्य में प्रयुक्त रीति शब्द की भिन्नार्थकेता अद्यतन प्रस्तुत मान्यताओं के साथ पुनः अवलोकनीय है।

संस्कृत कोशों में 'रीति' शब्द 'सुष्ठु शब्दावली', लेखन-पद्धति (शैली) आदि अर्थों में ग्रहण किया गया है। रीति के उद्भावक आचार्य वामन के परवर्ती 'भोज' ने रीति शब्द का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्गेति स्मृतिः।
रीङ्गतांविति धातोः सा व्युतपत्त्या रीतिरुच्यते॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण

अर्थात् वैदर्भादि मार्ग काव्य मार्ग कहे जाते हैं। रीति शब्द की उत्पत्ति रीङ् गति (चलना) गत्यर्थक रीङ्, री धातु तथा क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है। अतः इसका शाब्दिक अर्थ, गत्यर्थ चाल पंथ, मार्ग, पद्धति, विधा, प्रक्रिया, प्रचलन, प्रथा, प्रणाली,

शैली, ढंग, परम्परा आदि है। काव्यशास्त्र में पदरचना पद्धति को रीति कहा गया साथ ही साहित्य में किसी विषय का वर्णन करने में वर्णों की वह योजना जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य गुण आता है। इस प्रकार सामान्य धर्म में रीति परम्परा या पद्धति का अर्थबोध कराते-कराते काव्य परिपाटी या काव्य-रचना नियमों अर्थ में भी हिन्दी में व्यवहृत हुई। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठभूमि से स्पष्ट है, रीति सम्प्रदाय रचना अथवा बाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मानकर चला है। सम्भव है आरम्भ में हिन्दी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति सम्प्रदाय से ही लिया गया हो, परन्तु वास्तव में यहाँ इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है।

हिन्दी रीतिकाव्य में रीति शब्द काव्यशास्त्र का पर्याय बन गया, जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो, वह रीति ग्रन्थ तथा जिस काव्य की रचना इन काव्यशास्त्रीय नियमों से आबुद्ध हो, वह रीतिकाव्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल के नामकरण का आधार यही दृष्टिकोण विशेष माना है। हिन्दी रीतिकवियों में रीति को शास्त्र तथा पंथ के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है–

1. काव्य की रीति सिखी सुकविन्ह सों (भिखारीदास)
2. अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति (देव)
3. छन्द रीति समुझे नहीं बिन पिंगल के ज्ञान (सोमनाथ)
4. थोरेक्रम-क्रमते कही अलंकार की रीति (दूलह)
5. सो विश्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कवि रस रीति (मतिराम)
6. कवित रीति कछु कहत है। व्यंग्य अर्थ चितलाय (प्रताप साहि)
7. ताही को रति कहत है, इस ग्रन्थन को रीति (पद्माकर)
8. समुझे बाला बालकन वर्णन पंथ अगाध (केशव)
9. रीति सु भाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार (चिंतामणि)
10. सुकवि हूँ कि कुछ कृपा, समुझि कविन को पंथ (भूषण)

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिन्दी रीतिकालीन, रीतिकवियों ने रीति शब्द को काव्यशास्त्रीय पद्धति के रूप में व्यवहृत किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति का अर्थ काव्यनियम अथवा काव्यसिद्धांत के व्यापक रूप में नहीं अपितु विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति पद्धति के अर्थ में ही प्रचलति रहा। रीति सम्प्रदाय के उद्भावक और प्रतिष्ठापक आचार्य वामन के अनुसार विशिष्ट पद-रचना रीति है–विशिष्टः पद रचना रीतिः। पदरचना की यह विशेषता गुणों पर आधारित है। इस प्रकार यह विशिष्टता काव्य की शोभा है और इस शोभा के कारक हैं गुण–काव्य शोभायाः कर्तारा धर्मा गुणाः। वामन के अनुसार काव्य के गुण नारी के स्वाभाविक सौन्दर्य के समान होते हैं और अलंकार आमरण के समान। अतः अलंकार काव्य के आगन्तुक धर्म हैं और गुण नित्य, अलंकारों की स्थिति वैकल्पिक होती है

और गुणों की अनिवार्य। अतः काव्य से उनका अभिप्राय है गुण तथा अलंकारों से संस्कृत शब्द और अर्थ, वामन का यह अलंकार शब्द उपमादि अलंकारों का वाचक न होकर सौन्दर्य आधायक तत्त्व का द्योतक है। कवि इस (सौन्दर्य आधायक) अलंकारों को दोषों के परित्याग तथा गुण के ग्रहण से प्रस्तुत कर सकता है। वामन की दृष्टि से इस प्रकार के काव्य की आत्मा 'रीति' होती है—रीतिरात्मा काव्यस्य'।

स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्यशास्त्र में 'रीति सम्प्रदाय' ने काव्य के बाह्य रूप को गौरव के साथ आगे लाने का महत् प्रयास किया। काव्य-शोभा का वस्तुगत विवेचन, रीति सम्प्रदाय का आधार है। उसके अनुसार पदों का निपुण प्रयाग वर्णों का ललित विन्यास तथा भावों की सज्जा काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि हेतु हैं। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार—"भारतीय काव्यशास्त्र की रीति का सम्बन्ध कला से जितना घनिष्ठ है उतना कवि व्यक्तित्व से नहीं। इसके साथ यहाँ यह तथ्य भी दृष्टव्य है कि काव्य को कला की दृष्टि से ही रीतिकवियों ने ग्रहण किया है।" डॉ. रामकुमार वर्मा का कहना है कि—"मैं तो कहूँगा कि हिन्दी साहित्य का कला-काव्य वस्तुतः चारण काल और भक्ति काल की प्रेरणाओं को आत्मसात् कर जीवन के लौकिक पक्ष को कभी राजनीति और कभी प्रेम से मिलाकर अत्यन्त कलात्मक रूप से उपस्थित करता है। इस दृष्टि से कला-काल की रचनाओं पर नकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाले आलोचकों को कला काल का अध्ययन कला के सिद्धांतों को सामने रखकर करना चाहिए। रीति कवि काव्य कला के प्रति पर्याप्त जागरूक थे। रीतिकाल के आचार्य कवियों के इस उद्देश्य को नकारा नहीं जा सकता कि वे काव्य-रचना के पंथ को हृदयंगम कराने के लिए ही लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन करते रहे।

कलात्मकता के विशेष आग्रह के कारण ही रीति कवियों ने लक्षण ग्रन्थों में काव्य की पद्धति समझाई है। इसका उद्देश्य है कलापूर्ण काव्य रचना करना और समझना। वामन के अनुसार गुण सम्पन्न पद रचना (रीति) ही काव्य की आत्मा है। वामन ने वस्तु और रीति में रीति को ही प्रधानता दी है। रीति के उपधान से ही वस्तु का सौन्दर्य निखरता है। 'वामन' काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में काव्य प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—सत्काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है—ये है प्रीति और कीर्ति।

सुन्दर काव्य का दृष्ट प्रयोजन है आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन है कीर्ति कहना न होगा कि हिन्दी रीतिकवियों के काव्य का प्रयोजन भी यही था। इसीलिए उसकी सुन्दरता पर उनका आग्रह विशेष था। 'विशिष्ट पदरचना' का हेतु व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा तीनों है। रीतिकविता श्रम, ज्ञान और प्रतिभा तीनों की उपस्थिति को संकलित करती है। वामन काव्य हेतु का विवेचन करते समय बताते हैं—काव्य के तीन हेतु हैं—लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण। लोक से तात्पर्य लोक व्यवहार, विद्या से तात्पर्य है

शब्दशास्त्र, शब्दकोश, छन्दशास्त्र, कला काव्यशास्त्र आदि विधाएँ। प्रकीर्ण में लक्ष्यज्ञान (दूसरों के काव्य से परिचय) अभियोग (काव्य रचना में उद्यम) वृद्धसेवा, काव्यकला की शिक्षा देने योग्य गुरुजन की सेवा। अवेक्षणा (उपयुक्त शब्द चयन और अनुपयुक्त का त्याग) प्रतिमान (जन्मान्तरगत संस्कार विशेष) तथा अवधान चित्त की एकाग्रता) आते हैं। इसीलिए वामन ने केवल उसी को काव्य का अधिकारी माना है जिसमें विवेचन बुद्धि है ('आरोचकी सतृणाभ्यवहारी' नहीं) काव्य और काव्यशास्त्र सबके लिए न होकर व्युत्पन्न (निपुण) तथा विवेकशील व्यक्तियों के लिए ही है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के रीति सम्प्रदाय की रीति का सम्बन्ध कवि व्यक्तित्व तथा भाव विषयादि की अपेक्षा अधिकतर पद-रचना की कला से ही रहा। काव्य के विषय-पक्ष (रस-भाव विचारादि) को सम्प्रेषित करना ही 'रीति' का सामान्य कार्य है। उन्हें सर्वग्राह्य एवं काव्यात्मक बनाना ही रीति का प्रयोजन है। यह काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष में सामंजस्य स्थापित करती है। वक्रोक्ति, अलंकार, शब्द शक्तियाँ छन्द आदि उसके प्रसाधन हैं और गुण उसकी आत्मा। रसवादी आचार्यों के ही शब्द लें तो कह सकते हैं–उपकर्त्री रसादीनाम्–इस प्रकार वह रस की वाहिका है। वामन का मतभेद यहाँ सिर्फ यह है कि रस के बिना भी वह स्वयं सिद्धि है जबकि आनन्दवर्द्धन की सम्यक्पदसंघटना की रस अनिवार्य सिद्धि।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाल' नाम से विश्रुत काव्यकाल के रीतिकवियों का सम्बन्ध जितना संस्कृत काव्यशास्त्र की 'रीति' से है, उतना अन्य किसी तत्त्व से नहीं, क्योंकि काव्यकला तथा काव्यकला की रीति को इस कालखण्ड में जितनी गम्भीरता से ग्रहण किया गया है, उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना असम्भव है। हिन्दी रीतिकाव्य के इस स्वरूप को स्वयं रीतिकवि सूरित मिश्र के ही शब्दों में देखिए–

> बरनन मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
> निपुण कर्मकवि को श्रुतिहि काव्य कहत सब कोइ॥

यह बात और है कि रीतिकालीन रीति कवियों ने प्रत्यक्षतः रीति सम्प्रदाय को स्वीकृति नहीं दी, फिर भी यह तथ्य भी अनुपेक्षणीय नहीं है कि संस्कृत रीति सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित काव्यदृष्टि तथा सिद्धांत व्यवहारतः उनमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने 'भारतीय काव्यशास्त्र' की भूमिका में इस ओर संकेत भी किया है। हिन्दी में रीति-सिद्धांत लोकप्रिय नहीं हुआ। वास्तव में रीतिवाद को हिन्दी साहित्य में कभी मान्यता नहीं मिली। यह एक विषमता ही है कि स्वयं रीतिकाल का दृष्टिकोण सिद्धांत रूप में रीतिवादी नहीं रहा।

उपरोक्त विवेचनों से आलोच्य शोध विषयों की सार्थकता तो सिद्ध होती ही है, परन्तु विषय की आवश्यकता एवं उपयोगिता अपेक्षित है। रीति-सिद्धांत और रीति-काव्य

पर अनेकों शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं उनमें से अधिकांशतः प्रकाशित भी हो चुके हैं। परन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है, रीति-सिद्धांत और हिन्दी रीति-काव्य में सैद्धान्तिक भिन्नता होने पर भी उनमें परस्पर सम्बन्ध पर सूक्ष्म विवेचन बहुत ही अल्प मात्रा में मिलता है, यदि मिलता भी है तो अपवाद रूप में। यद्यपि सिद्धांततः संस्कृत रीति-सिद्धांत पर रीति-काव्य आश्रित है, परन्तु रीतिकाव्य अपनी अभिव्यंजना पद्धति तथा अधिकांशतः कलात्मकता के कारण साहित्य जगत् में पृथक् अस्तित्व का आकांक्षी है। यही जिज्ञासा मेरे शोध-विषय की आवश्यकता भी है और उपयोगिता भी। प्रस्तुत ग्रन्थ को मैंने आठ अध्यायों में विभक्त किया है, जिसका विषयगत विस्तृत विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है–

प्रथम अध्याय–संस्कृत काव्यशास्त्र में रीतितत्त्व विवेचन–इस अध्याय में रीति-सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य वामन एवं उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रीति विवेचन, रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ, उसके तत्त्व, भेद, आधार (गुण-रस, मानवस्वभाव के आधार पर), रीति की प्रवृत्ति, वृत्ति और शैली से अन्तर, रीति-सिद्धांत का ध्वनि, रस, अलंकार, वक्रोक्ति और औचित्य-सिद्धांतों के साथ सम्बन्ध का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय–हिन्दी रीति-काव्य की संस्कृत काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि– संस्कृत काव्यशास्त्र और हिन्दी रीति-काव्य में काव्य का लक्षण, प्रयोजन, हेतु, स्वरूप, गुण-दोष, शब्द-शक्ति स्पष्ट करते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र के सम्प्रदायों यथा–ध्वनि, रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति के साथ हिन्दी रीतिकाव्य का इन सम्प्रदायों से सम्बन्ध का आकलन किया गया है।

तृतीय अध्याय–हिन्दी रीति-काव्य और उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ–रीति-काव्य से अभिप्राय और विस्तार प्रस्तुत करते हुए रीति-काव्य की प्रवृत्तियों यथा–रीतिनिरूपण, श्रृंगारिकता, कला व अलंकरण, राज प्रशस्ति, भक्ति और नीति, वीरकाव्य, प्रकृति-चित्रण, ब्रजभाषा, काव्यरूप, छन्द का उल्लेख है।

चतुर्थ अध्याय–रीतिकाल के प्रमुख कवि और आचार्य–आचार्यत्व का अर्थ विस्तार करते हुए संस्कृत और रीतिकालीन आचार्यों में परस्पर साम्य-वैषम्य के साथ रीतिकालीन सर्वांग, विविधांग तथा एकांगनिरूपण आचार्यों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय–रीतिकाल के परवर्ती कवि और आचार्य–रीतिकालीन परवर्ती कालखण्ड की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त परिचय देते हुए रीतिकालीन परवर्ती मुख्य और गौण कवियों का विवरण दिया गया है।

षष्ठ अध्याय–रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त काव्य और कवि–रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य की विशेषताएँ बताते हुए उस धारा के अन्तर्गत आने वाले मुख्य

कवियों का परिचय तथा रीतिमुक्त भक्ति, नीति, वीर काव्य का उल्लेख है।

सप्तम अध्याय–रीतिविज्ञान : शैली विज्ञान–इनका वस्तुपरक भेद स्पष्ट करते हुए पृथक् रूप से रीतिविज्ञान और शैलीविज्ञान का स्वतन्त्र परिचय प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम अध्याय–उपसंहार : हिन्दी रीति-काव्य का वैशिष्ट्य–कलागत विशेषताओं (भाषा, शैली, अलंकार, गुण, दोष, शब्दशक्ति) को सम्मिलित करते हुए सम्पूर्ण रीति-काव्य का वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रसंग में मैं उन लेखकों, समालोचकों और इतिहासकारों की ऋणी हूँ, जिनकी कृतियों के आधार पर यह ग्रन्थ प्रस्तुत हो सका। इसकी सूची बहुत विस्तृत है, इसलिए सभी ऐसे महापुरुषों को मैं सादर प्रणाम निवेदित करते हुए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। अपने अध्यापकों और विद्वानों की भी मैं ऋणी हूँ, जिनकी सहायता और परामर्श मुझे समय-समय पर प्रेरित करती रही। इस ग्रन्थ में जो भी सुन्दर बन पड़ा है, यह गुरुजनों का प्रसाद है। अन्त में मैं अपने परिवार के सभी सदस्यों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, विशेषकर अपने माता-पिता डॉ. सत्यव्रत शास्त्री एवं डॉ. उषा सत्यव्रत का जिनके स्नेहासिक्त आशीर्वाद, स्नेह, प्रेरणा और कृपा की जीवन्त छाया सदैव मुझ पर रही है। 'निर्माण प्रकाशन' के स्वामी श्री विनोद कुमार शर्मा के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

मुझे आशा ही नहीं वरन् अपितु पूर्ण विश्वास है कि मेरे इस प्रयास से हिन्दी-साहित्य जगत् के श्रीभण्डार में यदि अल्प मात्र भी वृद्धि होगी तो इसी में मेरे श्रम की सार्थकता है।

मकर संक्रांति
14 जनवरी, 2004

–डॉ. इन्दु

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

संस्कृत काव्यशास्त्र में रीतितत्त्व विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्य काव्य-सिद्धांतों की भाँति रीति-सिद्धांत पर भी अनेक आचार्यों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं। किंतु जैसे अन्य काव्य-तत्त्वों की महत्ता एवं वैशिष्ट्य के संबंध में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं, वैसे ही रीति की महत्ता, रीति-भेद, रीति- भेदों का आधार, रीति के साथ गुण और रस का संबंध-स्थापन आदि विषयों पर मतैक्य उपलब्ध नहीं होता। किसी आचार्य ने उसे काव्य की आत्मा की पदवी प्रदान की है और किसी ने उसे मात्र काव्य-पुरुष का अंग-संस्थान स्वीकार किया है। इस विवाद में पड़ने से पूर्व 'रीति' शब्द के व्युत्पत्तिपरक एवं कोशगत अर्थ को समझ लेना अधिक उचित होगा। पाणिनि के अनुसार 'रीति' शब्द गत्यर्थक 'री' (चुरादिगण)[1] और श्रवणार्थक 'रीङ्' (दिवादि गण)[2] धातुओं में 'क्तिन्' अथवा 'क्तिच' प्रत्यय के योग से निर्मित है। 'री' का अर्थ है 'सुनाई देना'। इस दृष्टि से 'रीति' शब्द के दो अर्थ हुए–'वह जो गतिशील हो' तथा 'वह जो सुनाई दे'। कालान्तर में 'रीति' शब्द के अर्थ में विस्तार हुआ और वह 'गति' अथवा 'मार्ग' से 'काव्य-गति' अथवा 'काव्य-मार्ग' का वाचक बन गया।

विभिन्न कोशकारों ने भी 'रीति' के संबंध में अनेक अर्थों की चर्चा की है। मोनियर विलियम्स ने 'रीति' का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया–"Riti (F) Going, Motion, Course, A stream,. current, line Row, limit, Boundry, Cicueral Course or way, usage, custom, Practice, Method, Manner, Natural Poetry, style of speaking or writing, yellow or pale Brass, Bell Metal, Rust of Iron, scoria or oxide formed on metals by exposure to heat and air".[3]

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में 'रीति' शब्द के अनेक अर्थ दिए हैं-गति, बहाव, नदी, सोला, रेखा, ढंग, प्रकार, चलन, रिवाज, रस्म, तर्ज, शैली, पीतल, कांसा, लोहे का मोर्चा, जंग, बरतनों पर की कलाई, काव्य की आत्मा।[4] वी. एस. आप्टे द्वारा प्रस्तुत रीति के अर्थ मुख्यतः वही हैं, जो मोनियर विलियम्स ने प्रस्तुत किए थे।[5] बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार–क्षरण, झरना, टपकना, ढंग, तरीका, ढब, प्रकार, रिवाज, चलन,

परिपाटी, नियम, कायदा, विशिष्ट पद रचना आदि रीति के मुख्य अर्थ हैं।[6] नालंदा विशाल शब्द सागर के अनुसार 'रीति' शब्द के कतिपय अर्थ इस प्रकार हैं—कोई काम करने का ढंग, ढब, तरह, रस्म, रिवाज, नियम, कायदा, लोहे की मेल, पीतल, जले हुए सोने की मेल, सीसा, गति, स्वभाव, प्रशंसा, स्तुति, साहित्य में किसी विषय का वर्णन करने में वर्णों की वह योजना जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य गुण आता है।[7] हिंदी शब्द सागर में रीति के अर्थ हैं—ढंग, प्रकार, तरह, ढब, रस्म, रिवाज, परिपाटी, कायदा, नियम, साहित्य में किसी विषय का वर्णन करने में वर्णों की वह योजना जिससे ओज, प्रसाद वा माधुर्य आता है।[8]

उपर्युक्त वर्णित सभी अर्थ साहित्य-क्षेत्र से जुड़े हुए नहीं है। इनमें से कुछ अर्थ ही ऐसे हैं, जिनका संबंध हमारे वर्ण्य-विषय से है। ये विषयानुकूल अर्थ इस प्रकार हैं—विशिष्ट पद-रचना, शैली, काव्य-परिपाटी, प्रणाली, पद्धति, मार्ग तथा साहित्य में किसी विषय का वर्णन करने में वर्णों की वह योजना, जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य गुण आता है।

(क) रीति निरूपक आचार्य-परंपरा

यह सत्य है कि 'रीति' को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने का श्रेय आचार्य वामन को है, किंतु उनसे पूर्व भी 'रीति' शब्द की पर्याप्त विवेचना हो चुकी थी। भरत, भामह, दण्डी, बाणभट्ट आदि कई आचार्यों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से 'रीति' का विश्लेषण प्रस्तुत किया था। अतः वामन के रीति विवेचन को जानने से पूर्व इन आचार्यों की रीति निरूपण संबंधी दृष्टि का समझ लेना समीचीन होता है।

1. वामन पूर्ववर्ती रीति-विवेचन

'रीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में स्तुति, शीघ्रगति, गमयिता (प्रेरक) आदि अर्थों में पाया जाता है।[9] इसके उपरांत पाणिनी ने 'रीति' की व्युत्पत्ति की चर्चा करते हुए उसके धात्वर्य को उद्घाटित किया तथा रीति के दो प्रमुख गुणों—गतिशीलता और श्राव्यता—पर विचार किया।[10] पतंजलि ने 'एषा हि आचार्यस्य शैली लक्ष्यते'[11]—कहते हुए रीति के अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग किया। 'शील' शब्द में अण् प्रत्यय लगाकर (स्त्रीलिंग में ङीप प्रत्यय जोड़कर) शैली शब्द सिद्ध किया जाता है।[12] साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में रीति के आदि व्यवस्थापक के रूप में राजशेखर का नाम लिया जाता है। उन्होंने 'रीतिनिर्णय सुवर्णनामः, आनुप्रासिंक प्रचेता, यमकं यमः चित्रं चित्रांगद'[13]—कहते हुए 'सुवर्णनाभ' का उल्लेख किया है।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'प्रवृत्ति' का उल्लेख किया है। वस्तुतः यह 'प्रवृत्ति' ही रीति' का आधार है। उन्होंने 'प्रवृत्ति' के

अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते—पृथिव्यां नानादेशवेश-भाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। वृत्तिश्च निवेदने।'[14] अर्थात् विभिन्न देशों के वेश, भाषा एवं आचार की वार्ता का रूपायन कराने वाले तत्त्व को प्रवृत्ति कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि प्रवृत्ति मूलतः भौगोलिक एवं जनपदीय आचारों पर निर्भर करती है। इस आधार को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने प्रवृत्ति को चार विभागों में विभक्त कर दिया—

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्तानाट्य प्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी॥[15]

अर्थात् पश्चिम में आवन्ती, दक्षिण में दाक्षिणत्या, पश्चिमोत्तर में पांचाली और पूर्व में ओड्रमागधी। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य भरत ने मध्यदेश की भाषागत प्रवृत्ति का कोई उल्लेख नहीं किया। भरत मुनि के प्रवृत्तिगत विश्लेषण के संबंध में डॉ. योगेन्द्रप्रताप सिंह ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'आचार्य भरत का यह 'प्रदेशाभिधानवाद' एक ओर प्रादेशिक भाषाओं, रीति-रिवाजों, प्रचलनों से संबंधित रहा है तो दूसरी ओर उसका संबंध रस तथा नाट्यशास्त्र की अन्य सैद्धांतिक मान्यताओं से जुड़ा हुआ था।'[16] डॉ. सिंह का यह मत उचित ही प्रतीत होता है क्योंकि भरत की 'प्रवृत्ति' मूलतः नाटक के अभिनय के अंगरूप वेश, भाषा तथा आचार से ही संबंधित है।

भरत मुनि के पश्चात् बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में अपने समय की भाषागत जिन चार शैलियों का उल्लेख किया है, उसमें भरत के 'प्रवृत्ति' संबंधी विवेचन की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥[17]

अर्थात् उत्तर भारत के व्यक्ति श्लेष को, पश्चिम के लोग अर्थगौरव को, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा को तथा गौड या पूर्वी भारत के लोग अक्षराडम्बर को प्रधानता देते हैं। बाणभट्ट ने शैलियों की एकान्तिक साधना को महत्त्व प्रदान नहीं किया वरन् उनका तो मत है कि नवीन अर्थ, अग्राम्य स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस, विकट अक्षरबंध आदि का एकत्र होना दुर्लभ अवश्य है, किंतु प्रतिभा के स्वामी कवि के लिए यह असंभव नहीं है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो क्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥[18]

भामह ने 'प्रवृत्ति' तथा 'रीति' शब्दों के स्थान पर 'काव्य' अथवा 'काव्य-भेद' शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने प्रायः अपने समय में प्रचलित भौगोलिक आधारों की अवहेलना करते हुए काव्य के दो मार्ग स्वीकार किए—'गौड' और 'वैदर्भ'।

डॉ॰ सत्यदेव चौधरी ने भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए लिखा है कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में पण्डित-वर्ग में प्रदेशों के नाम पर वैदर्भी आदि रीतियों के नामकरण का पक्ष इतना बल पकड़ गया था कि भामह को इसका विरोध करना पड़ा—

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु, प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते॥[19]

अर्थात् अश्मक वंश आदि में प्रचलित लेखन-प्रकार वैदर्भ कहाता है तो कहाता रहे, पर नाम तो प्रायः इच्छा से ही रख दिए जाते हैं। किंतु पण्डितवर्ग की उक्त विचार-परंपरा भामह के इस निषेध से समाप्त नहीं हुई। वह दण्डी से होती हुई वामन और राजशेखर तक चली आई। रुद्रट इस अंतराल के अपवाद हैं।[20]

दण्डी ने मूलतः दृष्टि तो भामह की ही ग्रहण की, किंतु उन्होंने उसे और अधिक स्पष्ट करते हुए 'रीति' की व्याख्या प्रस्तुत की। भामह ने जिस व्यापक अर्थ में रीति शब्द को ग्रहण किया था, उसकी संगतिपूर्ण विवेचना दण्डी ने कर दी। वे वाणी के अनेक मार्ग मानते हैं। इन सबमें से वे वैदर्भ एवं गौड मार्ग को ही प्रशस्त मानते हैं। इन दोनों में भी उन्होंने वैदर्भ मार्ग को ही अधिक प्रशस्त मानकर रीति को 'वैदर्भ मार्ग का प्राण माना है तथा दस गुणों को भी वैदर्भ से निबद्ध कर दिया है।[21] दण्डी के वैदर्भ—गौडीय प्रसंग को देखने से ज्ञात होता है कि वे इन दोनों काव्य-मार्गों को प्रदेश-विशेषों से संबद्ध मानते हैं। जैसे—

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमीप्सितम्॥[22]

अर्थात् गौडप्रदेश के निवासी इस शब्द-समता का आदर नहीं करते, क्योंकि उन्हें अनुप्रास प्रिय है। पर वैदर्भ प्रदेश के निवासियों को अनुप्रास से प्रायः यहाँ शब्दसत्ता ही अधिक प्रिय है। भामह और दण्डी के रीतिनिरूपण-संबंधी विवेचन की तुलनात्मक दृष्टि से व्याख्या करते हुए डॉ॰ सुरेशचन्द्र द्विवेदी ने लिखा है कि 'भामह ने रीति को व्यापक संदर्भ में (अलंकार, गुणदोषादि के संदर्भ में) ग्रहण किया था जबकि दण्डी ने उसे केवल वैदर्भ मार्ग तक सीमित कर दिया तथा दस गुणों से निबद्ध कर रीति को उसका (वैदर्भ मार्ग का) प्राण बताया।'[23]

2. वामन का रीति-विवेचन

'रीति' को 'काव्य की आत्मा' की पदवी से विभूषित करने का श्रेय आचार्य वामन को देना ही उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि उनसे पूर्व रीति निरूपण हुआ तो अवश्य था, किंतु किसी भी आचार्य ने न तो रीति शब्द को व्यवहार किया था और न ही इसका कोई स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया था। वामन ने ही रीति की परिभाषा देते

हुए उसके स्वरूप को व्याख्यायित किया है। डॉ. शिवनाथ पाण्डेय के शब्दों में 'आचार्य वामन भारतीय काव्यशास्त्र के उन महनीय आचार्यों में से हैं, जिन्होंने अपने मौलिक सिद्धांतों की उद्भावना कर एक नवीन काव्य-सिद्धांत का प्रदर्तन किया, जो 'रीति-सिद्धांत' या 'रीति-संप्रदाय' के नाम से अभिहित किया जाता है। वामन को रीतिमत का सर्वोत्तम प्रतिनिधि आचार्य माना जा सकता है। दण्डी के ग्रंथों में जो विषय अस्पष्ट तथा अव्यवस्थित प्रतीत होते हैं, वामन के ग्रंथों में वे पूर्णतः विकसित रूप में उपलब्ध हैं। वामन को सही अर्थों में काव्य-विद्या का प्रथम आचार्य कहा गया है, जिन्होंने ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन से पूर्व काव्य के एक सर्वथा स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित सिद्धांत का प्रतिपादन किया।'[24]

वामन के मतानुसार 'विशिष्टा पदरचना'[25] रीति है। पदों की रचना में विशिष्टता गुणों के कारण आती है। गुण काव्य की शोभा करने वाले धर्म है। काव्य, शब्द का प्रधानरूप से तो अर्थ है—वे शब्दार्थ जो ओज आदि गुणों और यमकोपमादि अलंकारों से शोभित हों, पर गौण रूप से 'काव्य' शब्द का अर्थ शब्दार्थ का द्योतक वाक्य भी है। 'रीति' काव्य अर्थात् शब्दार्थ की आत्मा है।[26]

वामन ने काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में काव्यात्मा की खोज का सूत्रपात किया और काव्य को पुरुष-शरीर-रूप में रूपायित कर उसकी आत्मा का निर्धारण किया। वस्तुतः काव्यात्मा से तात्पर्य काव्य के मूलभूत तत्त्व से है। वामन ने 'रीति' को काव्य की आत्मा घोषित करके एक नई दिशा से काव्य का मूल्यांकन आरंभ किया। उन्होंने रीति में गुण और अलंकार को समाविष्ट करके रीति के अर्थ में व्याप्ति कर दी तथा उसे संपूर्ण काव्य-सौंदर्य का आधार बना दिया। उन्होंने सौंदर्यमलंकार उक्ति के द्वारा अलंकार को गुणानुवर्त्ती सिद्ध किया तथा काव्य में सौन्दर्य का विधान करने वाले तत्त्व को गुण कहा। और चूँकि अलंकार काव्य का सौंदर्य है, अतः यह गुण के भीतर ही समाहित हो जाता है। यही गुण रीति के रूप में अभिव्यक्त होता है। 'अलंकारादि से संपुष्ट गुण-समन्वित रीति को ही काव्य की आत्मा कहा गया है।'[27]

3. वामन परवर्ती आचार्य और रीति

वामन के उपरांत आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' के लिए 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया। संघटना से अभिप्राय है, सम्यक् घटना। वास्तव में आनन्दवर्द्धन ने वामन की परिभाषा को ही कुछ संक्षिप्त कर दिया है। वामन ने रीति को विशिष्ट पदरचना कहा तो आनन्दवर्द्धन ने उसे संघटना अथवा सम्यक् घटना कहा, इसमें पदरचना और घटना तो पर्यायवाची शब्द है, अंतर मूलतः 'विशिष्ट' और 'सम्यक्' विशेषणों में से है। वामन के मतानुसार पदरचना में वैशिष्ट्र्य गुणों के कारण आता है और गुण पदरचना के अधीन है। जबकि आनन्दवर्द्धन का मत है कि घटना का सम्यक्त्व तभी

है जब वह गुणों के आश्रय में रहकर रस की अभिव्यक्ति करे।[28] इस अंतर का कारण यह है कि आनन्दवर्द्धन के सम्मुख रस का मानदण्ड उपस्थित था, अतः उन्होंने तद्नुकूल 'सम्यक्' विशेषण प्रयुक्त किया। वामन के समक्ष ऐसा कोई मानदण्ड था, इसीलिए उन्होंने शब्द-अर्थ को ही काव्य का चरम मानदण्ड स्वीकार करते हुए शब्द और अर्थगत सौंदर्य को विशेषण घोषित किया। अतः कहा जा सकता है कि 'पदरचना' और 'घटना' शब्दों में अर्थसाम्य होते हुए भी दोनों में प्रयुक्त विशेषणों में सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है। आनन्दवर्द्धन की 'रीति' रस रूप सौंदर्य का साधन है तो वामन की रीति अपने आप में सिद्ध है।

राजशेखर ने भाषिक आधार पर रीति-विवेचन प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्य-मीमांसा' में रीति, प्रवृत्ति एवं वृत्ति तीनों शब्दों के अर्थों पर प्रकाश डाला है। 'वेष विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः विलास-विन्यास क्रमो वृत्तिः, वचन विन्यासक्रमो रीतिः।'[29] अर्थात् वेश विन्यास के क्रम को प्रवृत्ति, विलास-विन्यास के क्रम को वृत्ति तथा वचन विन्यास के क्रम को रीति कहते हैं।

भोज ने 'रीति' की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा प्रस्तुत की। उनका मत है—

वैदर्भादिकृत पंथाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्ताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥[30]

उन्होंने 'रीति' को गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से उत्पन्न मानकर उसे कविगमन मार्ग कहा। साथ ही उन्होंने इस शंका का समाधान भी प्रकारान्तर से कर दिया कि रीति शब्द मार्ग, वर्त्य, पन्थाः का पर्याय क्यों माना जाता है।

कुन्तक ने 'रीति' के लिए मार्ग शब्द प्रयुक्त किया है। वे रीति को 'कवि प्रधान हेतु' मानते हैं अर्थात् वह मार्ग जिस पर कवि प्रस्थान करे अर्थात् रचना शैली। कुन्तक ने अपने समय में प्रचलित देश-भेद के आधार पर निर्मित, वर्गीकृत या अभिधेय करने के सिद्धांत की अवहेलना करते हुए रीति को कवि के स्वभाव से निबद्ध किया। गुणों को छोड़कर अन्य किसी तत्त्व को रीतियों की पारस्परिक उच्चावचता का निर्णायक आधार वे नहीं मानते। अतः उन्होंने रीतियों के भौगोलिक नामों का भी तिरस्कार किया और 'सुकुमार मार्ग', 'विचित्र मार्ग', 'मध्यम मार्ग' नाम स्वीकार किये।[31]

आनन्दवर्द्धन, राजशेखर, भोज तथा कुन्तक ने रीति और रस के मध्य कोई संबंध स्थापित नहीं किया। यह महत्त्वपूर्ण कार्य कुन्तक के पश्चात् आनन्दवर्द्धन के अनुयायी आचार्यों—ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ ने पूर्ण किया।[32] मम्मट ने रीति की परंपरागत परिभाषा में थोड़ा-सा संशोधन करते हुए 'रीति' के स्थान पर 'वृत्ति' शब्द व्यवहृत किया। 'वृत्ति' की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि —'वृत्तिर्नियत वर्णगतो रसविषयो व्यापारः'[33] —अर्थात् नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही वृत्ति है। रीति वर्ण-सगुम्फन का नाम है और ये वर्ण नियत होते हैं। वे समास को रीति का मूल

वाहक न मानकर 'वर्णगुम्फ' को ही स्वीकार करते हैं। इस वर्णगुम्फ का गुणों के साथ नियत संबंध है। वस्तुतः गुण, शब्दगुम्फ और रीति दोनों के नियामक होते हैं। उन्हीं के माध्यम से रीति, रस की अभिव्यंजना में सहायता देती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।[34]

विश्वनाथ रीति को पद-संघटना मानते हैं तथा उसे अंग-संस्थानवत् महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार रीति रस भावादि की उपकारिका है—

पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥[35]

आनन्दवर्द्धन ने रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन का उपहास उड़ाया[36], तो विश्वनाथ ने रीति को आत्मा के आकाश से अंकसंस्थान के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया। आनन्दवर्द्धन ने संघटना (रीति) के प्रकारों को समासों के आधार पर विभक्त किया और उसे गुण के आश्रित बताया, मम्मट और विश्वनाथ ने भी प्रकारान्तर से यही स्वीकृत किया।[37]

रीति की उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि भरत से लेकर विश्वनाथ तक रीति के महत्त्व में पर्याप्त अंतर आया है। वामन ने जिसे 'आत्मा' का उच्च पद प्राप्त किया था, वह धीरे-धीरे अंगसंस्थान मात्र बनकर रह गयी। यद्यपि 'रीति' की मूल परिभाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं आया है। वामन की 'विशिष्ट पद रचना का नाम रीति है' यही परिभाषा सर्वमान्य रही है। हाँ, अंतर यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाधायक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में 'सिद्धि' माना, वहाँ आनन्दवर्द्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म स्वीकार किया और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति का 'माध्यम' माना। आरंभ में 'रीति' शब्द काव्य-सौंदर्य के अर्थ में ग्रहण किया गया था किंतु कुछ समय पश्चात् उसका अर्थ-क्षेत्र संकीर्ण हो गया और वह पद-रचना के वैशिष्ट्य तक सीमित रह गया, किंतु अब पुनः रीति के अर्थ में विस्तार हुआ है और वह समस्त काव्यांगों का अथवा काव्यशास्त्र का वाचक बन गया है। यह भी सत्य है कि वामन ने अपने रीति-सिद्धांत को बड़े ही व्यापक एवं युक्ति-युक्त रूप में प्रस्तुत किया था तथापि वामन के परवर्ती आचार्यों में से किसी ने भी रीतिमत का समर्थन नहीं किया और न ही इसे किसी आचार्य ने निर्विवाद रूप में स्वीकार ही किया। आनन्दवर्द्धन के समय में तो रीति सिद्धांत की कटु आलोचना आरंभ हो ही गई थी, मम्मट और विश्वनाथ ने भी जिसे काव्य की आत्मा कहा है, वह रीति से पूर्णतः भिन्न है।[38] सारांश यह है कि वामन सम्मत रीति-सिद्धांत आज अपने उस विशिष्ट अर्थ को खोकर पूर्णतः भिन्न अर्थ-काव्यांग में व्यवहृत हो रहा है।

(ख) रीति के मूल तत्त्व

जिस प्रकार आचार्यों ने 'रीति' की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त की है, उसी प्रकार रीति के मूल तत्त्व के निर्धारण में भी सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। किसी ने 'गुण' को रीति का मूल तत्त्व स्वीकार किया है तो किसी ने समास को। किसी की दृष्टि में 'रस' का स्थान सर्वोपरि है, तो किसी की दृष्टि में 'अलंकार' का। अतः रीति के मूल तत्त्वों के निर्धारण से पूर्व इन आचार्यों के मतों को समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा। दण्डी ने गुणों को रीति का मूल तत्त्व स्वीकार किया है। उनके गुण, शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौंदर्य दोनों के ही प्रतीक है। वामन ने भी रीति को गुणों पर आधृत स्वीकार किया है। उन्होंने शब्द और अर्थ भेद से गुणों के दो वर्ग कर दिए—शब्दगुण और अर्थगुण। उनके शब्दगुण प्रायः सभी वर्ण-योजना, पद-बन्ध या शब्द गुम्फ के ही चमत्कार हैं और अर्थगुणों का आधार अर्थ सौन्दर्य है। वामन के अनुसार केवल शब्द गुम्फ ही नहीं, परम्परा मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्दशक्ति और दोषाभाव भी (वामनीय) रीति के मूल तत्त्व हैं। काव्यशास्त्रीय शब्दावली में यदि कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि वामन के मत से शब्द-गुम्फ रीति के बहिरंग तत्त्व हैं तथा गुण, रस, ध्वनि, अर्थालंकार और दोषाभाव उसके अंतरंग तत्त्व हैं।[39]

वामन के पश्चात् रुद्रट ने 'समास' को रीति का मूल तत्त्व घोषित किया। समास के तीन भेदों लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार ही उन्होंने पांचाली, लाटीया और गौडीय रीतियों का स्वरूप निर्धारत किया था। रुद्रट के समान आनन्दवर्द्धन ने भी 'समास' को रीति का मूल तत्त्व स्वीकार किया। उनके अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण, रीति के मूल आंतरिक तत्त्व हैं और समास उसका बाह्य तत्त्व। राजशेखर ने 'समास' के साथ-साथ 'अनुप्रास' को भी रीति का मूल तत्त्व माना। उन्होंने वस्तुतः तीनों रीतियों के लिए तीन नए आधारों की कल्पना की -योगवृत्ति, उपचार और योगवृत्ति-परंपरा, जो क्रमशः वैदर्भी, पांचाली और गौडीया रीति के विधान के मूल आधार हैं।[40]

दण्डी, वामन, रुद्रट तथा राजशेखर के पश्चात् तथा मम्मट से पूर्व के काल में रीति के मूल तत्त्वों का कोई विशेष उल्लेख नहीं हुआ। उत्तरध्वनि काल के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया। मम्मट वृत्ति या रीति को वर्णव्यापार मानते हैं और फिर वर्ण-संघटना या गुम्फ का गुण के साथ नियत संबंध स्थापित करते हैं। उन्होंने पहले माधुर्य और ओज गुणों के लिए वर्णगुम्फ निश्चित किए, तदुपरांत इन गुणों को ही वृत्तियों का प्राण तत्त्व मान लिया। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुण व्यंजक वर्ण गुम्फ ही रीति के मूल तत्त्व हैं। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट की अपेक्षा रीतियों का व्यापक आधार निर्धारित किया। उन्होंने वर्ण-संयोजन

और गुम्फ दोनों को ही रीति का तत्त्व स्वीकार किया तथा साथ ही समासों को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया।

निष्कर्ष रूप में डॉ. शिवनाथ पाण्डेय के मत को उद्धृत किया जा सकता है– 'पूर्व- ध्वनिकाल के आचार्यगण जहाँ (गमनादि) अलंकार और अलंकार्य में भेद न कर, समस्त शब्द तथा अर्थगत सौंदर्य को 'अलंकार' की संज्ञा प्रदान करते थे तथा शब्द और अर्थ के प्रायः सभी प्रकार के चमत्कारों की रीति-तत्त्व मानते थे, वहाँ उत्तरध्वनि काल के आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य, वस्तु और शैली अथवा प्राण और देह का अंतर स्पष्ट किया और रसध्वनि को काव्य का प्राण तत्त्व एवं रीति को बाह्यांग तत्त्व माना। जिस प्रकार अंग-संस्थान आत्मा का उपचार करता है, उसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है।'[41]

(ग) रीति-प्रवृत्ति, वृत्ति एवं शैली से अंतर

रीति, प्रवृत्ति, वृत्ति एवं शैली ये चारों शब्द परस्पर समानार्थी माने जाते हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी कहीं-कहीं ये शब्द पर्याय के रूप में अथवा एक-दूसरे के स्थानापन्न के रूप प्रयुक्त हुए हैं। किंतु इन सभी शब्दों में तत्त्वतः कुछ न कुछ अंतर अवश्य विद्यमान है। अतः संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धांत–'रीति' को उसके वास्तविक स्वरूप में समझने के लिए इन चारों शब्दों की भिन्नता से अवगत हो जाना अत्यावश्यक है।

रीति और प्रवृत्ति

भरत, राजशेखर, भोज तथा शिंगभूपाल आदि की रचनाओं में उपलब्ध होने वाले 'प्रवृत्ति' के विवेचन से ज्ञात होता है कि प्रवृत्ति का संबंध केवल भाषा से न होकर वेश तथा आचार से भी है,[42] जबकि 'रीति' का संबंध केवल भाषा से है। प्रवृत्ति के मूल तत्त्व प्रायः बाह्य तथा मूर्त्त हैं, जबकि रीति के आंतरिक। प्रवृत्ति का आधार भौगोलिक है और रीति का कविस्वभाव। प्रवृत्ति व्यवहारात्मक है और रीति एकान्त साहित्यिक। इसीलिए प्रवृत्ति का साक्षात् संबंध नाटक से है, जबकि रीति का काव्य से। यह भेद होते हुए भी रीति की कल्पना के पीछे प्रवृत्ति की प्रेरणा निःसंदेह विद्यमान थी।[43] 'प्रवृत्ति' का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, उसमें 'रीति' का अंतर्भाव सहजता से हो जाता है।

रीति और वृत्ति

वामन ने 'रीति' को 'विशिष्ट पद-रचना' कहा है तथा मम्मट ने वृत्ति को–'वृत्तिः नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।' इस दृष्टि से इन दोनों शब्दों में कोई मूल भेद

दिखाई नहीं देता, साथ ही दोनों मूलतः भाषा से ही संबंधित प्रतीत होते हैं। किंतु 'रीति' 'वृत्ति' की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वृत्ति का संबंध यदि 'वर्ण-योजना' से है तो रीति का 'पद योजना' से। वैसे तो काव्यशास्त्र में 'वृत्ति' शब्द के अनेक अर्थ हैं, किंतु यहाँ हमारा अभिप्राय 'वृत्ति' के केवल दो अर्थों से है। पहला नाट्यवृत्तियों से, जो संख्या में चार हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। इन्हें आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त ने अर्थवृत्तियाँ भी कहा है। वृत्ति का दूसरा अर्थ है—काव्यवृत्तियाँ, ये संख्या में तीन हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। विभिन्न आचार्यों ने इन्हें शब्द-वृत्तियाँ भी कहा है। अभिनवगुप्त के पुरुषार्थ साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है—'तस्माद्‌ व्यापारो पुमर्थसाधको वृत्तिः' (ध्वन्यालोक)। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में सर्वत्र होता है। कोई भी वर्णन व्यापार शून्य नहीं होता, अतः वृत्ति को काव्यमाता कहा गया है।[44]

आनन्दवर्द्धन के अनुसार शब्दों में रसानुगुण अर्थ—व्यापार भारती, सात्वती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है। उद्‌भट इन्हें अनुप्रास जाति मानते हैं। उनके मतानुसार ये वृत्तियाँ वर्ण व्यापार मात्र ही हैं, इनमें पद-संघटना का विचार नहीं है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और समासयुक्त पद-संघटना को उसका आधार स्वीकार किया है।[45] आनन्दवर्द्धन ने उसे थोड़ा अधिक व्यापक रूप प्रदान करते हुए शब्द व्यवहार रूप माना है। आगे चलकर मम्मट ने उद्‌भट के अनुसरण पर उसे नियत वर्ण व्यापार मात्र ही स्वीकार किया है। बाद में वृत्ति का अंतर्भाव रीतियों में ही हो गया।[46]

रीति और शैली

'शैली' शब्द अंग्रेज़ी के Style शब्द का पर्यायवाची है, जो लेटिन Stilus शब्द से उत्पन्न हुआ है। 'Stilus' का अर्थ है—'लोह-लेखनी'। इसी से सबंधित साहित्य में 'शैली' के अनेक अर्थ व्यवहृत होने लगे—लिखने का ढंग, रचना-पद्धति, रूप-विधान आदि। वस्तुतः शैली शब्द 'शील' से बना है, जिसका अर्थ है स्वभाव, प्रकृति या चरित्र। शैली से सामान्य अभिप्राय है ऐसा कार्य-ढंग जिससे कर्त्ता के स्वभाव, रुचि, प्रकृति, चरित्र, मनोवृत्ति का पता चले। साहित्य-शास्त्र में शैली का अर्थ है विशेष काव्य-रचना या अभिव्यंजना-पद्धति।[47] रीति और शैली के अंतर को समझने के लिए पाश्चात्य-विचारकों की शैली-संबंधी कुछ परिभाषाओं को देखा जा सकता है—वाल्टर रेले ने शैली में व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है कि लेखनी मानव-प्रकृति में जो कुछ भी उसका अंतरंग है और प्रकाश्य है, उस सबकी प्रतीक है। मानवीय अभिव्यक्ति के अन्य साधन ध्वनि-संकेत, चेष्टाएं आदि बदलते रहते हैं, किंतु लेखनी

(शैली) ही व्यक्तित्व के प्रकाशन का स्थायी साधन है।[48] प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान गेटे ने लेखक की शैली को उसके मस्तिष्क की प्रामाणिक प्रतिलिपि कहा है—'An author's style is a faithful copy of his mind.[49] चेस्टर फील्ड के अनुसार शैली विचारों का परिधान है—Style is the dress of thoughts. मर्री महोदय ने शैली को भाषा का वह विशिष्ट रूप या गुण बताया है जो लेखक के भावों और विचारों को अच्छी तरह संप्रेषित करती है—"Style is a quality of language which communicates precisely emotions or thoughts of the author".[50]

पाश्चात्य विद्वानों के मतों के अनुसार कहा जा सकता है कि शैली वह विशिष्ट अभिव्यंजना-पद्धति है, जिसके माध्यम से लेखक अपने भावों, विचारों आदि को संप्रेषित करता है। भारतीय आचार्यों ने शैली के कुछ सामान्य गुणों की ओर भी संकेत किया है। लेखकों की रचना-शैली में पाए जाने वाले ये गुण इस प्रकार हैं—सरलता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, विषयानुकूलता, भावानुकूलता, प्रसंग-पात्रानुरूपता, प्रवाहात्मकता, नाद-सौंदर्य, स्वाभाविक अलंकृति, संगीतात्मकता, व्याकरणादि की निर्दोषता, मधुरता, सरसता, अर्थगौरव, प्रभविष्णुता, संघटना, शैथिल्य का अभाव, समुचित छंद-विधान, प्रबंधात्मकता, चारु, शब्द-चयन, सुष्ठु वाक्यविन्यास आदि।[51] जब भी कोई लेखक उपर्युक्त वर्णित गुणों में से किसी एक या एकाधिक गुणों को अपनी रुचि के अनुरूप ग्रहण करके, उनमें अपने व्यक्तित्व का छाप अंकित कर देता है, तब ये सामान्य गुण विशिष्ट प्रतिभा का स्पर्श पाकर अपनी अलग पहचान स्थापित कर लेते हैं। यही साधारण का विशिष्टीकरण है। शैली के गुणों के आधार पर ही व्यास, समास आदि शैली के विविध रूपों का भी निर्माण होता है।

'शैली' तथा 'रीति' के भेद को स्पष्ट करते हुए डॉ. सुरेशचन्द त्रिवेदी ने लिखा है कि 'शैली व्यक्तिनिष्ठ अधिक होती है, रीति कम। शैली लेखक के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। यह बहुत कुछ निजी होती है और उसका कोई एक स्थिर व निश्चित रूप नहीं होता। जितने लेखक उतनी शैलियां पायी जा सकती हैं। दण्डी ने संभवतः इसीलिए कहा होगा—अस्त्यनेको गिरां मार्गः। रीति का स्वरूप बहुत कुछ स्थिर है। शैली का संबंध रचनाकार से और रीति का संबद्ध रचना से है। शैली रचनाकार के अंतरंग से और रीति रचना की प्रकृति से घनिष्ठ रूप में संबद्ध है। शैली और रीति का भेदक तत्त्व है 'व्यक्तित्व'।[52] डॉ. त्रिवेदी का यह मत पूर्णतः सही ज्ञात होता है क्योंकि 'रीति' तो विशिष्ट पद-रचना है, जिसमें पद रचना को विशेष महत्त्व प्राप्त है जबकि 'शैली' भाषा का वह विशिष्ट रूप है जो लेखक के भावों को उसी की रुचि के अनुरूप प्रस्तुत करती है।

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रीति, प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली शब्दों में सूक्ष्म अंतर विद्यमान है। अतः एक के स्थान पर किसी दूसरे शब्द का प्रयोग

अनुचित है। 'रीति' के स्थान पर वृत्ति, शैली अथवा प्रवृत्ति का प्रयोग किसी भी परिस्थिति में नहीं करना चाहिए।

(घ) रीति के भेद एवं उनके आधार

जिस प्रकार 'रीति' के स्वरूप निर्धारण में सभी काव्यशास्त्री एकमत नहीं रहे, उसी प्रकार रीति के भेद एवं उनके आधार के संबंध में भी संस्कृताचार्य एकमत नहीं हैं। भामह से जगन्नाथ तक आचार्यों ने रीति भेदों के स्वरूप को मुख्यतः तीन आधारों पर व्याख्यायित किया है। ये मुख्य आधार हैं — गुण, रस तथा मानव स्वभाव। दण्डी तथा वामन ने गुण के आधार पर रीति-भेदों की चर्चा की तो आनन्दवर्द्धन ने रस के आधार पर भेद रीति के भेदों का स्वरूप निर्धारित किया। कुन्तक, जिनका प्रायः बाद में अनुगमन नहीं हुआ, ने मानव-स्वभाव को रीति-भेदों का आधार घोषित किया। इनके अतिरिक्त उद्भट ने वर्ण योजना को आधार बनाया तथा राजशेखर, भोजराज और अग्निपुराणकार ने समास, अनुप्रास आदि को। गुण, रस तथा मानव-स्वभाव के आधार पर रीति-भेदों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

(1) गुण के आधार पर—संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने 'गुण' के स्वरूप के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। किसी ने गुण को रीति के आश्रित माना तो किसी ने रीति को गुण के आश्रित स्वीकार किया। किसी आचार्य ने गुण और अलंकार में अभिन्नता स्वीकार की तो किसी ने दोनों को पृथक्-पृथक् महत्त्व प्रदान किया। संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा के केवल दो आचार्यों—वामन और आनन्दवर्द्धन ने 'गुण' का स्वतंत्र लक्षण प्रस्तुत किया है। वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने यद्यपि 'गुण' का लक्षण तो प्रस्तुत नहीं किया, फिर भी स्थान-स्थान पर 'गुण' के संबंध में उनके विचार प्रकट हो गए हैं। वस्तुतः भामह ने **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** कहकर काव्य को परिभाषित किया है। अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। शब्द में कौन-से गुण होने चाहिए, जिनसे काव्य उत्तम कोटि का बने। इसी दृष्टि से संस्कृताचार्यों ने 'गुण' का स्वरूप निर्धारण किया है।

गुण का स्वरूप : भरत 'गुण' का दोष का विपर्यय मानते हैं। उन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुणों को काव्य की भावगत विशेषताओं के रूप में स्वीकार करते हुए इन्हें सर्वसम्मत् अगूढ़, अर्थान्तर आदि दस दोषों से विपर्यस्त माना है—

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिः नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ताः, गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥[53]

भरत द्वारा प्रस्तुत 'गुण' के इस विवेचन के संबंध में डॉ. सत्यदेव चौधरी का मत है कि 'भरत-सम्मत दोषों और गुणों के लक्षणों की पारस्परिक तुलना करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि ये गुण उक्त दोषों के क्रमशः अथवा अक्रमशः—'विपर्यस्त'

शब्द के निम्नोक्त तीनों रूपों में से किसी भी रूप पर आधृत नहीं है, न 'विपरीत भाव' पर आधृत हैं न 'अन्यथाभाव' पर और न 'अभाव' पर। हमारे विचार में 'एत एव विपर्यस्ता गुणाः' में 'गुणाः' शब्द को श्लेषादि व्यष्टिगत गुणों का वाचक न मानकर सामान्य 'गुण' शब्द का वाचक मान लेना चाहिए। अब भरत- सम्मत धारणा यह होगी कि दोष काव्यशोभा के विघातक है, तो प्राण (उसके विपर्यस्त रूप में स्थित होने के कारण) काव्य-शोभा के विधायक हैं। .... इसके अतिरिक्त भरत ने गुण और अलंकार दोनों को रससंश्रयात्मक प्रयोग निर्दिष्ट करके इनके समान महत्त्व की ओर भी संकेत किया है। अतः भरत के मत में कुल मिलाकर का स्वरूप यह हुआ– (1) गुण काव्य (शब्दार्थ) के शोभावर्द्धक हैं। (2) गुण और अलंकार अलग होते हुए भी समान महत्त्व रखते हैं। (भावी आचार्य उद्भट इसी धारणा से सहमत हैं।) (3) गुण रसानुकूल प्रयोग की अपेक्षा रखते हैं।

निष्कर्षतः भरत सम्मत गुण का स्वरूप हुआ–गुण रसानुकूल प्रयोग के आश्रय से काव्यशोभा के वर्द्धक हैं।[54]

दण्डी ने भरत से ही मिलता-जुलता लक्षण प्रस्तुत किया है–

'दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा।'[55]

अर्थात् दोष यदि काव्य की विपत्ति के लिए होता है तो गुण काव्य की सम्पत्ति के लिए। दोष काव्यविघात। दण्डी गुण को मार्ग के आधार-रूप में ग्रहण करते हैं। 'काव्यशोभाकरान धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' के अंतर्गत उन्होंने गुण को भी समाहित कर दिया। काव्य के शोभाकारक धर्म के अंतर्गत रस, अर्थ, मार्ग, वृत्ति, संधि, वृत्यंग, संध्यग आदि को उन्होंने गतार्थ कर दिया। उन्होंने एक ओर श्लेष, प्रसादादि गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा है–'एते वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः'[56] तो दूसरी ओर स्वभावाख्यान, उपमादि अलंकारों को वैदर्भ और गौड़ दोनों मार्गों के सामान्य अलंकार मानते हुए गुणों का प्रकारांतर से केवल वैदर्भ मार्ग के विशेष अलंकार माना है।[57] वे अलंकारों की स्थिति भी गुण-सापेक्ष मानते हैं। डॉ. सत्यदेव चौधरी के शब्दों में कह सकते हैं कि 'भरत ने गुणों को रस के आश्रित निर्दिष्ट किया था, पर इधर दण्डी ने माधुर्य गुण का लक्षण 'मधुरं रसवत्' प्रस्तुत करके प्रकारांतर से रस को ही गुणों के आश्रित माना है।'[58]

'गुण' का स्वतंत्र रूप से लक्षण प्रस्तुत करने वाले आचार्य वामन हैं। उनके अनुसार काव्य- शोभा के मूल तत्त्व–'गुण' हैं–'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः'[59] । दण्डी ने गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा था, परंतु वामन ने इसे व्यापकता प्रदान करते हुए कहा कि–रीति गुणों की विशेषता के कारण ही रीति कहलाने की अधिकारिणी है, अन्यथा नहीं–विशेषो गुणात्मा।[60] अर्थात् गुण कारण है और रीति कार्य। उन्होंने पद-रचना की दृष्टि से संश्लिष्ट संगठन में ओज, शिथिल संगठन में

प्रसाद आदि गुणों की स्थिति स्वीकार की है। अर्थ की दृष्टि से उनके अनुसार अर्थ की प्रौढ़ता ओज, अनेक विशेषताओं का संगठन श्लेष, विषमता का अभाव समता, अर्थ की विशेषता समाधि, उक्तिवैचित्र्य माधुर्य, परुषता का अभाव सौकुमार्य, ग्राम्यत्व की हीनता उदारता, स्पष्टार्थता, अर्थ-व्यक्ति तथा रस की दीप्ति कांति है।[61]

आनन्दवर्द्धन ने 'गुण' के पूर्ववर्ती विवेचन में पूर्व परिवर्तन उपस्थित करते हुए उसे रसाश्रित स्वीकार किया। उन्होंने गुणों की संख्या भी दस के स्थान पर तीन स्वीकार की–माधुर्य, ओज और प्रसाद। भरत, दण्डी और वामन ने स्पष्ट रूप से अथवा प्रकारांतर से गुणों को काव्य का अर्थात् शब्दार्थ का धर्म माना था। किंतु आनन्दवर्द्धन ने गुण को रस से संबद्ध करके इसे आंतरिक तत्त्व का द्योतक बना दिया। उनके अनुसार गुण का लक्षण इस प्रकार है–

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः'[62]

अर्थात् जो काव्य के अंगीभूत अर्थात् रस का अवलम्बन करते हैं वे गुण कहलाते हैं।

मम्मट और विश्वनाथ ने आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत उक्त विवेचन का आधार ग्रहण कर गुण के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया। इन दोनों आचार्यों ने कुल मिलाकर गुण का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया –'गुण रस का धर्म होने के कारण उसके साथ अचल भाव से रहता है और उसका उत्कर्षक (साधक) है, साथ ही यह गौण रूप से शब्दार्थ का भी धर्म है।'[63]

इस लक्षण का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है–

1. जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि तीन गुण भी रस के धर्म हैं। रस अंगी है और गुण अंग।

2. रसयुक्त रचना में गुण की स्थिति अचल है। रसविहीन रचना में गुण का भी अभाव होगा।

3. गुण रस का सदा उत्कर्ष करते हैं।[64]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भरत और दण्डी ने प्रकारांतर से गुण को शब्दार्थ का धर्म माना तथा वामन ने स्पष्ट रूप से। दण्डी ने उन्हें केवल वैदर्भ मार्ग के लिए अनिवार्य माना था, किंतु वामन ने रीति को काव्य की आत्मा केवल तभी स्वीकार किया जब वह गुणों से विशिष्ट हो। इन तीनों आचार्यों ने गुण को केवल बाह्य आकार तक ही सीमित रखा। किंतु आनन्दवर्द्धन ने गुण के आंतरिक स्वरूप को देखते हुए रस का धर्म माना। आनन्दवर्द्धन के ही मत का अनुसरण आगे मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृताचार्यों ने किया।

गुणों की संख्या

गुणों की संख्या के संबंध में भी आचार्यों में मतभेद हैं। भरत ने गुणों की संख्या दस मानी है, जो इस प्रकार है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थ- व्यक्ति, उदारता और कान्ति। दण्डी ने भी भरत का अनुगमन किया। आचार्य वामन ने भी यद्यपि गुणों की संख्या दस ही मानी है, परंतु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द गुण और अर्थ गुण के रूप में दो-दो भेद कर दिए। भोज ने गुणों की संख्या में वृद्धि करके उनकी संख्या चौबीस कर दी। उन्होंने कुछ नए भेदों की चर्चा भी की, जैसे—उदाहरण, ओजत्व, प्रेयस, सुशब्दता, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, भाविक, गति, रीति, उक्ति, प्रौढ़ि आदि। किंतु धीरे-धीरे परवर्ती आचार्यों ने गुणों की संख्या को अपेक्षाकृत सीमित कर दिया। कुन्तक ने दो अनिवार्य सामान्य गुण-औचित्य और सौभाग्य तथा चार विशिष्ट गुण-माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य माने।[65]

आनन्दवर्द्धन ने चित्त की तीन अवस्थाओं—द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुणों की स्थिति स्वीकार की है। इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रारंभ में गुणों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक मानी गई पर बाद के आचार्यों ने तीन गुणों को ही महत्त्व प्रदान किया। प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दस गुणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्लेष : श्लेष गुण श्लेष अलंकार से पूर्णतः भिन्न है। इसका शब्दार्थ है मेल या जोड़। रचना में वाक्य या पद अथवा छंद या प्रबंध आदि में शैथिल्य-दोष का अभाव ही श्लेष गुण समझना चाहिए।[66] 'दण्डी रचना के सघन संघटन को श्लेष मानते हैं और वामन सघन संघटन को ओज का गुण मानते हैं। श्लेष में उनके अनुसार घटना की विशेषता होती है। घटना की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है 'क्रम अर्थात् अनेक क्रियाओं की परंपरा, कौटिल्य, अनुल्वणत्व या प्रसिद्ध वर्णन शैली और युक्तिविन्यास का योग घटना कहलाता है। श्लेष गुण में अनेक पद एक पद के समान भाषित होते हैं। ऐसे आभायुक्त रचना की विशेषता श्लेष कहलाती है।'[67]

प्रसाद : इसका शब्दार्थ है प्रसन्नता, खिल जाना या विकसित हो जाना। इस गुण के लिए स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता अत्यंत आवश्यक है। जिस पदावली में शब्द सुनते ही उसके अर्थ की प्रतीति हो जाए, वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। प्रसाद गुण के संबंध में भरत और दण्डी के मतों में तो समानता दिखाई देती है, किंतु वामन ने प्रसाद में शैथिल्य की विशेषता मानी है और यह बन्ध गाढ़त्व ओज गुण का विरोधी है, इसका समर्थन किया है।[68]

समता : इसका शब्दार्थ है समान, तुल्य या एक होने का भाव। भरत का मत है कि जहाँ रचना में अधिक असमस्त कठिन तथा व्यर्थ पद न हो वहाँ समता का भाव होता है। आचार्य दण्डी की मान्यता है कि बंधों या रचनाओं की एकरूपता ही समता है। बंध

मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—अल्प्राण अक्षर प्रचुरता वाला मृदु बन्ध, कर्कश वर्णों की अधिकता वाला स्फुट बंध तथा दोनों प्रकार के वर्णों के मिश्रण वाला मध्यम बन्ध। समता गुण में दोनों का सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है। वामन ने इसे अर्थगुण माना है तथा ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रसाद गुण के अंतर्गत इस गुण का समाहार किया है।[69]

माधुर्य : इसका शब्दार्थ है—मधुर होने की विशेषता, मिठास अथवा रोचकता आदि। यह गुण शब्दगत और अर्थगत दोनों ही प्रकार का होता है। शब्दगत माधुर्य से अभिप्राय श्रुत्यनुप्रास आदि से युक्त मधुर पदावली से है और अर्थगत माधुर्य का संबंध सुष्ठु रम्य अर्थों से द्योतक शब्द-प्रयोग से है। भरत उसे श्रुति मधुर, दण्डी रसमयता अथवा रस से सम्पन्नता, वामन दीर्घसमास का निषेध तथा कल्पनापूर्ण उक्ति वैचित्र्य से पूर्ण मानते हैं। रसवादियों ने माधुर्य गुण का संबंध करुण, शृंगारादि कोमल रसों में स्थापित किया है।[70]

सौकुमार्य : इसका शब्दार्थ है कोमलता। इस गुण की स्थिति वहाँ मानी गई है जहाँ रचना के अंतर्गत कर्ण-कटु या परुष वर्णों का परिहार और कोमल वर्णों की योजना होती है। इस गुण की महत्ता कोमलता के साथ सुकुमार भावों की अभिव्यंजना करने में निहित है। दण्डी का मत है—'अनिष्ठुराक्षर प्रायं सुकुमारमिहेष्यते'[71] अर्थात् अपरुष वर्णों की योजना में सुकुमारता होती है। वामन ने भी रचना की अजरणता को सुकुमार माना है। इस प्रकार सौकुमार्य परुषता के ठीक विपरीत है।

अर्थव्यक्ति : इसका शब्दार्थ है—अर्थ-प्रकाशन। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के अनुसार जहाँ पर शब्दों और पदों के द्वारा समग्र अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाए, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण की स्थिति स्वीकार करनी चाहिए। दण्डी की मान्यता है कि जिन पदों के द्वारा अर्थ उछिष्ट अभिप्राय से अन्यत्र न जा सके, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। वे इसे वैदर्भ और गौड़ दोनों मार्गों की विशेषता के रूप प्रस्तुत करते हुए शब्दों के नपे-तुले प्रयोग पर बल देते हैं। वामन के अनुसार शब्द गुण के रूप में अर्थ की स्पष्ट प्रतीति के हेतु स्वल्प तथा अर्थ गुण के रूप में वस्तु और भावों के स्वभाव की स्फुटता अर्थव्यक्ति होती है।[72]

औदार्य : इसका शब्दार्थ है—व्यापकता, उत्कर्ष, असंकीर्णता, प्रभावात्मकता आदि। ऐसी शैली का प्रयोग जिससे उक्ति में अर्थ-गौरव उत्पन्न हो जाए, औदार्य गुण कहलाता है। भरत का मत है कि किसी रचना में अलौकिक चरित्रों का शृंगार तथा अद्भुत रस का उनसे संबद्ध अनेक अवस्थाओं में वर्णन होने पर यह गुण आता है। दण्डी ने काव्यादर्श में उक्ति विशेष को दिखलाने वाले गुण के रूप में औदार्य की परिभाषा दी है। वामन के विचार से रचना का विकटत्व, जिसमें पदावली नाचती सी जान पड़ती है, शब्दगत उदारता और जिसमें ग्राम्यत्व का अभाव हो, वह अर्थगत उदारता है।[73]

ओज : इसका शब्दार्थ है—तेज, प्रताप, दीप्ति आदि। जिस गुण से श्रोता के मन में उत्साह, वीरता, आवेश आदि के भाव जागृत हो जाए, वह ओज गुण है। दण्डी ने समासयुक्त पदों की बहुलता से ओजगुण को निष्पन्न माना है। वामन के मतानुसार रचना का गाढ़त्व अर्थात् अवयवों या अक्षर विन्यास का संश्लिष्टत्व, संयुक्ताक्षरों का संयोग ओजगुण के लिए आवश्यक होता है। ओज गुण के रूप में अर्थ की प्रौढ़ता अर्थात् संयत, संक्षिप्त शब्दों में अधिक भाव या अर्थ की अभिव्यक्ति ओज गुण का लक्षण है। ध्वनि मतवादी आचार्यों ने चित्त के विस्तारक या चित्त के दीप्तिकारक गुण को ओज माना है।[74]

कांति : इसका शब्दार्थ है—आभा, उज्ज्वलता और कमनीयता। भरत ने अपने नाट्य- शास्त्र में कांति के अंतर्गत श्रुति मधुर तथा मन को प्रसन्न करने वाली क्रीड़ा शीलता का वर्णन किया है। दण्डी के अनुसार कांति गुण की स्थिति वहाँ होती है जहाँ लौकिक अर्थों का अतिक्रमण न हो तथा वार्ता एवं वर्णन में स्वाभाविकता हो —

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थनतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥[75]

वामन ने कान्ति को दो रूपों में व्यक्त किया है। उनके अनुसार रचना की उज्ज्वलता या नवीनता होने पर कांति शब्द गुण के रूप में आती है और जिस रचना में शृंगार आदि रस दीप्त होते हैं वहाँ कांति अर्थ गुण के रूप में में आती है। मम्मट तथा अन्य लोगों ने कांति का अंतर्भाव ओज गुण में माना है।[76]

समाधि—इसका शब्दार्थ है—सम्यक् रूप से आधान या उपचार अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में ठीक ढंग से आरोपित करना। दण्डी ने समाधि गुण को काव्य का सर्वस्व कहा है। इस एक गुण को समग्र कवि-समुदाय अपनाता है -

तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोपि तमेनमुपजीवति॥[77]

आचार्य वामन के मतानुसार जहाँ अचानक नहीं, वरन् क्रम के साथ आरोह के बाद अवरोह हो, वहाँ समाधि गुण होता है। वे समाधि को अर्थगुण और शब्दगुण दोनों रूप में स्वीकार करते हैं।[78]

गुण और रीति

गुण रीति के नित्य धर्म हैं। प्रायः सभी संस्कृताचार्यों ने रीति को गुण के आश्रित स्वीकार किया है। वामन ने तो 'विशेषो गुणात्मा' कहते हुए गुणों के महत्त्व को तो स्वीकार किया ही है, साथ ही अन्य आचार्यों ने भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में इसी मत को महत्त्व दिया है। अतः निश्चय ही गुण रीति के आत्म-रूप सूक्ष्म धर्म हैं क्योंकि गुणहीन रीति निष्प्राण ही होती है। सरलता-स्पष्टता और विषय-भावानुकूलता

रीति के दो ऐसे अनिवार्य गुण है, जिनके अभाव में रीति अस्तित्व में नहीं आती। अन्य सभी गुण रीति के कलात्मक विकास में सहायक होते हैं।

गुण के आधार पर रीति के भेद

रीति के भेदों का गुण के आधार पर वर्गीकरण करने वाले प्रमुख आचार्य दण्डी और वामन हैं। यद्यपि भामह ने भी गुण का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया है किंतु उनका दृष्टिकोण 'गुण' के संबंध में भी अधिक है।

भामह, दण्डी और वामन से पूर्व काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में वैदर्भ काव्य को गौडीय काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठ काव्य माना जाता था। भामह ने इस मत का खुलकर खण्डन किया। उनका मत है कि वैदर्भ और गौडीय काव्य में अंतर करके एक को उत्तम और दूसरे को निकृष्ट मानना उचित नहीं है। उनके कथनानुसार—'कुछ विद्वान वैदर्भ को गौडीय से अलग मानकर उसे बड़ा समझते हैं और संदर्भ युक्त भी गौडीय को वैदर्भ के समान नहीं मानते। किंतु यही वैदर्भ ही गौडीय है। वस्तुतः इनमें कोई पार्थक्य नहीं है। गतानुगति के न्याय (लोक परंपरा अथवा भेड़चाल) से निर्बुद्धि जनों की ऐसी बहुत सी बात हुआ करती हैं। सत्य तो यह है कि प्रसन्न (प्रसाद गुण युक्त), ऋजु और कोमल होता हुआ भी यदि वैदर्भ पुष्टार्थता और वक्रोक्ति से शून्य है तो वह केवल कर्णप्रिय गान के समान (श्रेष्ठ काव्य से) भिन्न है। अलंकारयुक्त, ग्राम्यदोषरहित अर्थवान्, न्याय्य (लोकसंगत) और आकुलता (अव्यवस्था) से रहित गौडीय भी श्रेष्ठ है तथा अपने गुणों से रहित वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है।'[79]

भामह के उपर्युक्त वर्णित विवेचन से कुछ निष्कर्ष सामने आते हैं—वैदर्भ और गौडीय मार्ग में से कोई श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं है। अपने-अपने गुणों से युक्त होने पर दोनों ही समान रूप से ग्राह्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं। वैदर्भ काव्य के लिए पुष्टार्थता, वक्रोक्ति, प्रसन्नता (प्रसाद) ऋजुता तथा कोमलता आदि गुण अपेक्षित हैं तथा गौडीय के लिए अलंकारवत्ता, ग्राम्यदोष रहितता, अर्थवत्ता, न्यायवत्ता और आकुल-रहितता आदि गुण अपेक्षित हैं। इस आधार पर कह सकते हैं कि भामह ने दण्डी और वामन के समान दोनों काव्यभेदों में गुणों की स्थिति को स्वीकार किया है, भले इन गुणों के नाम परंपरागत श्लेष, माधुर्य, ओज आदि से भिन्न हैं। साथ ही रीति के दोनों भेदों के लिए पृथक्-पृथक् गुणों के नाम गिनवाकर इस तथ्य को पुष्ट कर दिया है और रीति के दोनों भेदों की अपनी अलग-अलग एक विशिष्ट सत्ता है।

दण्डी के मतानुसार वाणी के मार्ग अर्थात् लेखन प्रकार अनन्त हैं, उनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। उन अनेकों मार्गों में से वैदर्भ और गौडीय ही ऐसे मार्ग हैं, जिनका अंतर विशेष रूप से स्पष्ट है और वह अंतर यह है कि श्लेष, प्रसाद आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के तो प्राण कहे गए हैं पर गौड़ मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय देखा जाता है —

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्ये ते प्रस्फुटान्तरो।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषों विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥[80]

दण्डी की इस धारणा से ज्ञात होता है कि वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य और कान्ति नामक पाँच गुण पाए जाते हैं और गौड़ मार्ग में शैथिल्य, व्युत्पन्न, वैषम्य, दीप्ति तथा अत्युक्ति नामक पाँच गुणों की स्थिति है। इसके साथ ही वैदर्भ और गौड मार्ग में अग्राम्यता, अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि गुण समान रूप में पाए जाते हैं। वैदर्भ मार्ग के शब्दगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का विपर्यय गौड़ मार्ग में वर्णानुप्रास है।

इस विवरण से स्पष्ट है दण्डी गौडीय मार्ग को वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा निम्न कोटि का काव्य मानते हैं, किंतु उसे सर्वथा सदोष और त्याज्य नहीं मानते। किंतु स्थान-स्थान पर दण्डी के ही मतों को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि में वैदर्भ मार्ग श्रेष्ठ है पर गौडीय मार्ग को निकृष्ट भी नहीं कहा जा सकता। इस बात की पुष्टि निम्न उदाहरण से हो जाती है—दण्डी के अनुसार श्लेष गुण का लक्षण है—'अस्पृष्ट शैथिल्यम्' अर्थात् शैथिल्य का अभाव। शैथिल्य कहते हैं—अल्पप्राण अक्षरों के बाहुल्य को।[81] अनुप्रास के इच्छुक गौड़ इस 'शैथिल्य' को चाहते हैं, परबंध गौरव अर्थात् काव्य-गुम्फन के इच्छुक वैदर्भो को शैथिल्य का विपर्यय अर्थात् अभाव 'श्लिष्ट' (श्लेष) गुण अभीष्ट है।[82] उदाहरणार्थ 'मालती की माला भ्रमरों से व्याप्त हैं, इस कथन को गौड़ और वैदर्भ कवि क्रमशः इस प्रकार कहेंगे—

गौड—मालती माला लोलालिकलिला[83] —अर्थात् मालती की माला चंचल भ्रमरों से कलित है।

वैदर्भ—मालतीदाम लंघिटं भ्रमरैः—अर्थात् मालती की माला भ्रमरों से लंघित है। स्पष्ट है कि गौड मार्ग का शैथिल्य-युक्त कथन काव्य से बहिष्कृत, सदोष, त्याज्य अथवा तुच्छ कदापि नहीं कहा जा सकता। दोनों उदाहरणों में लेखन-प्रकार का ही अंतर है।

वामन के मतानुसार गौडीया रीति ओज और कांति गुणों से विशिष्ट होती है तो पांचाली रीति माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से विशिष्ट होती है तथा वैदर्भी रीति तीनों गुणों से। गौडीया में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के अभाव के कारण उसे अत्युल्वणपदा (उद्भटपदा) और समासबहुला माना गया है। पांचाली में ओज और कांति गुणों के अभाव के कारण उसे अनुल्वणपदा (कोमलापदा) और विच्छाया कहा गया है।[84] वैदर्भी सदा असमस्तपदा तो नहीं हो सकती, पर जब वह समासरहित होगी तो उसे शुद्धा वैदर्भी कहा जाएगा —

'साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी'[85]

वामन ने अपने समय में प्रचलित जिन पदों को उद्धृत किया है, उनसे ज्ञात होता है कि वैदर्भी रीति दोष से नितांत अस्पृष्ट, सर्वगुण-गुम्फित और वीणा-स्वर के समान सुंदर रचना है। यह वाणी रूपी मधु रस का स्रोत है। वह सहृदयों के हृदय में अमृत की वृष्टि करती है।[86]

वामन ने वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इस रीति में वर्णित वर्ण्यविषय आनन्ददायक बन जाता है। थोड़ा-सा वर्ण्य विषय भी इस रीति के संपर्क से आस्वादनीय बन जाता है—'तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या'।[87]

रस के आधार पर रीति के भेद

वामन तथा वामन से पूर्व भामह, दण्डी आदि आचार्यों की दृष्टि में वैदर्भी, गौड़ा आदि रीति अथवा काव्य-तत्त्व साध्य थे तथा गुण उनके साधन। किंतु आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायी आचार्यों की दृष्टि पूर्णतः भिन्न थी। उनके अनुसार वैदर्भी आदि काव्य-तत्त्व रसभिव्यक्ति के साधन अथवा रस के उपकारक हैं। 'संघटना' के पर्याय बन जाने से अब इनके स्वरूप के लिए समस्तता अथवा असमस्तता का निर्देश आवश्यक हो गया।[88]

रस के आधार पर रीति-भेदों को निर्धारित करने में रुद्रट की देन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्होंने सर्वप्रथम समस्तपदता को स्पष्ट रूप से स्थान प्रदान करते हुए रीति-प्रकारों को परिभाषित किया था। इनके पश्चात् विश्वनाथ तक प्रायः प्रत्येक आचार्य ने इनके मत का अनुसरण करते हुए समस्तपदता की रीति-भेदों के स्वरूप निर्धारण में विशेष रूप से समाहित किया है।

रुद्रट के कथनानुसार नामों अर्थात् संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण शब्दों की वृत्ति के मुख्यतः दो भेद हैं—समासवती वृत्ति तथा असमासवतीवृत्ति। समासवती वृत्ति की तीन रीतियाँ होती हैं—पांचाली, लाटीय और गौडीया। पांचाली लघु-समासा, लाटीया मध्य-समासा और गौडीया आयत-समासा होती है। 'लघुसमास' का अभिप्राय है—दो, तीन अथवा चार पदों का समास। 'मध्यसमास' का अभिप्राय है—पाँच, छः, सात पदों का समास तथा 'आयत-समास' का अभिप्राय है—सात से अधिक पदों का समास।[89] असमासवती वृत्ति की केवल एक ही रीति है—वैदर्भी। इसमें 'नामों' का समास नहीं होता और अर्थ की विशिष्टता के लिए क्रियापदों का उपसर्गों से जो योग होता है, उसे समास नहीं कहा जा सकता—

आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यते कदाचिदर्थाय।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ॥[90]

यद्यपि वामन ने 'सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी'[91] कहते हुए वैदर्भी में लघुसमासों

की स्थिति को स्वीकार किया था किंतु रुद्रट को यह भी स्वीकृत न था। रुद्रट ने समस्तपदता के आधार पर रीति-भेदों का निरूपण करने के साथ-साथ रसौचित्य के आधार पर रीतियों के चुनाव की चर्चा करके इन्हें केवल बाह्यरूपात्मक तथा भाव-शून्य होने से भी बचा लिया। उनके मतानुसार वैदर्भी और पांचाली रीति का प्रयोग शृंगार, प्रेयस्, करुण, भयानक और अद्भुत रसों में करना चाहिए तथा लाटीया और गौडी रीति का रौद्र रस में। वीर, वीभत्स, हास्य और शांत आदि रसों में रीति का कोई विशिष्ट नियम नहीं होता।[92]

आनन्दवर्द्धन ने संघटना के तीन भेद किए हैं—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। इनके अनुसार संघटना माधुर्यादि तीन गुणों पर आश्रित रहकर रसों को अभिव्यक्ति प्रदान करती है।[93] मम्मट के रीति-भेदों के निरूपण पर उद्भट तथा आनन्दवर्द्धन का प्रभाव लक्षित होता है। इन्होंने उद्भट के अनुकरण पर वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियों को क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों से अभिहित किया है। आनन्दवर्द्धन की धारणा के प्रभावस्वरूप वृत्तियों को रस के उपकारक सिद्ध करने के लिए इन्होंने वृत्ति को 'नियति वर्णागत रसविषयक व्यापार'[94] कहा है तथा प्रथम दो वृत्तियों का संबंध ओज गुणों के अभिव्यंजन वर्णों के साथ स्थापित किया।[95] विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट रीति-भेदों के स्वरूप पर आनन्दवर्द्धन और मम्मट का प्रभाव है। आनन्दवर्द्धन के समान इन्होंने 'रीति' को रसोवर्त्री कहा तथा इनके लक्षणों में समस्तता अथवा असमस्तता की चर्चा की है। मम्मट के समान इन्होंने रीति-भेदों को गुणाभिव्यंजक वर्णयोजना के साथ संबद्ध किया है। विश्वनाथ पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों राजशेखर, भोजराज का भी प्रभाव है। इन्हीं के समान इन्होंने वैदर्भी, गौडी और पांचाली के अतिरिक्त लाटीया की भी चर्चा की है।'[96]

कवि-स्वभाव के आधार पर रीति-भेद

कुन्तक ने कवि-स्वभाव के आधार पर रीति-भेदों के स्वरूप को निर्धारित करके अपनी मौलिक प्रतिभा तथा मनोवैज्ञानिक सत्य के उद्घाटन करने की सामर्थ्य का परिचय दिया है। उनका मत है कि कवि-स्वभाव अनेक हैं। अतः उनके अनुरूप कवि-मार्ग भी संख्यातीत हैं। पर स्थूल रूप में उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[97]—सुकुमार, विचित्र और मध्यम।[98]

कुन्तक ने इस विभाजन का एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है। शक्तिमान व्यक्ति और उसकी शक्ति में मूलतः कोई अंतर नहीं होता। यही कारण है कि सुकुमार स्वभाव वाले कवि की शक्ति भी सहज अर्थात् सुकुमार होती है। उसी शक्ति से वह व्युत्पत्ति भी वैसी ही अर्जित करता है जो सुकुमारता से रमणीय होती है। फिर ऐसी शक्ति और व्युत्पत्ति के कारण वह सुकुमार मार्ग के ही अभ्यास में तत्पर

हो जाता है।[99] कुन्तक ने इसी प्रकार के तर्क विचित्र और मध्यम स्वभाव वाले कवियों के मार्ग के संबंध में भी प्रस्तुत किए हैं।[100]

कुन्तक की इस धारणा पर मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शक्ति तो आंतरिक है, जबकि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास बाह्य। अतः शक्ति को स्वभाव कहना तो ठीक है, किंतु व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वभाव नहीं कहा जा सकता। अतः केवल कवि स्वभाव के आधार पर कवि मार्ग को निश्चित करना कहाँ तक संगत है। कुन्तक ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभावानुसार ही प्रवर्तित होते हैं। अतः स्वभाव में और इन दोनों में उपकारक-उपकार्य-संबंध है। स्वभाव इन दोनों को उत्पन्न करता है और ये दोनों उसे पुष्ट करते हैं। व्युत्पत्ति और अभ्यास आहार्य होते हुए भी कवि-स्वभाव-जन्य हैं। अतः कविस्वभाव को काव्य मार्ग का आधार स्वीकृत करना युक्तिसंगत है।[101] उनके अनुसार माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य गुण काव्य के तीनों मार्गों में विभिन्न रूप में स्थित रहने के कारण विशिष्ट गुण कहलाते हैं तथा औचित्य और सौभाग्य गुण तीनों मार्गों में एक ही रूप से स्थित रहने के कारण सामान्य गुण कहलाते हैं। इनमें से औचित्य गुण वह है—जिसके द्वारा किसी पदार्थ (स्वभाव) का महत्त्व स्पष्ट रूप से पोषित किया जाता है[102] तथा सौभाग्य गुण के लिए कवि-प्रतिभा की विशिष्ट प्रयत्नशीलता अपेक्षित रहती है। यह गुण काव्योचित संपूर्ण सामग्री के व्यापार से संपादन करने योग्य, सहृदयजनों के लिए अलौकिक चमत्कारोत्पादक काव्य का एक जीवन अर्थात् परमतत्त्व है।[103]

सुकुमार मार्ग : इस मार्ग में पदार्थ के स्वभाव को ही प्रधान स्थान दिया जाता है। अतः इसमें कृत्रिमता की सदा उपेक्षा की जाती है।[104] यही कारण है कि कवि को इस मार्ग में अलंकारों के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता।[105] यह मार्ग नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से समुत्पन्न नवीन शब्द और अर्थ से मनोहर होता है।[106] प्रतिभा के द्वारा जो कुछ भी वैचित्र्य उत्पन्न हो सकता है, वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ इसी मार्ग में शोभित होता है।[107]

विचित्र मार्ग : यह मार्ग सुकुमार मार्ग से पूर्णतः भिन्न है। सुकुमार मार्ग अयत्न साध्य है, कृत्रिमता से रहित सहज मार्ग है, पर यह विशेषयत्न-साध्य, नितांत कृत्रिम आहार्य मार्ग है। इस मार्ग में कवि की प्रतिभा के प्रथम विलास ही में शब्द और अर्थ में वक्रता स्फुरित होने लगती है।[108] इस मार्ग में कवि एक अलंकार से संतुष्ट न रहकर अलंकार पर अलंकार जोड़े जाते हैं और रचना अलंकारों की चमक-दमक से उस प्रकार आच्छादित-सी हो जाती है, जिस प्रकार जाज्वल्यमान भूषणों से लदी हुई नारी का शरीर।[109] इस मार्ग की एक अन्य विशेषता है—उक्ति वैचित्र्य। इसके बल पर अन्य कवियों द्वारा अनेक बार पिष्टपोषित विषय भी सौंदर्य की पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं।[110] वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग का जीवन है, जिसके कारण

कथनोक्ति अतिशय रूप से स्फुरित हो उठती है।[111] किंतु कुन्तक का विचित्र मार्ग अलंकारों से लदा हुआ भी चकाचौंध कर देने वाला केवल बाह्य रूप नहीं है, अपितु इससे अलंकार्य प्रकाशित हो जाता है।[112] इस मार्ग में शब्द और अर्थ की वृत्ति से भिन्न किसी विषय (वाक्यार्थ) की प्रतीयमानता (व्यंग्य) की रचना की जा सकती है।[113] यह मार्ग निस्संदेह प्रयत्नसाध्य है। यही कारण है कि कुन्तक ने इस मार्ग को खड्गधारा के समान अति दुष्कर पद्य कहा है।[114]

मध्यम मार्ग : सुकुमार सहज (स्वाभाविक) मार्ग है, विचित्र मार्ग आहार्य (कवि की व्युत्पत्ति आदि जन्य) मार्ग है और मध्यम मार्ग इन दोनों का सम्मिलित रूप है। इस मार्ग में प्रथम दो मार्ग परस्पर स्पर्श करते हुए विद्यमान रहते हैं।[115] जैसे एक सौंदर्यप्रेमी रसिक नागरिक की रंगबिरंगे वस्त्रों में विशेष रुचि होती है, उसी प्रकार सौंदर्य के व्यसनी कवि भी दोनों मार्गों से मिश्रित इस मध्यम मार्ग के प्रति विशेष आदर रखते हैं।[116]

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्यों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुरूप रीति-भेदों के स्वरूप को निर्धारित किया है। दण्डी और वामन ने 'गुण' को महत्त्व प्रदान करते हुए उसी के आधार पर गौडीय तथा वैदर्भी मार्ग की चर्चा की है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ ने रस के आधार पर गौडीय, वैदर्भी, लाटीया तथा पांचाली मार्ग के स्वरूप को व्याख्यायित किया है। कुन्तक ने कवि-स्वभाव को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग के स्वरूप को स्पष्ट किया। इसके साथ ही दण्डी, वामन तथा राजशेखर आदि संस्कृताचार्यों ने रीति के विविध भेदों में से वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता को भी प्रतिपादित किया है।

(ङ) रीति-सिद्धांत का अन्य सिद्धांतों के साथ संबंध

रीति की व्युत्पत्ति, परिभाषा, स्वरूप तथा उसके भेदों पर विचार करने के पश्चात् उसका अन्य काव्य-संप्रदायों के साथ संबंध जान लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि इसी के द्वारा हम वामन की 'रीति' संबंधी धारणा को पूर्णतः स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धांतों के प्रतिपादकों की 'रीति' संबंधी दृष्टि भी इसी माध्यम से स्वयं मुखरित हो जाती है।

रीति और अलंकार

रीति और अलंकार सिद्धांत एक दूसरे के सहयोगी काव्य सिद्धांत हैं। दण्डी 'अलंकार-सिद्धांत' के प्रवर्तक आचार्य हैं तथा वामन 'रीति-सिद्धांत' के। इन दोनों आचार्यों ने क्रमशः अलंकार और रीति अर्थात् काव्य के बहिरंग तत्त्वों की महत्ता को प्रतिपादित किया है। दण्डी ने 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते'[117] कहते

हुए अलंकारों को काव्य की शोभा करने वाले धर्म के रूप में स्थापित किया तो वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य', 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः' तथा 'विशेषो गुणात्मा' आदि काव्य-सूत्रों के द्वारा रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया।[118] रीति और अलंकार के पारस्परिक संबंध को व्याख्यायित करते हुए डॉ. कृष्णदेव झारी ने लिखा है -'श्लेष उपमादि शब्द और अर्थालंकार रीति के उपकारक, उसके आवश्यक तत्त्व हैं। ये रीति के अनिवार्य तत्त्व नहीं, क्योंकि उपमादि अलंकारों की योजना के बिना भी रीति निष्प्रयोजन नहीं होती जबकि केवल प्रसाद गुण (सरलता-स्पष्टता) के अभाव में रीति-निरर्थक हो जाती है। फिर भी अलंकार रीति की कलात्मक पूर्ति के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। अलंकारों से रीति की—और अंततः काव्य की—शोभा-वृद्धि हो जाती है। अलंकार रसानुभूति में सहायक होते हैं, अभिव्यक्ति को प्रभावशाली एवं मार्मिक बनाते हैं। रीति के औचित्यपूर्ण अंग बने ये आत्मतत्त्व (भावरसादि) से एकसूत्रता स्थापित कर लेते हैं।[119] डॉ. सुरेशचन्द्र त्रिवेदी का मत है कि 'रीति और अलंकार के बीच अंतर यह है कि अलंकार की व्यापक परिधि में 'अलंकार-संप्रदाय' के अनुयायी सौंदर्य (वस्तुगत और शैलीगत भी) के समग्र तत्त्वों – गुण, रीति, वृत्ति, संधि, संध्यंग इत्यादि का अंतर्भाव कर लेते हैं तथा अलंकारोत्तर तत्त्वों को गौणत्व प्रदान करते हैं जबकि रीति के प्रस्थापक आचार्य वामन 'अलंकार' की परिधि संकीर्ण कर काव्य के नित्य धर्म गुणों का उसमें अंतर्भाव नहीं करते। वामन के मतानुसार 'अलंकार' काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। अतः अलंकार के अभाव में गुणों की सत्ता या महत्ता आहत नहीं होती। गुण अवश्य अनिवार्य तत्त्व हैं : उनके अभाव में अलंकारों की निस्सारता स्वयं सिद्ध है। गुण रीति की आत्मा और काव्य-सौंदर्य के प्रत्यक्ष उद्भावक हैं। अतः अलंकार की अपेक्षा रीति अधिक व्यापक है और काव्य-तत्त्व (आत्मा) के अधिक निकट भी।'[120]

यद्यपि रीति और अलंकार सिद्धांत का विकास एक साथ हुआ, दोनों एक दूसरे के साथ पर्याप्त दूरी तक साथ-साथ भी चले किंतु आगे चलकर उनका भेदक-बिन्दु सामने आ गया। डॉ. नगेन्द्र ने दोनों संप्रदायों के साम्य-वैषम्य को सारभूत रीति से इस प्रकार विवृत किया है—'(1) दोनों ने शब्दार्थ में काव्य-सौंदर्य की स्थिति स्वीकार की है। (2) दोनों ने काव्य-सौंदर्य के पर्याय के रूप में अलंकार को ग्रहण किया है। वामन भी कहते हैं—'सौन्दर्यमलंकारः'। (यद्यपि वामन का आशय दण्डी से भिन्न है।)[121]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीति-सिद्धांत अलंकार-सिद्धांत की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रीति-संप्रदाय में गुण अथवा 'गुणात्मा रीति' की प्रधानता है और उपमादि अलंकारों की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है। रीति में अलंकार की अपेक्षा व्यक्ति या आत्मतत्व अधिक है।

रीति और रस

विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में रीति के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥[122]

अर्थात् रीति पद संघटना-रूप है। काव्य में वह अंग संस्थानवत् है। रसादि की वह उपकर्त्री है तथा रीति के चार प्रकार होते हैं। स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ 'रीति' को रस का अंग मानते हैं और उसे अंग-संस्थान से अधिक महत्त्व प्रदान नहीं करते। उनकी दृष्टि में रस अंगी है तथा रीति अंगी दोनों में अंगी-अंग संबंध है।

वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति को काव्यात्मा कहकर रस को काव्य के एक अर्थगुण 'कांति' का आधार-मात्र माना है। उनका मत है—'दीप्तरसत्वं कांतिः'[123] — अर्थात् रचना के उस गुण को कांति कहते हैं जिसमें शृंगारादि रस दीप्त हुए हों। वामन के मतानुसार 'रस' अंग और 'रीति' अंगी है और दोनों में क्रमशः अंग-अंगी संबंध है।

दोनों आचार्यों की रीति संबंधी धारणा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों परस्पर प्रतिस्पर्धी आचार्य हैं, इसीलिए इनके सिद्धांतों में भी प्रतियोगिता—सी दिखाई देती है। किंतु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। रीति और रस का संबंध अटूट है। एक शरीर-रूप है तो दूसरा आत्मरूप और जैसे आत्मा के बिना शरीर निष्प्राण है, शरीर के अभाव में आत्मा भी प्रकाशित नहीं हो सकती, वैसे ही रस के अभाव में रीति निष्प्राण हो जाती है तथा रीति के बिना रस अभिव्यक्त ही नहीं हो सकता। रीति रस की उपकर्त्री है। रसानुभूति अथवा रस की अभिव्यक्ति के लिए रीति नितांत आवश्यक है।

रीति की अंग रूप में स्थिति को प्रायः सभी आचार्य स्वीकार कर चुके हैं। डॉ. नगेन्द्र ने भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रीति के अंगत्व को ही व्याख्यायित किया है। उनके मतानुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति रूप रस-दशा के पूर्व की स्थितियाँ अवस्थित रहती हैं।[124] अतः अलंकार की भाँति ये रीतियाँ भी रस-रूप काव्यात्मा का उत्कर्षवर्द्धन करती है।[125] वे रीति के स्वरूप को अधिक वस्तुगत और रस के स्वरूप को अधिक व्यक्तिपरक मानते हैं।[126] इस प्रकार कह सकते हैं कि 'रस' अंगी और 'रीति' उसका अंग है।

रीति और ध्वनि

लावण्यवती के प्रत्यंग में अवस्थित फिर भी तद्विलक्षण, केवल बोधगम्य किंतु अनिर्वचनीय लावण्य की भाँति समस्त काव्यांगों में परिव्याप्त फिर भी तद्भिन्न केवल प्रतीयमान एवं अनिर्वचनीय 'ध्वनि' की प्रसक्ति काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग उभय में अबाधित है जबकि अंग-संस्थान-रूप विशिष्टा पदरचना-मूलक 'रीति' काव्य के बहिरंगमात्र से संबद्ध है, काव्य के अंतरंग में उसकी प्रसक्ति अवरुद्ध है।[127]

वस्तुतः रीति-संप्रदाय देहवादी काव्य-संप्रदाय है, जिसमें 'रीति' काव्य के बहिरंग तत्त्व रूप को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसके विपरीत ध्वनि-सिद्धांत आत्मवादी काव्य-संप्रदाय है, जिसमें ध्वनि-प्रतीयमान अर्थ रूप को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। आनन्दवर्द्धन ने संघटना के गौणत्व को सिद्ध किया है, क्योंकि उनके विचार में संघटना (रीति) गुणाश्रित है और रसादि की व्यंजक होने से साधन-भूत है। वे संघटना को अस्थिर एवं गुणों को स्थिर काव्य-धर्म मानते हैं।[128] आनन्दवर्द्धन और वामन के काव्य-सिद्धांतों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि और रीति-सिद्धांत परस्पर सहयोगी होने की अपेक्षा प्रतिद्वंदी अधिक हैं। इतना ही स्पष्ट है कि रीति-सिद्धांत की प्रतिष्ठा से पूर्व भी 'रीति' शब्द की व्याख्या होती रही थी, अतः रीति सिद्धांत पर ध्वनि का प्रभाव ढूंढना पूर्णतः असंगत है। हाँ इतना अवश्य है कि रीति-विवेचन में ध्वनि के कुछ संकेत अवश्य प्राप्त हो सकते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि वामन कृत वक्रोक्ति के लक्षण में व्यंजना का, शब्द-गुणों में वर्ण-ध्वनि का, अर्थ गुण 'ओज' में अर्थ- प्रौढि के कई रूपों में ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति का, साभिप्राय विश्लेषण में पर्याय-ध्वनि का, अर्थ गुण 'कांति' में असंलक्ष्यक्रम—ध्वनि का संकेत मिल जाता है।[129] वस्तुतः ध्वनि सिद्धांत समन्वयवादी सिद्धांत है। आनन्दवर्द्धन ने रीति के बाह्य-रूप, वर्ण-योजना और समास को वर्ण-ध्वनि और रस-ध्वनि में अंतर्भूत किया है। गुणों का संबंध ध्वनि से प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः वर्तमान है।

इस विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि रीति शरीरवादी तथा ध्वनि आत्मवादी सिद्धांत है। ध्वनि रीति का नियामक अथवा साध्य है, अतः रीति का ध्वनि में समाहार हो जाता है। रीति सिद्धांत की प्रतिष्ठा ध्वनि से पूर्व हुई थी, अतः यह उससे अप्रभावित है। ये दोनों सिद्धांत सहयोगी होने की अपेक्षा प्रतियोगी अधिक है। दोनों सिद्धांतों की संरचना और दृष्टिकोण परस्पर विपरीत है।

रीति और वक्रोक्ति

'रीति' वचन-विन्यास-क्रम रूपा है।[130] वक्रोक्ति 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' है।[131] रीति का साम्राज्य वर्ण से लेकर वाक्य-विन्यास तक परिव्याप्त है, किंतु वक्रोक्ति की माया तो दो पग आगे चलकर प्रकरण एवं प्रबंध-योजना तक फैल जाती है। वक्रोक्ति कवि-प्रतिभाजन्य उक्ति-चारुत्व की पर्याय है। रीति केवल विशिष्ट पद रचना की पर्याय है। दोनों मूलतः अभिव्यक्ति से घनिष्ठ रूपेण संबद्ध है। परंतु रीति जहाँ भाषा-विमर्श से आगे नहीं बढ़ पाती, वक्रोक्ति कवि-प्रतिभा एवं कवि-स्वभाव को भी अपने विमर्श-वितान के नीचे समेट लेती है। वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है।'[132] डॉ. कृष्णदेव झारी रीति और वक्रोक्ति में अटूट संबंध मानते हुए कहते हैं कि 'कुन्तक

की वर्णवक्रता, प्रकरण-वक्रता, प्रबंध-वक्रता आदि रीति के ही तत्त्व दिखाई देते हैं, जैसे वर्ण-वक्रता वर्ण-मैत्री के रूप में रीति का ही निर्माण तत्त्व है, वाक्य-वक्रता अलंकार, शब्द-शक्ति आदि से ही संबंध रखती है और रीति के कला-प्रसाधन या तत्त्व हैं। प्रबंध-वक्रता में प्रबंधगत शैली वैशिष्ट्य, जैसे संघटन, क्रमबद्धता आदि गुण रीति के ही गुण कहे जा सकते हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति और रीति दोनों कवि कर्म-कुशलता की परिचायक हैं, दोनों का प्रयोजन काव्य में सौंदर्य सृष्टि करना एवं रस-भाव का उपकार करना है। दोनों ही अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य से संबंध रखती हैं। इसी कारण अभिनवगुप्त ने कवि-व्यापार के .प में वक्रोक्ति और रीति को पर्यायवाची माना था।'[133]

डॉ. नगेन्द्र रीति और वक्रोक्ति के साम्य-वैषम्य को निरूपित करते हुए लिखते हैं—रीति वक्रोक्ति का एक अंग-मात्र है। रीति कवि मार्ग है, वक्रोक्ति कवि-कर्म। दोनों में काव्य का वस्तु-परक विवेचन है। रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति का प्रसार अधिक है। रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति रस-सिद्धांत के अधिक निकट है। वक्रोक्ति में रीति का अंतर्भाव हो सकता है परंतु रीति में वक्रोक्ति का अंतर्भाव नहीं हो सकता।[134]

रीति और औचित्य

औचित्य को परिभाषित करते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है—'उचितस्य च यो भावः तदोचित्यं प्रचक्षते'—अर्थात् औचित्य उचित के भाव को कहते हैं। औचित्य कोई नियोज्य तत्त्व नहीं है, यह तो सूक्ष्म धर्म या गुण है। औचित्य मूलतः सौंदर्य-दृष्टि है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग में उचित भाव होने से ही सौंदर्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकार काव्य के प्रत्येक तत्त्व में औचित्य ही सौंदर्यानुभूति कराने में सहायक होता है। रीति भी काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है, अतः उसमें भी औचित्य होना आवश्यक है। रीति के प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक गुण में औचित्य की स्थिति विद्यमान रहती है। वामन ने यद्यपि औचित्य या अनौचित्य की स्वतंत्र सत्ता अथवा महत्ता की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चर्चा तो नहीं की है, किंतु उनके गुण-दोष-विवेचन को ही उनका औचित्य विवेचन कहा जा सकता है। उनका समस्त गुण-दोष-विवेचन औचित्य को ही आधार बनाकर फलीभूत हुआ जान पड़ता है। आनन्दवर्द्धन ने रस, वक्तृ, विषय एवं वाच्य विषयक, औचित्य को रीति का नियामक तत्त्व अवश्य घोषित किया है।[135] क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेदोपभेदों में—पद, वाक्य, गुण विषयक औचित्य का समावेश करके उन्हें काव्यांग की कोटि में विन्यस्त कर विवक्षित किया है।[136] इस प्रकार कह सकते हैं कि औचित्य सिद्धांत समस्त काव्यांगों में सर्वोपरि है क्योंकि रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति सभी औचित्य का ही आधार ग्रहण करते हैं। औचित्य सब का अंतर्भाव अपने भीतर कर लेता है। इस दृष्टि से रीति और औचित्य भी परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित सिद्ध होते हैं।

निष्कर्ष

समग्र विवेचन के सार को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—रीति सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन के मतानुसार विशिष्ट पद रचना रीति है—**'विशिष्टा पदरचना रीतिः'**। पद रचना की यह विशेषता गुणों पर आधारित है। इस प्रकार यह विशिष्टा काव्य की शोभा है और इस शोभा के कारक हैं गुण—**'काव्य शोभायाः कर्त्तारा धर्मा गुणाः।'** वामन के अनुसार काव्य के गुण नारी के स्वाभाविक सौंदर्य के समान हैं और अलंकार आभरण के समान। अतः अलंकार काव्य के आगन्तुक धर्म हैं और गुण नित्य। अलंकारों की स्थिति वैकल्पिक होती है और गुणों की अनिवार्य। अतः काव्य से उनका अभिप्राय है गुण तथा अलंकारों से संस्कृत शब्द और अर्थ। वामन का यह अलंकार शब्द उपमादि अलंकारों का वाचक न होकर सौंदर्य आधायक तत्त्वों का द्योतक है। कवि इन अलंकारों को दोषों के परित्याग तथा गुण के ग्रहण से प्रस्तुत कर सकता है। वामन की दृष्टि से इस प्रकार के काव्य की आत्मा रीति होती है—**'रीतिरात्मा काव्यस्य'**।

विभिन्न विद्वानों ने गुण, रस और कवि-स्वभाव के आधार पर रीति के भेदों की चर्चा की है। दण्डी और वामन ने गुण को महत्त्व प्रदान करते हुए, उसी के आधार पर गौडीय और वैदर्भी मार्ग की चर्चा की है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने रस के आधार पर गौडीय, वैदर्भी, लाटीया तथा पांचाली मार्ग के स्वरूप को व्याख्यायित किया है। कुन्तक ने कवि-स्वभाव को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग के स्वरूप को स्पष्ट किया। इसके साथ ही दण्डी, वामन तथा राजशेखर आदि संस्कृत के आचार्यों ने रीति के विविध भेदों में से वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता को ही महत्त्व प्रदान किया।

रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति और शैली शब्द यद्यपि व्यवहार में पर्यायवाची प्रतीत होते हैं और समानार्थी रूप में प्रयुक्त भी किए जाते हैं, किंतु तत्त्वतः वे परस्पर पर्याप्त भिन्न हैं। रीति पद-योग, वृत्ति वर्ण-योग, प्रवृत्ति वेश-भाषा एवं आचार योग तथा शैली कवि के व्यक्तित्व का योग है। रीति-सिद्धांत का अन्य काव्य-सिद्धांतों से परस्पर साम्य-वैषम्य विद्यमान है। प्रायः सभी सिद्धांत एक दूसरे से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए ही हैं। रीति-सिद्धांत मूलतः आत्मवादी सिद्धांत है तथा अन्य सिद्धांत प्रायः शरीरवादी है। अलंकार की तुलना में रीति-संप्रदाय की व्यापकता स्वतः स्पष्ट है। वक्रोक्ति भी मूलतः अभिव्यक्ति पक्ष से संबद्ध होकर 'रीति' का सहयोगी सिद्धांत सिद्ध हो जाता है परंतु उसका क्षेत्र रीति से अधिक व्यापक है। रीति का प्रसार केवल पद योजना तक है, जबकि वक्रोक्ति का प्रसार कवि कर्म एवं उसके अंतर्मन तक भी है। औचित्य तो रीति के प्रत्येक तत्त्व में विद्यमान रहता ही है। यदि रीति के सब अंगों, तत्त्वों में औचित्य है तब तो रीति सफल है, गुणयुक्त, वैशिष्ट्ययुक्त है अन्यथा नहीं।

संदर्भ

1. सिद्धांतकौमुदी, भट्टोजि दीक्षित, पृ. 416
2. वही, पृ. 402
3. A Sanskrit-English Dictionary, Monier Willians, P. 881
4. संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, द्वारिकाप्रसाद शर्मा, पृ. 945
5. The student's Sanskrit- English Dictionary, V.S. Apte,
6. बृहत् हिन्दीकोश, कालिका प्रसाद, पृ. 1134
7. नालन्दा विशाल शब्दसागर, नवलजी, पृ. 1181
8. हिन्दी शब्दसागर, रामचन्द्र वर्मा, पृ. 849
9. (क) 'महावरीतिः शवसासरत् पृथक्'—ऋग्वेद, 1/28/14
   (ख) 'वातेवाजुयनिद्येवरीतिः'—वही, 2/39/5
10. सिद्धांतकौमुदी, भट्टोजिदीक्षित, पृ. 416, 402
11. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित ' काव्यशास्त्र' में संकलित डॉ. पारसनाथ द्विवेदी का 'रीति और आचार्य-परंपरा' लेख, पृ. 123
12. वही, पृ. 123
13. हिन्दी काव्यमीमांसा, डॉ. गंगासागर राय, पृ. 2
14. भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, पृ. 134
15. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. जितराम पाठक, पृ. 133
16. भारतीय काव्यशास्त्र, डॉ. योगेन्द्रप्रताप सिंह, पृ. 150
17. The Harsh Charitra, P.V. Kane, P. 1
18. वही, पृ. 152
19. का. अ., 1/33
20. हिन्दी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 597
21. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'काव्यशास्त्र' में संकलित डॉ. पारसनाथ द्विवेदी का 'रीति और आचार्य परंपरा' लेख, पृ. 127
22. काव्यादर्श, 1/54
23. औचित्यसिद्धांत और हिन्दी का रीतिकाव्य, डॉ. सुरेशचन्द्र त्रिवेदी, पृ. 80
24. हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा, डॉ. शिवनाथ पाण्डेय, पृ. 42
25. 'विशिष्टा पदरचना रीतिः', काव्यालंकारसूत्र 1/2/7
26. 'विशेषो गुणात्मा', वही, 1/2/8
    'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः',—वही, 3/1/1
    'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या सु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते'—काव्यलंकारसूत्रवृत्ति, 1/1/1
    'रीतिरात्मा काव्यस्य'—काव्यलंकारसूत्र 1/2/6
27. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. जितराम पाठक, पृ. 136
28. 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
    रसान + + + + ॥—ध्वन्यालोक, 3/6

29. हिन्दी काव्यमीमांसा, डॉ. गंगासागर राय, पृ. 25
30. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ. 155
31. औचित्यसिद्धांत और हिन्दी रीतिकाव्य, डॉ. सुरेशचन्द्र त्रिवेदी, पृ. 82
32. हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 604
33. हिन्दी काव्यप्रकाश, डॉ. सत्यव्रत सिंह, पृ. 309
34. हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा, डॉ. शिवनाथ पाण्डेय, पृ. 44
35. साहित्यदर्पण, 9/1
36. अस्फुटस्फटितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्त्तिताः॥—ध्वन्यालोक, 3/47
37. हिन्दी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 604
38. यत्तु वामनेनोक्तं—रीतिरात्मा काव्यस्य इति, तन्न, रीतेः संघटनाविशेषत्वात्।
संघटनायाश्चावयवसंस्थान-रूपत्वात् आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्।।—साहित्यदर्पण, 1, 2 (वृत्ति)
39. हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा, डॉ. शिवनाथ पाण्डेय, पृ. 45
40. हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा, डॉ. शिवनाथ पाण्डेय, पृ. 45
41. वही, पृ. 46
42. 'पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः'—नाट्यशास्त्र
43. हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा, डॉ. शिवनाथ पाण्डेय, पृ. 47
44. 'सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः'—नाट्यशास्त्र
45. 'नाम्ना वृत्तिर्द्विधा भवति समासासमासभेदेन,—का. अ. 213
46. हिन्दी काव्यशास्त्र की परंपरा, डॉ. शिवनाथ पाण्डेय, पृ. 47
47. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 79
48. The pen, ... has become the symbal of all that is expressive, all that is intimate in human nature, ... other gestures shift and change and flit, this is the ultimate and enduring revelation of personality".
49. वही, पृ. 80
50. वही, पृ. 81
51. वही, पृ. 81
52. औचित्यसिद्धांत और हिन्दी का रीति-काव्य, डॉ. सुरेशचन्द्र त्रिवेदी, पृ. 85
53. नाट्यशास्त्र, 17/95
54. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 537-538
55. काव्यादर्श, 3/124
56. वही, 1/42
57. वही, 2/3
58. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 539
59. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 3/11
60. वही, 11/8
61. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. जितराम पाठक, पृ. 39

62. ध्वन्यालोक आनन्दवर्द्धन/6
63. 'ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।—काव्यप्रकाश, 8/66
64. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 539
65. काव्यांग-विवेचन, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 92
66. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 76
67. काव्यांग-विवेचन, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 94
68. वही, पृ. 94
69. वही, पृ. 95
70. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 77
71. काव्यांग-विवेचन, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 95
72. वही, पृ. 95-96
73. वही, पृ. 96
74. वही, पृ. 93
75. काव्यादर्श, 1/85
76. काव्यांग-विवेचन, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 96
77. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 78
78. काव्यांग-विवेचन, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 97
79. काव्यालंकार (भामह), 1/31, 32, 34, 35
80. काव्यादर्श, 1/40, 42
81. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्—काव्यादर्श, 1/43
82. काव्यादर्श, 1/43
83. वही, पृ. 1/44
84. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/2/11-13
85. वही, 1/2/19
86. (क) 'अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।।
(ख) 'सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवतिवाङ्मधु।।
(ग) 'आनन्दत्यथ च कर्णपथं प्रयाता
चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा।
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—1/2/11, 21
87. काव्यालंकारसूत्र, 1/2/20
88. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 610
89. काव्यालंकार (रुद्रट), 2/3-5
90. वही, 2/6
91. काव्यालंकारसूत्र, 1/2/19

92. (क) 'इति वैदर्भी रीतिः पान्चाली वा विचार्य रचनीया।
मधुराललिते कविना कार्य वृत्ती तु शृंगारे।—काव्यालंकार (रुद्रट) 14/37
(ख) 'वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकद्‌भुतयौः।
लाटीयागौडीये रौद्रै कुर्याद् यथौचित्यम्।।—वही 15-20
(ग) 'शेषरसेषु न रीतिनियमः'—वही, वृत्ति
93. ध्वन्यालोक, 3/5,6
94. काव्यप्रकाश 9 म उ., पृ. 495
95. वही, 9/80
96. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 613
97. यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं, तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते—वक्रोक्तिजीवित—1/24 वृत्ति, पृ. 102
98. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।—वक्रोक्तिजीवित 1/24
99. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्‌भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात्। तथा च तथारुविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाध्नाति। ताभ्याञ्च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते।
—वक्रोक्तिजीवित 1/24 (वृत्ति), पृ. 101
100. वही, पृ. 101-102
101. ननुच शक्त्योरान्तरतम्यात स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते, व्युत्पत्त्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटते। नेष दोषः। यस्माद् ××× स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तेते। ××× स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेन अवस्थानात्, स्वभावस्तावदारभते, तौ च तत्परिपोषमातनुतः।- वक्रोक्तिजीवित—1/24 (वृत्ति), पृ. 103
102. वही, 1/53
103. वही, 1/55, 56
104. भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः—वक्रोक्तिजीवित, पृ. 109
105. अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः—वही, पृ. 108
106. अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः—वही, पृ. 107
107. वही, 1/28
108. (क) वक्रोक्तिजीवित—1/34, 35, 36, 38, 42, 37, 40, 43, 49, 51, 52
(ख) हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 616-617
109. वही, पृ. 618—620
110. वही, पृ. 18—630
111. वही, पृ. 18—637
112. वही, पृ. 18—638
113. वही, पृ. 18—639
114. वही, पृ. 18—640
115. (क) वक्रोक्तिजीवित—1/34, 35, 36, 38, 42, 37, 40, 43, 49, 51, 52
(ख) हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 616-617

116. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 616–619
117. हिन्दी काव्यादर्श, श्रीरामचन्द्र मिश्र, पृ. 74
118. हिन्दी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 19-20
119. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 85
120. औचित्यसिद्धांत और हिन्दी का रीति-काव्य, डॉ. सुरेशचन्द्र त्रिवेदी, पृ. 88
121. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (भूमिका), डॉ. नगेन्द्र, पृ. 179-180
122. साहित्यदर्पण, डॉ. सत्यव्रत सिंह, पृ. 658
123. काव्यालंकारसूत्र, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 157
124. काव्यालंकारसूत्र (भूमिका), डॉ. नगेन्द्र, पृ. 185
125. वही, पृ. 188
126. वही, पृ. 189
127. औचित्यसिद्धांत और हिन्दी का रीति काव्य, डॉ. सुरेशचन्द्र त्रिवेदी, पृ. 87
128. ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), डॉ. रामसागर त्रिपाठी, पृ. 720
129. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (भूमिका), डॉ. नगेन्द्र, पृ. 184
130. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित (मूल भाग), डॉ. नगेन्द्र, पृ. 51
131. हिन्दी काव्यमीमांसा, डॉ. गंगासागर राय, पृ. 25
132. औचित्यसिद्धांत और हिन्दी का रीतिकाव्य, डॉ. सुरेशचन्द्र त्रिवेदी, पृ. 89
133. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 86
134. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (भूमिका), डॉ. नगेन्द्र, पृ. 183
135. ध्वन्यालोक (उत्तरार्द्ध), डॉ. रामसागर त्रिपाठी, पृ. 741
136. औचित्यविचारविमर्श, क्षेमेन्द्र, पृ. 116

द्वितीय अध्याय

हिन्दी रीति-काव्य की संस्कृत काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि

संस्कृत काव्यशास्त्र की एक समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण परंपरा थी, जिसके आधार पर रीतिकालीन लक्षणबद्ध काव्यों की रचना की गई। यद्यपि रीति काव्यों की विषय-वस्तु और प्रतिपादन शैली दोनों संस्कृत काव्य-शास्त्र की ऋणी हैं तथापि हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों एवं संस्कृत के आचार्यों के उद्देश्य पूर्णतः भिन्न थे। संस्कृत के आचार्यों ने लक्ष्य ग्रंथों को आधार बनाकर स्वयं लक्षण-ग्रंथों का निर्माण किया था। यह ठीक है कि किसी एक आचार्य ने काव्य के किसी एक तत्त्व को प्रधानता दी है तो दूसरे आचार्य ने किसी अन्य को। किंतु इसके पीछे उनका आशय लक्ष्य-ग्रंथों में से इन्हें बहिष्कृत करना नहीं था वरन् वे इन सबका स्वसम्मत काव्यांगों में ही अंतर्भाव करना चाहते थे। इसी कारण संस्कृत के विविध काव्यशास्त्रीय सिद्धांत खण्डित-मण्डित होते हुए आचार्य जगन्नाथ के समय (17वीं शताब्दी) तक प्रौढ़ता के साथ स्थापित हो गए। इसके विपरीत हिंदी के आचार्यों ने लक्ष्य ग्रंथों को आधार बनाकर स्वतंत्र एवं मौलिक सिद्धांतों प्रस्तुत नहीं किए। संभवतः इसीलिए हिंदी के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में गंभीरता एवं प्रौढ़ता का अभाव दृष्टिगत होता है। रीतिकाल के आरंभिक आचार्य चिंतामणि ने जिन सिद्धांत को प्रतिपादित किया था, वे दो सौ वर्ष उपरांत प्रतापसाहि के समय तक परिवर्तित तो नहीं हुए और न ही उनमें कुछ क्रमिक विकास ही हुआ।[1] वस्तुतः रीतिकालीन आचार्य एक समय में दो कर्त्तव्य कर्मों का निर्वाह एक साथ कर रहे थे—कवि तथा शिक्षक। कवि होने के नाते इन्होंने शृंगारिक एवं स्तुतिपरक रचनाओं का प्रणयन किया तथा शिक्षक होने के नाते काव्य के विविधांगों का परंपरागत शास्त्रीय विवेचन करने का सचेष्ट प्रयास किया। इस प्रकार रीतिकाल के सिद्धांत निरूपक ग्रंथ दोहरे लक्ष्य को दृष्टि में रखकर रचे गए थे। पर संस्कृत के आचार्यों के समक्ष दरबारी एवं सामंतिक वातावरण के बंधन नहीं थे, उन्होंने विनिर्मुक्त भाव से काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण किया था।

संस्कृत काव्यशास्त्र का आरंभ कब से हुआ, यह प्रश्न तो अत्यंत कठिन है, परंतु विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों के आधार पर यह मानना संगत प्रतीत

होता है कि भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' काव्य शास्त्र पर उपलब्ध प्रथम ग्रंथ है।[2] यद्यपि इस ग्रंथ के सर्जन के पीछे मूल उद्देश्य नाट्य शास्त्र के सिद्धांतों को प्रस्तुत करना था परंतु उनकी मान्यताओं में काव्यशास्त्र से संबंधित विभिन्न बीज-विचार अपने मूल रूप में दिखाई देते हैं। उन्होंने इसके अंतर्गत रस का विस्तृत विवेचन किया, काव्य-दोषों की ओर संकेत किया तथा उपमा, रूपक, दीपक और यमक अलंकारों का वर्णन किया। भरत मुनि के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र की एक सुदीर्घ एवं समृद्ध परंपरा विकसित होती चली गई, जिसमें विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यता एवं विचारधारा के अनुकूल अनेक संप्रदायों को प्रचलित किया। काव्य का स्वरूप, हेतु, प्रयोजन तथा गुण-दोषों का सम्यक् निरूपण करने के साथ-साथ इन्होंने रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति एवं औचित्य सिद्धांतों का भी सांगोपांग विवेचन किया है। इस अध्याय में संस्कृत की इसी काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए रीतिकाव्य का विवेचन किया जा रहा है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य का लक्षण और स्वरूप

सृष्टि की सौंदर्यमयी वस्तुएँ मानव मस्तिष्क को आकर्षित ही नहीं करती वरन् उसे सुंदर एवं उदात्त भावों से परिपूर्ण भी कर देती हैं। आनंदातिरेक के क्षणों में मनुष्य जब इन्हीं भावों को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, तब काव्य की रचना होती है। अतः काव्य मुख्यतः अनुभूति का विषय है। उसके स्वरूप को निश्चित कर लक्षणों की सीमा में बांधना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। संस्कृत के आचार्य समय-समय पर इस दिशा में प्रयास करते रहे हैं। वास्तव में शुद्ध लक्षण वही है जो दुरूहता, अस्पष्टता, अव्याप्त तथा अतिव्याप्ति दोषों से दूर रहते हुए वर्ण्य वस्तु के आंतरिक एवं बाह्य स्वरूप को स्पष्ट कर सके। भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य का सूत्रबद्ध लक्षण तो उपलब्ध नहीं होता किंतु एक श्लोक अवश्य मिलता है, जिसमें नाटक की विशेषताओं का उल्लेख है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनम्
बुधजनसुखबोध्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुकृतरसमार्गम् सन्धिसन्धानयुक्तम्
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।[3]

भरत ने इस श्लोक में नाटक के विषय में कहा है कि दुरुह शब्दार्थ से रहित, मृदु और ललित पदावली से युक्त विभिन्न प्रकार के नृत्यों की योजना से संयुक्त विविध रसों एवं संधियों वाला प्रेषक के लिए सुखद और सुबोध काव्य नाटक होता है। यह श्लोक संक्षिप्त लक्षण न होकर नाटक के माध्यम से काव्य की विशेषताओं का वर्णन मात्र करता है। काव्य के भेदोपभेदों का ज्ञान इसके माध्यम से नहीं होता। इस

प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त है।

काव्य के विषय में भामह का स्पष्ट मत है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**[4] यद्यपि भामह द्वारा प्रस्तुत यह लक्षण अत्यंत संक्षिप्त है तथा इसमें किसी पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग नहीं किया गया है तथापि इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इन्होंने शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य कहा है जबकि भाव संप्रेषण के लिए वाणी के प्रत्येक व्यापार में शब्द और अर्थ का सहभाव होना चाहिए। अपने प्रस्तुत रूप में यह परिभाषा संपूर्ण वाङ्मय पर चरितार्थ होती है। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है।

रीतिप्रवर्तक आचार्य वामन ने स्वतंत्र रूप से काव्य लक्षण तो नहीं दिया, किंतु काव्यालंकार सूत्र में कुछ निर्देश अवश्य मिलते हैं। जैसे—**'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'**। **'सौंदर्यमलंकारः'**।[5] भावी लक्षणों के निर्धारण में वामन की देन महत्त्वपूर्ण है। आचार्य कुन्तक ने कवि के कल्पनापूर्ण कौशल से युक्त सहृदयों को आनंद देने वाली चमत्कारपूर्ण सुंदर वक्रोक्ति को काव्य कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[6]

कुन्तक के पश्चात् काव्य लक्षणकार हैं—मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ। मम्मट ने काव्यलक्षण के संबंध में कहा है—

तददोषौदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।[7]

अर्थात् काव्य दोष रहित, गुण युक्त और कभी-कभी अलंकार से रहित शब्दार्थ है। मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते हुए विभिन्न तत्त्वों पर अपनी दृष्टि केंद्रित रखी है। उन्होंने कभी-कभी अलंकार रहित कहकर काव्य में अलंकारों की स्थिति सूचित की, 'अदौषौ' शब्द के द्वारा काव्य में दोष-विहीनता की बात की तथा गुण शब्द द्वारा काव्य की विशेषता सूचित की। किंतु आचार्य विश्वनाथ ने इस लक्षण के तीनों विशेषणों (अनलंकृति, अदोषौ और सगुणौ) की आलोचना करते हुए एक पृथक् काव्य लक्षण प्रस्तुत किया —

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्[8]

यहाँ रसात्मकता में काव्य के गुण, अलंकार आदि अनेक तत्त्व समाहित हो जाते हैं। मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में काव्य के बाह्यलक्षणों को ही विवेचित किया था जबकि विश्वनाथ ने काव्य के आंतरिक तत्त्व रसात्मकता को उभारा है। तत्कालीन आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी रचना 'रस गंगाधर' में विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत इस लक्षण पर अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं। विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त रस जैसे पारिभाषिक शब्द को जगन्नाथ ने 'रमणीयता' कहा है। उनका काव्य लक्षण है—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।[9] अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द

काव्य है। आगे रमणीयता का अर्थ स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—'लोकोतराह्लादजनक ज्ञानगोचरता' अर्थात् जिसके बार-बार अनुसंधान से अलौकिक आनंद मिले उसे रमणीय अर्थ कहते हैं। जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा के संदर्भ में शब्द, अर्थ और रमणीयता जैसे तत्त्वों पर बल दिया। इस प्रकार कहा जा सकता है जगन्नाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति सैद्धांतिक भूलें न करके एक स्वच्छ एवं ग्राह्य काव्य लक्षण प्रस्तुत किया है।

रीति आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य का लक्षण और स्वरूप

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों में सर्वप्रथम काव्य लक्षण प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य चिंतामणि को दिया जाता है। उनके द्वारा प्रस्तुत काव्य का लक्षण इस प्रकार है—

सगुनालंकार सहित दोष रहित जो होई।
शब्द अर्थ ताको कवित्व कहत विबुध सह होई।[10]

अर्थात् काव्य उस शब्दार्थ का नाम है, जो गुण और अलंकार से युक्त हो और दोष रहित हो। इस लक्षण में भी वही दोष दृष्टिगोचर होते है जो मम्मट के काव्य-लक्षण में वर्णित किए गए हैं। अंतर इतना है कि मम्मट के समान इन्होंने काव्य में कभी-कभी अलंकार की स्थिति को स्वीकार न करके अलंकार की अनिवार्यता पर बल दिया है। आचार्य कुलपति ने अपनी रचना 'रस रहस्य' में काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने के साथ संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों-मम्मट और विश्वनाथ द्वारा सम्मत लक्षणों का खण्डन भी किया है। मम्मट के लक्षण में उन्हें अदोषौ शब्द संगत प्रतीत नहीं हुआ तथा विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत लक्षण पर उन्होंने आक्षेप किया कि इस लक्षण से यह ज्ञात नहीं होता कि केवल अंगभूत रस को ही काव्य की आत्मा मानना अभीष्ट है, अथवा अंगीभूत रस को भी।[11] कुलपति के शब्दों को काव्य-लक्षण इस प्रकार है —

जग ते अद्भुतसुख सदन शब्द रु अर्थ कवित्त।
ये लच्छन मै नकियो समुझि ग्रंथ बहुचित्त॥[12]

अर्थात् काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं जो लोकोत्तर चमत्कार से युक्त हो। इसी प्रकार सूरति मिश्र तथा श्रीपति ने भी काव्य-लक्षण अभिव्यक्त किए हैं। सूरति मिश्र ने कवि के उस निपुण कर्म को काव्य की संज्ञा दी है, जो मनोरंजक हो और अलौकिक रीति से युक्त हो—

बरनन मन रंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कवि कर्म कौ जुतिहि काव्य कहत सब कोइ॥[13]

इस लक्षण में 'रीति' शब्द प्रयुक्त करने के पीछे उनका उद्देश्य उसे काव्य की आत्मा के रूप में घोषित करना नहीं था। सुरति मिश्र 'मन रंजन' और 'रीति' शब्दों

का प्रयोग करके काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष—दोनों को समान महत्त्व दिया है। श्रीपति ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते समय संस्कृत के आचार्य मम्मट का अनुकरण किया है—

शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बरवानिये श्रीपति परम सुजान॥[14]

परंतु मम्मट से उनकी विशिष्टता यह है कि इन्होंने अलंकार तथा रस को काव्य के अनिवार्य तत्त्वों के रूप में ग्रहण किया है। इसी प्रकार सोमनाथ भी अलंकार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि काव्य उस कवि कर्म को कहते हैं, जिसमें छंदोबद्ध शब्दार्थ गुण तथा अलंकार सहित और दोषरहित रूप में प्रयुक्त किए गए हों—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध॥[15]

भिखारीदास ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'काव्य निर्णय' में स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण तो व्यक्त नहीं किया है परंतु काव्य-पुरुष-रूपक से उनकी काव्य स्वरूप विषयक का बोध हो जाता है -

रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप और संग, दूषन करै कुरूपता॥[16]

अर्थात् रस कविता का अंग है। अलंकार आभूषणों के समान हैं, गुण उसका सुन्दर रूप और वर्ण है और दोष उसे कुरूप बना देते हैं। प्रतापसाहि ने अपने ग्रंथ काव्यविलास में स्वसम्मत लक्षण व्यक्त नहीं किया। उन्होंने काव्यप्रकाश, काव्यप्रदीप, साहित्यदर्पण और रसगंगाधर ग्रंथों के साथ चार काव्यलक्षणों को संबद्ध तो अवश्य किया है, परंतु उनका विवेचन नहीं किया।[17] इन काव्यलक्षणों को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा ज़ा सकता है कि चिंतामणि और सोमनाथ के समक्ष मम्मट के काव्य लक्षण का आदर्श था, किंतु इन्होंने अलंकार की वैकल्पिक स्थिति को स्वीकार न करके उसकी अनिवार्यता को महत्त्व दिया था। आचार्य कुलपति ने मम्मट और विश्वनाथ के काव्य लक्षणों का खण्डन करके तर्कसम्मत स्वतंत्र काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है तथा प्रतापसाहि द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षणों के स्रोत नितांत भ्रामक है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य हेतु का स्वरूप

काव्य-सर्जन की प्रक्रिया में प्रेरणा, हेतु और प्रयोजन ये तीन सोपान हैं। इनमें पूर्वापर संबंध होता है। सबसे पहला स्थान काव्यप्रेरणा का है। मध्यवर्ती स्थान काव्य हेतु का है और अंतिम परिणाम काव्य प्रयोजन है। इस प्रकार काव्य हेतु, प्रेरणा और

प्रयोजन का मध्यस्थ, साधन या उपकरण है। संस्कृत के अनेक आचार्यों ने काव्य हेतुओं का निरूपण किया है, जिसमें भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दण्डी से पूर्व भामह ने काव्य हेतु के रूप में केवल 'प्रतिभा' का ही उल्लेख किया है। दण्डी ने नैसर्गिक प्रतिभा, निर्भ्रांत निर्मल ज्ञान और उसका अत्यंत उपयोग इन तीनों को काव्य हेतु माना है–

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥[18]

अग्निपुराणकार ने शक्ति को अत्यंत दुर्लभ माना है तथा उससे आगे व्युत्पत्ति को और विवेक को और भी दुर्लभ माना है -

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभाः ॥[19]

आचार्य वामन ने हेतु को काव्यांग कहते हुए उसे तीन रूपों में प्रस्तुत किया है–

लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्यांगानि।[20]

रुद्रट और कुन्तक ने तीन काव्य हेतुओं की गणना की है–शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। आचार्य मम्मट के समय में उक्त सभी मत विद्यमान थे। उन्होंने इन सभी का सार तत्त्व ग्रहण करते हुए कहा हैं–

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्रावेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥[21]

अर्थात् काव्य के उद्भव के लिए शक्ति, लोक, काव्य, शास्त्र इत्यादि के निरीक्षण से प्राप्त निपुणता तथा कवि-शिक्षा आदि के द्वारा अभ्यास आवश्यक है। मम्मट के अनुसार शक्ति, निपुणता और अभ्यास में से शक्ति जो जन्मसिद्ध है और निपुणता तथा अभ्यास अर्जित हेतु हैं। काव्य हेतुओं पर विचार करने के साथ प्रतिभा के स्वरूप पर भी संस्कृत आचार्यों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस संदर्भ में रुद्रट, भट्टतौत, जगन्नाथ, वाग्भट, राजशेखर आदि आचार्यों के मत उल्लेखनीय हैं।

रुद्रट : जिसके बल पर कवि विभिन्न-काव्य विषयों को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त कर देता है, उसे शक्ति कहते हैं।[22]

भट्टतौत : निरंतर नवीन प्रकार का सर्जन करने की शक्ति को प्रतिभा कहते हैं–

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'[23]

जगन्नाथ : जिस शक्ति द्वारा काव्य के अनुकूल शब्द और अर्थ कवि मानस में जल्दी-जल्दी आते हैं, वह प्रतिभा है–

'सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।'[24]

वाग्भट : इन्होंने नवीनता और उसकी ललित पदों में अभिव्यक्ति को समान महत्त्व देकर प्रतिभा का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया—

प्रसन्नपद-नव्यार्थ-युक्त्युद्‌बोधविधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥[25]

राजशेखर : इन्होंने काव्य-मीमांसा में प्रतिभा विवेचन और भी व्यापक दृष्टि से किया है। कवि और पाठक के आधार पर इन्होंने प्रतिभा के दो रूप माने। कवि को काव्यसर्जन में प्रेरित करने वाली शक्ति कारयित्री प्रतिभा है तथा पाठक को रचना का रसास्वादन कराने वाली भावयित्री प्रतिभा है।

प्रतिभा की अनिवार्यता के संबंध में भी भिन्न-भिन्न मत दिखाई देते हैं। दण्डी के अनुसार प्रतिभा काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हेतु है पर इसके अभाव में भी यत्न, सत्संग और अध्ययन से सरस्वती निश्चय ही किसी न किसी पर कृपा करती है।

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥[26]

यह धारणा वैज्ञानिक नहीं मानी जा सकती। व्युत्पत्ति और अभ्यास मात्र उस व्यक्ति को कवि नहीं बना सकते जिसमें प्रतिभा है ही नहीं। आनन्दवर्द्धन का मत है कि कवि का अशक्तिजन्य दोष तुरन्त और अनायास स्पष्ट रूप से दिखाई दे जाता है पर कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को उसकी शक्ति आच्छादित कर लेती है।[27] इस कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रतिभा काव्य का अनिवार्य हेतु है, किंतु काव्य सर्जन में अभ्यास और व्युत्पत्ति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ये तीनों सम्मिलित रूप से काव्य सर्जन में सहायक होते हैं। इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा काव्य का अनिवार्य हेतु है। प्रतिभा के परिष्कार के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास भी अपेक्षित है।

रीतिकाव्य में काव्य हेतु का स्वरूप

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' और जयदेव के 'चंद्रालोक' को ही आधार माना। इस युग के आचार्यों में काव्यशास्त्रीय चिंतन में मौलिकता की अपेक्षा परंपरा निर्वाह अधिक है। सुरति मिश्र ने तीन काव्य हेतुओं की चर्चा की है—देवप्रसाद अथवा शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन्होंने जगन्नाथ से प्रभावित होकर देवप्रसाद और शक्ति को पर्याय माना है और मम्मट से प्रभावित होकर इन तीनों का सामूहिक रूप स्वीकृत किया है-

कारण देवप्रसाद जिहि सक्ति कहत सब कोह।
वितपत और अभ्यास मिल त्रय बिन काव्य न होइ ॥[28]

'काव्य निर्णय' नामक ग्रंथ में भिखारीदास का मत भी इसी प्रकार का है—

सवित्त कवित्त बनाइवे के जेहि, जन्म नक्षत्र में दीन्हि बिधार्ते।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों, देखी सुनी वहुलोक की बार्तें।
दास है जार्में इकत्र ये तीनि बनी कविता मनोरोचक तातें।
एक बिना न चले रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातें॥[29]

आचार्य सोमनाथ ने काव्य-हेतुओं की चर्चा इस प्रकार की है—

कवि सो सुनिबो बहुत पुनि करिबो अति अभ्यास।
तासो कविता होती है कारन हिये हुलास॥
बिना सुने अभ्यास के कविता होत अनन्त।
सो प्रसाद गुरु देव को वरनत सब गुनवन्त॥[30]

उनके इस कथन का अभिप्राय है कि किसी सुकवि की रचना को सुनकर बार-बार रचना कार्य करना तथा इस अभ्यास के अभाव में दूसरा काव्य हेतु है गुरु अथवा देव का प्रसादजन्य वरदान। सोमनाथ द्वारा प्रयुक्त 'अभ्यास' शब्द मम्मट सम्मत अभ्यास का रूपांतर मात्र है तथा 'गुरु प्रसाद' जगन्नाथ के काव्य हेतु से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार प्रतापसाहि संस्कृत, वृत्ति और अभ्यास नामक तीन काव्य हेतुओं का उल्लेख किया है —

प्रथम संस्कृत वृत्ति पुनि तीजो कहि अभ्यास।
कारण तीनि सुकाव्य के बरणत सुकवि विलास॥[31]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को आधार रूप में ग्रहण करके काव्य-हेतु संबंधी विचार प्रकट किए हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन का स्वरूप

काव्य-प्रयोजन से अभिप्राय उस लक्ष्य से है, जिसे दृष्टि में रखकर कवि काव्य-सर्जन में प्रवृत्त होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित काव्य-प्रयोजनों में से कुछ प्रेरणा रूप आंतरिक हैं और कुछ प्रयोजन रूप बाह्य। कुछ प्रयोजन कवि से संबद्ध हैं, कुछ सहृदय से किंतु कुछ अंशों में कवि सहृदय से संबद्ध प्रयोजन एक ही हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम नाटक के प्रयोजन बताते हुए छः प्रयोजनों की गणना करवाई है—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि विवर्धन और उपदेश—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥[32]

अग्निपुराण में मोक्ष के अतिरिक्त त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम को भी काव्य का प्रयोजन कहा गया है।[33] भामह ने भरत के ही मत में कुछ परिवर्तन करके कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥[34]

अर्थात् उत्तम काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग पफल प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है। भामह ने 'निषेवणम्' शब्द का प्रयोग कवि और भावक दोनों के लिए किया है।

आचार्य रुद्रट का मत है कि रसिकजन नीरस शास्त्रों से करवाते हैं इसलिए उनको शीघ्र सहज़ उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वेर्ग फल प्राप्ति हो जाती है।[35] वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के दो ही प्रयोजन माने हैं। दृष्ट प्रयोजन-प्रीति या आनन्द तथा अदृश्य प्रयोजन-कीर्ति।[36] कुन्तक ने आनन्द की सबसे प्रबल प्रतिष्ठा की है। धर्म आदि की प्राप्ति तो काव्य प्रयोजन हैं ही किंतु इनसे भी महत्तर सिद्धि है काव्यामृत के रस से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति और उससे भी बढ़कर है अन्तश्च चमत्कार अथवा आनन्द की प्राप्ति।[37] मम्मट ने विभिन्न आचार्यों के मतों का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[38]

अर्थात् काव्य से यश, अर्थ तथा व्यवहार ज्ञान की प्राप्ति होती है। अमंगल का नाश होता है और लोकोत्तर आनंद तथा कांतासम्मित उपदेश मिलता है। उपर्युक्त वर्णित सभी काव्य- प्रयोजनों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– 1. व्यक्तिगत प्रयोजन आनंद तथा 2. सामाजिक प्रयोजन लोकमंगल।

रीतिकाव्य में काव्य-प्रयोजन का स्वरूप

हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में से काव्य-प्रयोजन का निरूपण करने वाले प्रथम आचार्य कुलपति हैं। यद्यपि कुलपति से पूर्व केशव, चिंतामणि तथा मतिराम आदि आचार्यों ने भी काव्य-प्रयोजन का उल्लेख किया है, किंतु उनका उद्देश्य काव्य प्रयोजनों का परिगणन कराना नहीं था। कुलपति ने मम्मट के काव्यप्रकाश को आधार मानकर काव्य-प्रयोजन का निरूपण इस प्रकार किया है–

जस संपति, आनन्द अति दुरितन डारै खोइ।
होत कबित में चतुरई जगत राम बस होइ ॥[39]

अर्थात् यश, संपत्ति, आनन्द-प्राप्ति, दुरित नाश, चातुर्य, जगत तथा भगवान को वश में करना आदि काव्य प्रयोजन हैं।

सोमनाथ ने मम्मट के काव्य-प्रयोजन को मात्र अनुदित करके किसी नवीन धारणा को प्रस्तुत नहीं किया। उनका मत है–

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
करे भलो उपदेस नित वह कवित्त चित्त चेति ॥[40]

इसमें कीर्ति और वित्त क्रमशः यश और धन के पर्याय हैं, 'करै भलो उपदेस'

कान्तासंमत उपदेश को पर्याय है तथा 'अति मंगल को देति' शिवेतर क्षति का पर्याय है। भिखारीदास ने निम्न पद में काव्य प्रयोजनों का उल्लेख किया है—

एक लहैं तप पुंजन को फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाई।
एक लहैं बहु सम्पत्ति केशव भूषन ज्यों बरवीर बड़ाई।
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुद्धिवन्तन को सुख दै सब ठाई॥[41]

इस पद में पाँच काव्य-प्रयोजन वर्णित हैं—तपपुंज का पफल, धन-प्राप्ति, यश, सहृदयों को आनन्द प्राप्ति तथा सुखपूर्वक शिक्षा प्राप्ति। प्रथम तीन प्रयोजन कवि से संबद्ध हैं तथा अन्य दो सहृदयों से।

प्रतापसाहि ने काव्य-प्रयोजन का निरूपण करते हुए कहा है कि काव्य के द्वारा एक तो पुरुषार्थ-चतुष्टूय की प्राप्ति होती है और दूसरे इसका श्रवण करे, अर्थावबोध होते और वर्णन करते समय सुख मिलता है। यह निरूपण मम्मट तथा विश्वनाथ के प्रयोजनों की छाया लिए हुए दिखाई देता है—

चारि वर्ग जासु तें आवत करतल मद्धि।
सुनद सुखद समुझत सुखद वरणत सुखद समृद्धि।[42]

संस्कृत-काव्यशास्त्र में गुण-निरूपण

गुण शब्द के कोशगत अर्थ हैं—धर्म, स्वभाव, विशिष्टता, लाभ, प्रभाव, डोरी प्रकृति के तीन गुण (सत्व, रजस् और तमस) इन्द्रियजन्य विषय और साहित्यशास्त्र के गुण (माधुर्यादि)[43] प्रस्तुत संदर्भ में हमें यही अंतिम अर्थ अभीष्ट है। काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत मुनि ने गुण का लक्षण देते हुए लिखा है—गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः।[44] अर्थात् दोषों के विपर्यय रूप गुण, माधुर्य, औदार्य आदि हैं। इन्होंने गुणों की संख्या दस बताई है। दण्डी ने अलंकारों की व्यापक परिभाषा देते हुए उनमें गुणों का अंतर्भाव किया है—काव्यशोभाकरान धर्मान् अलंकारान प्रचक्षते।[45] उनके अनुसार उपमा,रूपक आदि साधारण अलंकारों के अतिरिक्त काव्य सौंदर्य के विधायक अन्य सभी तत्त्व अलंकार हैं। अतः गुण भी एक प्रकार से अलंकार है। ये गुण रस के आश्रित न होकर काव्य की शोभा का वर्धन स्वयं करते हैं।

गुण का सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय लक्षण वामन ने दिया। उनके अनुसार काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः'[46] अर्थात् काव्य शोभा के विधायक तत्त्व गुण हैं। गुण शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं और उपमा आदि अलंकार अनित्य धर्म क्योंकि वे स्वतंत्र रूप से काव्य की शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते। ओज, प्रसाद आदि गुणों के अभाव में काव्य की शोभा नहीं हो सकती। इस प्रकार गुण शब्दार्थ के धर्म हैं, काव्य शोभा के विधायक मूल तत्त्व हैं और काव्य में उनकी स्थिति अनिवार्य है।

वामन के उपरांत ध्वनि सिद्धांत की स्थापना हो जाने पर उत्तरध्वनिवादी आचार्यों ने गुण को निर्दोषता के अर्थ में ग्रहण किया। आनन्दवर्द्धन ने गुणों का स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के आश्रित माना—**तमर्थमवलम्बन्ते योऽङिनः ते गुणा स्मृतिः**[47] अर्थात् जो आंगिक अर्थ के आश्रित रहते हैं, वे गुण कहलाते हैं। यहाँ अंगी अर्थ का आशय रस से है। ध्वनिवादी आचार्यों के मत में गुण काव्य के आत्मा रूप रस के धर्म हैं, शब्दार्थ के नहीं। आचार्य मम्मट ने भी आनन्दवर्द्धन की गुण विषयक धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी अचल स्थिति धर्मगुण कहलाते हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहितवस्तु स्युरचललस्थितयो गुणाः॥[48]

आचार्य विश्वनाथ ने भी गुणों को काव्य-शरीर में सारभूत तत्त्व (रस) के धर्म के रूप में स्वीकार किया है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादया यथा गुणाः।[49]

पण्डितराज जगन्नाथ ने पहले गुण को रस का धर्म न मानकर शब्दार्थ का धर्म माना किंतु बाद में गुण विवेचन करते हुए उन्होंने शब्दार्थ के साथ-साथ रस को भी ग्रहण किया।[50] आचार्य भरत से लेकर जगन्नाथ तक आचार्यों ने जिन गुणों की चर्चा की है, उनका अंतर्भाव तीन गुणों में किया जाता है—माधुर्य गुण, ओज गुण तथा प्रसाद गुण।

रीति-काव्य में गुण-निरूपण

रीतिकाल में सर्वप्रथम चिंतामणि ने काव्य-गुण संबंधी विवेचन किया है। कविकुलकल्पतरु में वर्णित उनका यह विवेचन आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि नव्य आचार्यों के समान है—जिस प्रकार शूरता आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस के अचल धर्म हैं—

जे रस आगे के धरम ते गुन बरने जात।
आतम के ज्यों सूरतादिक निहचल अवदात॥[51]

जिस प्रकार शूरता आदि गुण उपचार से शरीर के भी धर्म मान लिए जाते हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण शब्दार्थ के भी धर्म हैं—

शब्द अर्थ में लक्षना तें गुन की थिति जानि।[52]

और उसकी व्यंजकता विशिष्ट वर्णसमुदाय, समास और रचना से होती है -

रचना बरन समास ये, गुण के बिंजक जानि।[53]

नव्य आचार्यों की भाँति इन्होंने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण माने हैं। कुलपति के अनुसार गुण रस का धर्म है, वह उसका उत्कर्ष करता है, और सरस रचना

में अचल भाव से स्थिर रहता है—

जो प्रधान रस को धरम, निपट बढ़ाई हेत।
सोई गुण कहिये, अचल थिति, रस को परम निकेत।।[54]

इन्होंने भी गुण की संख्या तीन मानी है। रीतिकालीन प्रमुख आचार्य सोमनाथ ने भी दोष-विहीन गुण-रहित रचना को श्रेष्ठ नहीं माना—

कविता दोष विहीन हू बिन गुण लखै न मित्र।[55]

इस उद्धरण से गुण की काव्य में अनिवार्यता तो सिद्ध हो जाती है, परंतु इससे रस और गुण की शास्त्र सम्मत एकत्र स्थिति में आशंका उपस्थित हो जाती है। विश्वनाथ ने मम्मट के सगुणौ शब्द पर जो आक्षेप लगाए थे, वे यहाँ पर भी लगाए जा सकते हैं।

भिखारीदास की गुण संबंधी धारणाएं दो प्रकार की हैं—'गुण रस के भूषण है' और गुण अनुप्रास से भूषित होते हैं।' जिस प्रकार शूरता आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं। गुण रस के उत्कर्षक हैं। अंगी के ही धर्म बनने में इनका वास्तविक रूप निहित है, किंतु जिस प्रकार लघुकाय व्यक्ति को कायर और महाकाय व्यक्ति को शूर कह दिया जाता है, उसी प्रकार गुण व्यंजक वर्ण-योजना के आधार पर रस का निर्धारण कर लिया जाता है।

ज्यों जीवात्मा में रहै, धर्म सूरता आदि।
त्यों रस ही में होत गुण, बरनै गने सवादि।

+ + + +

रस हि लाज त्यों गुन बिना, अरि सो सुभग न संग।।[56]

प्रतापसाहि की गुण संबंधी मान्यताएँ इस प्रकार हैं—गुण रस में अचल रूप से स्थित रह कर उसका उत्कर्ष करते हैं, पर अलंकार शब्दार्थ के भूषण बन कर चल रूप से। गुण शब्द और अर्थ के उस प्रकार धर्म हैं, जिस प्रकार शौर्यादि शरीर के। गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। वामन सम्मत श्लेषादि दस गुण इन्हीं में अंतर्भूत हो जाते हैं।[57]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि चिंतामणि आदि पांचों आचार्यों ने प्रमुखतः मम्मट के आधार पर गुण निरूपण किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में दोष-निरूपण

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में जिस प्रकार काव्य के उत्कर्ष-विधायक तत्त्वों का वर्णन किया गया है, वहीं रस के अपकर्षक अथवा काव्यानंद के विघातक तत्त्वों का विवेचन भी विस्तार से किया गया है। भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य-दोषों की चर्चा किसी-न-किसी रूप में अवश्य की है। भरत मुनि ने

गुणों को दोषों का विपर्यय-रूप माना था—

गुणा विपर्ययादेषाम्।[58]

भामह के अनुसार काव्य में एक पद भी सदोष नहीं होना चाहिए। सदोष काव्य कपूट की भाँति निंदाजनक है। काव्य रचना न करना कोई अधर्मजनक, अहितकारक अथवा दण्डदायक नहीं है, पर दोषपूर्ण रचना तो साक्षात् मृत्यु है।[59] आचार्य वामन ने काव्य-सौंदर्य की हानि करने वाले गुण-विरोधी तत्त्वों को दोष कहा—गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।[60] किंतु वामन सम्मत उक्त लक्षण मान्य नहीं है, क्योंकि गुण की अपनी निजी सत्ता है और दोष की अपनी निजी सत्ता; न तो सुरूपता के अभाव को कुरूपता कह सकते हैं और न ही कुरूपता के अभाव को सुरूपता। इसी तरह न तो श्रुतिकटुता नामक दोष का अभाव माधुर्य कहलाया जा सकता है और न ही माधुर्य का अभाव श्रुटिकटुता। अतः वामन द्वारा प्रस्तुत दोष को प्रमुखतः गुण से विपरीत मानना संगत है और गौण रूप से गुण का अभावात्मक भी।[61]

आनन्दवर्द्धन ने रस के अपकर्ष और अनपकर्ष के आधार पर दोषों के नित्य और अनित्य रूप को प्रथम बार स्थिर किया। जहाँ कोई दोष रस का अपकर्ष करता है वहाँ तो वह दोष है, किंतु जहाँ उससे रस में अपकर्ष नहीं होता, वहाँ दोष नहीं मानना चाहिए।[62] मम्मट-सम्मत दोष का लक्षण इस प्रकार है—दोष उसे कहते हैं जो मुख्यार्थ अर्थात् रस का अपकर्ष करता है।[63] आचार्य विश्वनाथ ने काव्य-दोष की परिभाषा देते हुए कहा—'रसापकर्षका दोषाः'[64] अर्थात् रस के अपकर्षक अथवा विघातक तत्त्व दोष कहलाते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों एवं विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि 'काव्य के रस अथवा आनंद के विघातक तत्त्व दोष हैं।' भरत ने दोषों की संख्या दस मानी है—गूढ़ार्थ, अर्थांतर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसंधि और शब्दच्युत।[65] भामह ने अपने ग्रंथ काव्यालंकार में 18 काव्य-दोषों का विवेचन किया है, जो इस प्रकार हैं—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, संसशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसंधि, देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी, आगमविरोधी, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन तथा दृष्यन्तहीन।[66] दण्डी ने 11 काव्यदोषों का वर्णन किया है—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, संशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्तः, विसंधि और देशकालकला-लोकन्यायागमविरोधी। वामन ने शब्दगत और अर्थगत भेद मानकर शब्दगत दोषों के अंतर्गत पदगत, पदार्थगत और वाक्यगत तथा अर्थगत दोषों के अंतर्गत पदार्थगत और वाक्यार्थगत दोष माने।[67] मम्मट ने तीन प्रकार के दोष माने हैं—शब्ददोष, अर्थदोष और रसदोष। इनमें से शब्ददोष 37, अर्थदोष स्वाधीनता आंदोलन और रसदोष 13 माने गए हैं।[68] आचार्य विश्वनाथ ने 16 पददोष, 5 पदांशगत दोष, 28 वाक्यदोष, 23 अर्थदोष और 14 रसदोष माने हैं।[69]

दोषों के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि दोष मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—शब्ददोष, अर्थदोष तथा रसदोष। शब्द दोष के अंतर्गत पदगत दोष, पदांशगत दोष और वाक्यगत दोष आते हैं। इस प्रकार काव्य दोष मुख्य पाँच प्रकार के कहे जा सकते हैं—1. पदगत दोष, 2. पदांशगत दोष, 3. वाक्यगत दोष 4. अर्थदोष तथा 5. रसदोष।

रीति-काव्य में दोष-निरूपण

चिंतामणि ने कविकुलकल्पतरु के चतुर्थ प्रकरण में काव्य-दोषों का विस्तृत निरूपण किया है। उनके अनुसार दोष शब्द, अर्थ और रस का अपकर्ष करता है। इसके श्रवण से काव्यजनित हर्ष का नाश हो जाता है—

शब्द, अर्थ, रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।
दोष कहत है ताहि को, सुनै छदत है हर्ष॥[70]

इस निरूपण का मुख्य आधार मम्मट का काव्यप्रकाश है। दोषों के नाम, उनका वर्गीकरण तथा स्वरूप और परिहार-प्रकार तो मम्मट सम्मत काव्य दोषों के समान हैं ही, कुछ-एक उदाहरणों में भी इसी ग्रंथ का अनुवाद अथवा छायानुवाद मिलता है। इन्होंने दोष चार प्रकार के माने हैं—शब्दगत दोष 15, वाक्यगत दोष 17, अर्थगत दोष 19 तथा रसगत दोष 9 । इस प्रकार दोषों की कुल संख्या 60 हैं।

रीतिकाल के दूसरे प्रमुख आचार्य कुलपति ने रसरहस्य के पंचम वृतांत में दोषों का उल्लेख किया है। यह उल्लेख मम्मट तथा आनन्दवर्द्धन के काव्य-दोष संबंधी विवरणों की छाया लिए हुए है। दोष के संबंध में उनकी वही धारणा है, जिसके आधार पर सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन ने नित्य और अनित्य दोषों को स्थित किया था। दोष जहाँ कविता को विरस कर देता है। वहाँ तो वह दोष है, पर जहाँ वह विरोध की बाधा करता है, वहाँ उलटे रस की पुष्टि करता है—

जहाँ बिरस ताको कहै, तहाँ होय यह दोष।
बाधहिं जहाँ विरुद्ध को, तहाँ करै रस-पोष॥[71]

इन्होंने भी दोषों के चार वर्ग माने हैं—शब्दगत, वाक्यगत अर्थगत तथा रसगत। प्रत्येक दोष का लक्षण प्रस्तुत करने के लिए इन्होंने कहीं गद्य का सहारा लिया है और कहीं पद्य का।

सोमनाथ की काव्य-दोष विषयक धारणा इस प्रकार है—दोष मुख्य अर्थ अर्थात् रस का घातक है। शब्द और अर्थ रस के ओट अर्थात् आश्रय हैं—अतः दोष रसगत, शब्दगत तथा अर्थगत होता है—

रस को मुख गनि हनत है, जिहिं सब्दारथ ओट।
तासों दूषन कहत है कवि रसिकनि के जोट॥[72]

सोमनाथ की यह धारणा मम्मट प्रस्तुत निम्न कारिका पर आधृत है—

मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः तदाश्रयाद् वाच्यः।[13]

भिखारीदास ने दोष के संबंध में न तो मम्मट के समान उसके रसापकर्षत्व की ओर संकेत किया है और न रसदोषों को अन्य दोषों की अपेक्षा प्रमुख दोष माना है। उनका कथन है कि दोष कुरूपताजनक हैं—'दूषन करै कुरूपता,'[74] अतः ये त्याज्य हैं—'तेहि तजि कविताई करें, सज्जन सुमती जोई।'[75] पर उनके इन उद्धरणों से दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। कुरूपता का जितना संबंध शब्दार्थ रूप शरीर के साथ है, उतना रस रूप आत्मा के साथ नहीं है। भिखारीदास भी दोष का परंपरा-संबंध से रस का कुरूपता-कारक अवश्य स्वीकार करते होंगे, पर उन्होंने कहीं भी इसका स्पष्ट वर्णन नहीं किया।

प्रतापसाहि का दोष संबंधी विवरण काव्यविलास में छठे उल्लास में उपलब्ध होता है। उनके कथनानुसार दोष मुख्य अर्थ (रस) के बोध में घातक है और वह शब्दगत, अर्थगत और रसगत होता है—

अर्थ बोध के मुख्य में घात करत जो होइ।
ताको दूषण कहत हैं, शब्द अर्थ रस सोइ॥[76]

इन्होंने दोष का रस के साथ पूर्ण संबंध स्वीकार करते हुए कहा है कि दोष वहीं मानना चाहिए जहाँ वह सरस रचना को नीरस बना दे, पर जहाँ वह रस के विरोधी तत्त्वों का बाधक बन जाए, वहाँ उसे रस का पोषक समझना चाहिए—

जहाँ निरस रस को करै, तहाँ दोष ये जानि।
नहि विरुद्ध बाधक जहाँ, रस तह पोष बखानि॥[77]

स्पष्ट है कि प्रतापसाहि का यह पद्य प्रकारांतर से आनन्दवर्द्धन सम्मत दोष की नित्यानित्य व्यवस्था की ओर संकेत करता है। इन्होंने भी दोषों के प्रमुख तीन प्रकार माने हैं—शब्दगत, अर्थगत और रसगत।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन आचार्यों ने काव्य-दोषों का निरूपण करते समय मूलतः मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तथा आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' को मूल आधार के रूप में ग्रहण किया है। संभवतः इसीलिए इनका निरूपण मम्मट सम्मत काव्य-दोषों का छायानुवाद मात्र है, उसमें किसी प्रकार की मौलिकता के दर्शन नहीं होते।

संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्द-शक्ति-निरूपण

संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्द-शक्तियों का सर्वप्रथम व्यवस्थित निरूपण मम्मट ने अपने ग्रंथ में काव्यप्रकाश में प्रस्तुत किया है। यद्यपि मम्मट से पूर्व आनन्दवर्द्धन ध्वन्यालोक में तथा मुकुल भट्ट अभिधावृत्तिमातृका में शब्द-शक्तियों पर प्रकाश डाल

चुके थे, परंतु यह विवेचन अपने आप में अपूर्ण है। आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों में भी कुछ ऐसे स्थल उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि भले ही ये आचार्य अभिधा आदि शक्तियों के सूक्ष्म परिचय से परिचित नहीं थे परंतु इनके बाह्य रूप का इनको निश्चित ज्ञान था। जैसे—उद्‌भट ने भामह की एक कारिका की व्याख्या करते हुए शब्द के अर्थ-बोधन में समर्थ व्यापार को अभिधान या अभिधा का नाम दिया है—

शब्दानामभिधानमूअभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च[78]

वामन ने वक्रोक्ति अलंकार का स्वरूप सादृश्य-मूला लक्षणा पर निर्धारित किया है—'सादृश्याल्लक्षण्य वक्रोक्तिः।'[79] इसी प्रकार व्यंजना अथवा ध्वनि की चर्चा भामह, दण्डी तथा उद्‌भट आदि आचार्यों के ग्रंथों में देखी जा सकती है।

आचार्य मम्मट ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शक्ति का विस्तृत वर्णन किया है, उनके अनुसार जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है, वाचक कहलाता है। इससे जिस अर्थ का बोध होता है वह मुख्यार्थ होने से वाच्यार्थ कहलाता है तथा इस वाच्यार्थ को बताने वाली शब्द की शक्ति अभिधा होती है—

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥[80]

उनके अनुसार लक्षणा शक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—'जब किसी वाक्य में किसी शब्द के अर्थ को ग्रहण अभिधा द्वारा न हो किंतु उससे संबद्ध हो तब वहाँ 'लक्षणा' का व्यापार माना जाता है।'

मम्मट ने अभिहितान्वयवादियों के तात्पर्यवाद, उद्‌भट प्रभृति आचार्यों के लक्षणवाद तथा महिमभट्ट के अनुमानवाद का खण्डन कर व्यंजना की स्थापना की, किंतु उन्होंने उसकी कोई शास्त्रीय परिभाषा नहीं दी। वस्तुतः अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा शक्तियों के अपने-अपने कार्य से विरत हो जाने पर व्यंजना-शक्ति अपने कार्य में प्रवृत्त होती है—

विरतास्वीभधायासु ययाऽर्थो बोध्यते परः
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।[81]

रीतिकाव्य में शब्द-शक्ति निरूपण

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों में सर्वप्रथम चिंतामणि ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'कविकुलकल्पतरु' के 'शब्दार्थ निरूपण' नामक प्रकरण में शब्द शक्तियों का निरूपण किया है। इस निरूपण में 'काव्यप्रकाश' तो मुख्य आधार ग्रंथ रहा ही है, कुछ स्थलों पर विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण' का भी प्रभाव लक्षित होता है।

चिंतामणि ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्द-शक्तियों में से अभिधा शक्ति

के संबंध में कुछ नहीं कहा। मम्मट के समान इन्होंने भी लक्षणा शक्ति के स्वरूपावधारण के लिए तीन तत्त्वों का होना आवश्यक माना है—1. मुख्यार्थ का बाध, 2. मुख्यार्थ से संबंध, 3. रूढ़िगतता अथवा प्रयोजनगतता—

मुख्यारथ के बाध अरु जोग लक्षणा होइ।
होत प्रयोजन पाइ कै, कहूँ रूढ़ि हित सोइ॥
गंगाघोषक है तहाँ, होत तीर को बाध।
सीतलता रु पवित्रता तहाँ प्रयोजन सोध॥[82]

चिंतामणि ने व्यंजना-शक्ति का वर्णन विश्वनाथ के अनुसार करते हुए कहा है कि अभिधा और लक्षणा वृत्तियों के विरत हो जाने पर जिस शक्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यंजना-शक्ति कहलाती है—

जहं अभिधा अरु लक्षणा अति कुछ भिन्न प्रकार।
होइ अर्थ को बोध तहं कवि व्यंजक व्यापार॥[83]

चिंतामणि के पश्चात् कुलपति ने 'रसरहस्य' के दूसरे वृतांत 'शब्दार्थ निर्णय' में शब्द-शक्तियों का वर्णन किया है। इन्होंने अभिधा आदि चार शक्तियों पर प्रकाश डाला है।

अभिधा : जो किसी की सहायता के बिना स्वयं अर्थ बता दे, वह वाचक पद कहलाता है। पद को सुनते ही जो चित्त को ग्रहण कर ले, वह वाच्यार्थ कहलाता है और जिस व्यापार के द्वारा पद से ऐसा अर्थ ज्ञात हो जाए, वह अभिधा-शक्ति कहलाती है—

वाचक सो जु सहाय बिन आप अर्थ कर देइ।
वाच्य अर्थ सुनत ही जाहि चित्त गेहि लेइ॥
या पद ते ये ही अरथ जान्यो ऐसो रूप।
सो इच्छा भगवान कौ जो है शक्ति अनूप॥[84]

लक्षणा : जब कोई शब्द वक्ता के अभीष्ट अर्थ को प्रकट नहीं कर पाता, तब तत्सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ को प्रकट करने की अवस्था में लक्ष्यक कहलाता है—

लक्ष्यक सो अर्थ न बनैं, तब ढिग तें गहि लेइ।[85]

व्यंजना : व्यंजक शब्द उसे कहते हैं, जो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक अर्थ को बताए। यही अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है और इसका बोध व्यंजना-शक्ति द्वारा होता है। इस शक्ति के दो भेद है—लक्षणामूला और अभिधामूला—

अर्थ बनाइ अधिक कहै, व्यंजक कहिए सोइ॥
शब्द सुनैं समुझै अरथ, होय जु अधिक प्रकास।
सोइ ब्यंग जु लक्षणा, अभिधा मूल विलास॥
ब्यंग ही कहैं जु व्यंजना वृत्ति सबन सुख देइ॥[86]

तात्पर्य वृत्ति : इसका उल्लेख उन्होंने गद्य में किया है—वृत्तियों के त्यौहार से अलग ही सी प्रतीति करै, इस कारण कोई कोई एक तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं, पर वह व्यंजना से निकट ही है—इससे वह इसमें ही गिनी जाती है, उससे जो पाया जाए वह तात्पर्यार्थ कहलाता है।[87]

आचार्य सोमनाथ ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'रसपीयूषनिधि' की छठी तरंग में शब्द-शक्तियों का निरूपण किया है। जिसके द्वारा यह जाना जाए कि इस शब्द का अर्थ है, उसे अभिधा वृत्ति कहते हैं—

या अक्षर को यह अरथ ठीकहि यह ठहराय।
जानि परै जातें सु वह अभिधा वृत्ति कहाय॥[88]

लक्षणा के संबंध में उन्होंने शास्त्र सम्मत तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है—

मुख्यारथ को छोड़ि कै पुनि तिहिं के ढिग और।
कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि और॥[89]

व्यंजना शक्ति से ज्ञात अर्थ व्यंग्य कहलाता है और इस अर्थ का द्योतक शब्द व्यंजक। व्यंजक शब्द उसे कहते हैं जो कहे हुए अर्थ से अधिक अर्थ को बताए और वही अधिक अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है, जो रसिकों को अति सुखदायी है—

अधिक कहै कहि अर्थ को व्यंजक शब्द सु जानि।
समुझि लीजिये अर्थ पुनि और बीज छू होय।
रसिकन को सुखदानि अति व्यंग्य कहावत सोम॥[90]

भिखारीदास ने मम्मट का अनुकरण कर तीन प्रकार के पदों की चर्चा की है—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक—

पद वाचक अरु लाच्छनिक व्यंजक तीनि विधान[91]

अभिधा : शब्द की वह शक्ति जो साक्षात्-संकेतित (अव्यवधान अथवा मुख्य रूप से गृहीत) अर्थ का बोध कराती है, अभिधा शक्ति कहलाती है—

अनेकार्थहू सब्द में, एकअर्थ की व्यक्ति।
तेहि वाच्यारथ को कहैं, सज्जन अभिधा सक्ति॥
जामैं अभिधा सक्ति करि, अर्थ न दूओ कोइ।
वहै काव्य कीन्हें बनै, नातौ मिश्रित होइ॥[92]

लक्षणा : भिखारीदास ने लक्षणा शक्ति के शास्त्र-सम्मत तीन तत्त्वों में से एक तत्त्व—अन्य अर्थ का मुख्यार्थ के साथ संबंध की चर्चा नहीं की, परंतु उन्होंने जो उद्धरण प्रस्तुत किए हैं उनसे प्रतीत होता है कि उन्हें यह तत्त्व अभीष्ट अवश्य था—

मुख्य अर्थ के वाध तें, शब्द लाच्छनिक होत।
रूढ़ि औ प्रयोजनवती, द्वै लच्छनाउदोत॥[93]

व्यंजना : भिखारीदास के मतानुसार, जिस शक्ति द्वारा सूधो 'वाच्य' अर्थ के

अतिरिक्त (व्यंग्य) अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं—

सूधो अर्थ जु वचन को, तेहि तजि औरे बैन।
समुझि परै तेहि कहत हैं, सक्ति व्यंजना ऐन॥[94]

प्रतापसाहि ने अपने ग्रंथ 'काव्य-विलास' के द्वितीय उल्लास में शब्द शक्ति का निरूपण 73 छंदों में किया है। उनके अनुसार शब्द का वह व्यापार अभिधा कहलाता है, जिसके द्वारा मुख्य (संकेतित) अर्थ की प्रतीति होती है और ऐसा शब्द वाचक कहलाता है। इस शक्ति के द्वारा वाचक शब्द से जिस वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, उसका आधार है—ईश्वरेच्छा—

मुख्यार्थ प्रतिपाद्य शब्दस्य व्यापारो अभिधा अर्थ।
वाचक तासो कहत है जे कवि सुमति समर्थ।
जो पद सों ऐसे अरथ अभिधा ब्योहार।
जो इच्छा जगदीश की सु है शक्ति निरधार॥[95]

प्रतापसाहि ने लक्षणा शक्ति और लक्ष्यार्थ के लक्षणों में कुलपति के शब्दों का फेर-बदलकर काम चला लिया है—

अर्थ न लक्षक सो बनत गहि समीप ते जोइ।
होई लक्षणा ते प्रकट लक्सारथ कहि सोइ॥[96]

इन्होंने व्यंजना शक्ति का जो लक्षण प्रकट किया है। वह स्वतः ही उसके स्वरूप को व्यक्त करने में समर्थ है—

अभिधा लक्षा व्यंग्य जहं अर्थ बोध पर होइ।
कही वृत्ति सो व्यंजना शब्द अर्थगत होइ॥[97]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रीतिकालीन आचार्यों ने शब्द-शक्तियों का निरूपण संस्कृत-आचार्यों के वर्णनों के अनुरूप ही किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदाय एवं रीति-कवि

भारतीय काव्यशास्त्र में समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक वादों एवं सिद्धांतों की प्रतिष्ठा हुई किंतु आज इनमें से केवल पाँच संप्रदाय ही अधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध है—ध्वनि संप्रदाय, रस संप्रदाय, रीति संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय तथा वक्रोक्ति संप्रदाय। संस्कृत के आचार्यों एवं रीति कवियों ने इन संप्रदायों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार हैं—

ध्वनि-स्वरूप

ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्तन का श्रेय आनन्दवर्द्धन को दिया जाता है। इन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में सर्वप्रथम इस तत्त्व का व्यवस्थित तथा

स्वच्छ रूप प्रतिपादित किया। यद्यपि इनसे पूर्व भामह, दण्डी और उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों के ग्रंथों में ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ किंतु पिफर भी अनेक अलंकारों के लक्षणों में प्रकारांतर से ध्वनि तत्त्व के संकेत दिखाई दे जाते हैं। आनन्दवर्द्धन ने अपने से पूर्ववर्ती अलंकार और रीति तत्त्वों की व्यापकता का खण्डन किया और रस को ध्वनि का एक भेद स्वीकार करते हुए भी उसे सर्वोत्कृष्ट भेद घोषित किया। उनके अनुसार–

यत्रार्थः शब्दो वो तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित॥[98]

अर्थात् जहाँ वाचक शब्द और वाच्य अर्थ अपनी-अपनी सत्ता को गौण करके जिस विशेष अर्थ को प्रकाशित करते हैं, वह ध्वनि कहलाता है। प्रस्तुत कारिका की स्वयं आनन्दवर्द्धन व्याख्या करते हुए कहते हैं–

यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा
तमर्थं व्यक्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।[99]

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं, वह काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है। ध्वनिकार से ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण भी प्रस्तुत किए है–जिस प्रकार किसी अंगना के सुंदर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है और जिस प्रकार दीप और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है। शब्द तथा अर्थ काव्य के अलंकार मात्र हैं, पर ध्वनि कोई अन्य अवर्णनीय पदार्थ है। जिस प्रकार अवयव-समुदाय और लावण्य में तथा दीप और प्रकाश में परस्पर साधन-साध्य भाव है, और यही कारण है कि कवि को शब्दार्थ रूप साधन की सदा अपेक्षा रखनी पड़ती है–

(क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावर्ण्यामवांगनासु॥[100]

(ख) आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥[101]

अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त कारिकाओं पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि यहाँ ध्वनि संज्ञा केवल काव्य को ही नहीं दी गई वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार इन सबको ध्वनि कहते हैं। ध्वनि शब्द के व्युत्पत्ति अर्थों से भी ये पांचों भेद सिद्ध हो जाते हैं -

1. ध्वनति यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः
(जो ध्वनित करे या कराए वह व्यंजक शब्द ध्वनि है)
2. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थः।
(जो ध्वनित करे या कराए वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।)

3. ध्वन्यते इति ध्वनिः ।

(जो ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है।) इसमें रस, अलंकार और वस्तु, व्यंग्य अर्थ के ये तीनों रूप आ जाते हैं।

4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः ।

(जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार, व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है।)

5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः ।

(जिसमें वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।)[102]

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि तत्त्व के तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन वर्गों में विभाजित कर दिया—ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य और चित्र काव्य।[103] मम्मट ने इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर काव्य भी कहा है।[104] मम्मट ने ही ध्वनि के 51 प्रमुख भेद माने जो परस्पर-संयोजन द्वारा कई सहस्र तक पहुँच जाते हैं, किंतु इनमें से पाँच भेद ही प्रमुख हैं -1. अर्थांतरसंक्रमितवाच्यध्वनि 2. अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि 3. वस्तुध्वनि 4. अलंकार ध्वनि तथा 5. रसध्वनि।

रीति-कवियों द्वारा ध्वनि-निरूपण

हिन्दी के प्रायः सभी सर्वांगनिरूपक आचार्यों ने ध्वनि के संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने अपना समस्त विवेचन अधिकांशतः मम्मट के काव्य प्रकाश और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण पर आधृत किया है। स्थान-स्थान पर नवीनता एवं मौलिकता लाने के लिए भी रीतिकालीन आचार्य सचेष्ट दिखाई देते हैं। आचार्य चिंतामणि ने इस दिशा में सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके कथनानुसार वाच्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति का नाम ध्वनि है—

वाच्य लक्ष ते भिन्न जे कवित्त सुनो ते अर्थ।
भासे ते सब व्यंग कहि वरनत सु कवि समर्थ॥[105]

चिंतामणि ने काव्य के उत्तमादि तीन भेद बताए और उनके लक्षण इस प्रकार दिए—व्यंग की प्रधानता में उत्तम काव्य होता है, व्यंग की अप्रधानता में मध्यम काव्य और व्यंग की हीनता में चित्रादि काव्य अधम होता है—

उत्तम व्यंग प्रधान गुनु, अप्रधान गुनु व्यंग।
सो मध्यम पुनि अधम गुनु, त्रिविध चित्त अव्यंग॥[106]

उन्होंने ध्वनि के प्रमुख दो भेद माने हैं—

अविवक्षितवाच्य—जहाँ वक्ता की इच्छा वाच्य अर्थ में न तो वहाँ अविवक्षित वाच्य ध्वनि होती है—

वक्ता की इच्छा न जहं, वाच्य अर्थ में होइ।

सो अविवक्षित वाच्य है, कहत सकल कवि लोइ ॥[107]

विवाक्षितान्यपरवाच्य—जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित रहता हुआ भी अन्य अर्थ का बोध हो वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि होती है—

वाच्य अर्थ सुविवक्षिता वाच्य द्विविध पहिचानि।
लक्ष्य अलक्ष्य क्रमानि सो व्यंग सु मन में आनि ॥[108]

आगे उन्होंने ध्वनि के इन दोनों भेदों के उपभेदों का भी उल्लेख किया है।

कुलपति के अनुसार ध्वनि प्रधानता, गौणता और अस्फुटता ये तीनों काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अवर के क्रमशः पृष्टाधार हैं। अतः ध्वनि-प्रधान काव्य का निरूपण करते हुए वे कहते हैं—

कवित्त होत ध्वनि-भेद तें उत्तम मध्यम और।
ताते ध्वनि वर्ण न करौं, है औसर एहि ठौर ॥[109]

उनके अनुसार ध्वनि काव्यपुरुष का जीव है। शब्दार्थ देह के समान है। माधुर्य आदि गुण, अनुप्रासोपमादि अलंकार और श्रुतिकटु आदि दोष काव्य-पुरुष के क्रमशः गुण, भूषण और दूषण हैं। ध्वनि रूप जीव की सिद्धि के लिए देह आदि साधनों का उपयोग किया जाता है—

व्यंग जीव ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण भूषण भूषणौ दूषण दूषण एह ॥
सो कवित्त है तीन विधि उत्तम मध्यम और।
जीव सु रस पुनि देहै बलि जेहि ठौर ॥[110]

इन्होंने भी ध्वनि के दो भेदों की चर्चा की है। ध्वनि का एक प्रमुख भेद वह है, जिसमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य की प्रधानता रहती है। इसमें वाच्य अर्थ किसी अर्थ अथवा काम का नहीं रहता—मम्मट ने इसे ही अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा है—

जहाँ अर्थ नहि काम को सो ध्वनि द्वै विधि होय।
अर्थ और सों मिलि रहै अर्थहि गने न कोय ॥[111]

ध्वनि का दूसरा प्रमुख भेद वह है जहाँ वाच्य अर्थ व्यंग्य के काम का रहता है। इसे मम्मट के शब्दों में विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहा जाता है—

अर्थ व्यंग के काम को जहाँ सु ध्वनि द्वै भांति।
प्रथमहिं क्रम नहिं जानिये, दूजे है क्रम कांति ॥[112]

सोमनाथ का ध्वनि-निरूपण अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित एवं शास्त्र-सम्मत है। इन्होंने मम्मट के समान व्यंग्य-प्रधान काव्य को उत्तम काव्य कहा है—

व्यंग्य सरस जहं कवित्त में सो उत्तम डर आनि।[113]

इन्होंने कुलपति के समान ही ध्वनि के भेदों की चर्चा की है परंतु भेदों के उदाहरण देते समय इनकी दृष्टि अधिक सरस रही है। दो उदाहरण प्रस्तुत है—

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के उदाहरण में वाच्यार्थ है—कमल चंद्रमा के अमृत का पान कर रहा है और चंद्रमा कमल के मकरन्द का परंतु व्यंग्यार्थ है कि नायक-नायिका परस्पर अधर-पान में रत हैं—

उनि पियूष परस्यो मधुर उनि अचयौ मकरन्द।
अलि अनूप कौतिक भयो मिलि अरविंद सु चन्द ॥[114]

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक भेद के अंतर्गत शब्द से वस्तुव्यंग्य के निम्न उदाहरण में नायिका के हम सब जानित' का वस्तुगत व्यंग्यार्थ यह है कि तुम औरों के साथ रमण करते हो और हमारे साथ नहीं—

मुदी जानि अंखियां अरुन झलकत जावत भाल।
कहा बनावत बात अव हम सब जानति लाल ॥[115]

रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने अपने ग्रंथ 'काव्यनिर्णय' के षष्ठ उल्लास में 74 छंदों के अंतर्गत ध्वनि के भेदों-उपभेदों का विशद् वर्णन किया है। ये ध्वनि-निरूपण करते हुए वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार की स्थिति को ध्वनि मानते हैं और उसे ही उत्तम काव्य का आधार कहते हैं—

वाच्य अर्थ तें व्यंगि में चमत्कार अधिकार।
धुनि ताही को कहत हैं, सोइ उत्तम काव्य विचार ॥[116]

मम्मटादि के अनुकरण पर इन्होंने ध्वनि के दो भेद स्वीकार किए हैं—अविवक्षित वाच्य और विवक्षितवाच्य। वाच्य अर्थ के अभीष्ट न रहने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति पहली ध्वनि कहलाती है—

वकता की इच्छा नहीं, वचनहिं को जु सुभाउ।
ब्यंग कढ़े तिहि वाच्य को अविवक्षित ठहराउ ॥[117]

वाच्य अर्थ के अभीष्ट रहते हुए व्यंग्य अर्थ की प्रतीति को दूसरी ध्वनि कहा गया है—

वहे विवक्षित वाच्य ध्वनि चाहि करे कवि जाहि।[118]

अन्य रीतिकालीन आचार्यों की भाँति इन्होंने भी ध्वनि के इन प्रमुख दो भेदों के उपभेदों का वर्णन अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में सविस्तार किया है।

प्रतापसाहि के अनुसार जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कृत अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे ध्वनि कहते हैं -

वाच्य अपेक्षा अरथ की व्यंग चमत्कृत होइ।
शब्द अर्थ में प्रकट जो धुन कहियत है सोइ ॥[119]

उनके अनुसार काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अधम का आधार ध्वनि की विभिन्न स्थिति है। व्यंग्यार्थ काव्यपुरुष का जीव है। शब्दार्थ उसका अंग है। यही कारण है कि व्यंग्य प्रधान काव्य को उत्तम काव्य कहा गया है—

व्यंग जीव है कवित में सब्द अर्थ गनि अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरने व्यंग प्रसंग ॥[120]

प्रतापसाहि ने ध्वनि के भेदों का उल्लेख अधिकांशतः कुलपति के अनुरूप ही किया है। आरंभिक 18 भेदों का वर्णन तो पूर्णतः कुलपति की सहायता लेकर किया गया है, परंतु आगे की चर्चा अस्पष्ट है। काव्यविलास में वर्णित ध्वनि के 18 भेदों का विवरण इस प्रकार है–

अविवक्षित के दोइ गनि, दोह विवक्षित जानि।
अंसलक्ष्यक्रम एक पुनि, संलक्षहि पहिचानि।
संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के द्वादश भेद बखानि।
शब्द मूल है, उभय एक मिलि अष्टादश जानि॥[121]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि चिंतामणि आदि रीतिकालीन आचार्यों ने ध्वनि-निरूपण मम्मट सम्मत ध्वनि-निरूपण के अनुकरण पर ही किया है। डॉ॰ शिवकुमार शुक्ल के शब्दों में कहा जा सकता है कि ध्वनि काव्य (उत्तम काव्य) गुणीभूतव्यंग्य काव्य (मध्यम काव्य) और व्यंग्यहीन (अधम काव्य) आदि के निरूपण में हिन्दी के रीतिशास्त्रीय आचार्य मम्मट से बहुत प्रभावित हैं, किन्तु वे अपनी कृतियों में पूर्ण विवेक से काम लेते हैं यथा–वे अनावश्यक भेद-प्रपंच में नहीं पड़ते किंतु विभिन्न भेदों के लक्षणों में उनके वर्गीकरण में तथा संबंधित उदाहरणों में वे नवीनता एवं मौलिकता की स्थापना करते हैं।[122]

रस-सिद्धांत

भारतीय वाङ्मय में रस शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ है। इसके अर्थ पर विचार करे तो मूलतः दो प्रकार के अर्थ सामने आते हैं–1. सामान्य और 2. विशिष्ट। सामान्य अर्थों में रस शब्द द्रवणशीलता का पर्याय है। विशिष्ट अर्थों में रस शब्द के दो अर्थ हैं–औषधि शास्त्र में यह अत्यंत उत्तम कोटि की औषधि का पर्याय है तथा साहित्यशास्त्रीय संदर्भ में यह काव्य से प्राप्त आनन्द का वाचक है। संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने रस शब्द के साहित्यशास्त्रीय अर्थ को लेते हुए उसका लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सामान्यतः संस्कृत काव्यशास्त्र में रस विवेचन का आरंभ आचार्य भरत से माना जाता है। इन्होंने नाट्यशास्त्र में नाटक के संदर्भ में रस की विवेचना करते हुए कहा है–'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।'[123] यद्यपि यह रस का लक्षण नहीं है, किंतु भरत ने उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'नाट्य जगत् में विभावादि का यह संयोग रस (आस्वाद) का जनक उस प्रकार है, जिस प्रकार अलौकिक संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों, मिष्ठान्नों और रासायनिक द्रव्यों का पारस्परिक संयोग हर्षोत्पादक षड्रसास्वाद को उत्पन्न कर देता है। स्थायिभावों

का यह आस्वाद तभी संभव है, जब ये 'नानाभावाभिनय' से प्रकट किए गए हों, और वाक् (वाचिक), अंग (आंगिक) तथा सत्त्व (सात्विक अभिनयों) से संयुक्त हो।'[124] भरत के उक्त सूत्र की व्याख्या आगामी विद्वान आचार्यों द्वारा की गई, जिनमें चार आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक तथा आनन्दवर्द्धन।

भट्ट लोल्लट

भट्टद्ध लोल्लट के मतानुसार 'अनुपाचित (अपरिपक्व) स्थायी भाव विभावादि का संयोग पाकर अर्थात् विभाव द्वारा जन्य अनुभाव द्वारा गम्य और व्यभिचारी भाव द्वारा पुष्ट होकर जब उपचित (परिपक्व) होता है, तभी इसका नाम रस पड़ता है। यह रस मुख्य रूप से अनुकार्य (वास्तविक रामादि) में रहता है और गौण रूप से नट में।'[125] आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में इस सिद्धांत के द्वितीय अंश में संशोधन करते हुए लिखा है कि 'विभावों से जो स्थायी रत्यादिक भाव उत्पन्न किया जाता है, अनुभावों से जो प्रतीति के योग्य किया जाता है तथा निर्वेदादि संचारी भावों की सहायता से जो पुष्ट किया जाता है और वास्तविक संबंध से नाटक में, राम, सीता आदि के रूप धारण करने वाले नट द्वारा उन्हीं के वेश-भूषा, वार्तालाप तथा चेष्टा आदि द्वारा व्यंजना व्यापार द्वारा प्रकट किया जाता है, उसी स्थायी भाव को रस कहते हैं।'[126]

भट्टलोल्लट के इस सिद्धांत का खंडन श्री शंकुक ने इस प्रकार किया है—

1. यदि उपचित स्थायी भाव रस कहलाता है तो यह उपचिति कितनी मात्रा तक होनी चाहिए। यदि इसे उच्चतम पराकाष्ठा तक स्वीकार कर लें तो हास्य रस के स्मित, अवहसित आदि छः भेद तथा विप्रलंभ श्रृंगार रस के अंतर्गत निरूपित काम की दस अवस्थाएँ असंगत हो जाएंगी क्योंकि उक्त स्थिति में इन विभिन्न रूपों में उत्तरोत्तर तारत्म्य के अंतर को स्वीकार नहीं किया जा सकता और यह भेद-कल्पना संभव नहीं हो सकती।[127]

2. विभाव और स्थायी भाव में उत्पादक-उत्पाद्य रूप कारण- कार्य भाव संबंध की स्वीकृति घटित नहीं होती। जैसे लोक में कुम्भकार के नष्ट हो जाने पर कुम्भ नष्ट नहीं होता, किंतु इधर काव्य में विभाव के नष्ट हो जाने पर स्थायी भावात्मक रस भी नष्ट हो जाता है।[128]

3. नट के माध्यम से वास्तविक रामादि द्वारा प्राप्त मूल रस का आस्वाद प्राप्त कर सकना सहृदय के लिए नितांत असंभव है, क्योंकि स्वयं नट को यह ज्ञात नहीं होता कि अनुकार्य को किस स्थिति में किस प्रकार के रस का आस्वाद प्राप्त किया होगा। यहाँ अनुकार्य शब्द से अभिप्राय रामायणादि में वर्णित पात्र भी नहीं लेना

चाहिए। किंतु यह लोल्लट का सिद्धांत इतना भ्रांत नहीं है, क्योंकि स्वयं शंकुक ने ही अन्यत्र कहा है कि 'जब तक सामाजिक नट को उसके अभिनय-कौशल के बल पर रामादि नहीं समझ पाता, तब तक उसे रसास्वाद प्राप्तं नहीं हो सकता।'[129]

शंकुक

भरत-सूत्र ने दूसरे व्याख्याता शंकुक हैं। इनके अनुसार, सामाजिक नट में जो कि कुशल अभिनय की तल्लीनता में अपने आपको भी रामादि समझने लग जाता है, राम आदि पात्रों के रत्यादि भावों का अनुमान कर लेता है, ऐसी स्थिति में ही सामाजिक को रस की अनुभूति होती है। यह अनुमान चार प्रकार के लौकिक अनुमानों से विलक्षण होता है। लौकिक अनुमानों की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशयात्मक तथा सादृश्यात्मक होती है, किंतु प्रेक्षक द्वारा नट को राम आदि समझने का अनुमान ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार चित्रतुरगन्याय से चित्र पर अंकित भागता हुआ अश्व न भागता हुआ भी भागता-सा प्रतीत होता है।[130]

शंकुक का यह मत भी पूर्णतः निर्दोष नहीं है। परवर्ती आचार्यों ने इसका खंडन करते हुए कहा है कि अनुमान तो वास्तविकता पर आधारित होता है, कृत्रिम विभावादि द्वारा इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है।

भट्टनायक

भट्टनायक ने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मतों का खंडन कर अपनी मौलिक शक्ति का परिचय दिया। उनका मत संक्षेप में इस प्रकार है—'काव्य या नाटक सुनने और देखने के बाद सामाजिकों में तीन क्रियाएँ होती हैं। पहले तो काव्य का अर्थ समझ में आता है, फिर उसका अनुशीलन होता है। इन अनुशीलन की प्रक्रिया में साधारणीकरण होता है अर्थात् सामाजिकों में यह भेद बुद्धि नहीं रहती कि जो कुछ पढ़ा या देखा जा रहा है उसका किसी अन्य से संबंध है या वह हमारा ही है। तत्पश्चात् सत्त्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं, जो भेदबुद्धि उत्पन्न करते हैं और फिर आत्मचैतन्य से प्रकाशित तथा साधारणीकृत स्थायी भावों का सामाजिक लोग अनुभव करने लगते हैं।'[131] भट्टनायक के इस सिद्धांत पर भी अनेक आक्षेप लगाए गए, परंतु इनकी सबसे बड़ी देन है—साधारणीकरण सिद्धांत—जो आगे चलकर सर्वमान्य हुआ।

अभिनवगुप्त

भरत-सूत्र के सर्वमान्य व्याख्याता अभिनवगुप्त हैं। इनका अभिव्यक्तिवादी सिद्धांत मूलतः शैव दर्शन पर आधृत है। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि

में व्यंग्य-व्यंजक संबंध है। अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के अलौकिक विभावन व्यापार अथवा साधारणीकरण द्वारा सहृदयों की वासना जाग्रत हो जाती है। वही रस की अभिव्यक्ति है। वास्तव में प्रत्येक सहृदय में रति, क्रोध, शोक आदि स्थायी भाव वासना या संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं जो अव्यक्त रहते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से वे दबे हुए स्थायी भाव व्यक्त हो जाते हैं। उन्हीं की आनन्दानुभूति 'रस' है।[132]

अभिनवगुप्त के उपरांत रसवाद की प्रतिष्ठा करने वाले प्रमुख आचार्य मम्मट और विश्वनाथ हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मकता को ही काव्य का प्राणतत्व माना। संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत लक्षण प्रायः सर्वमान्य हुआ है। रस का लक्षण देते हुए वे कहते हैं -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[133]

इस लक्षण के आधार पर रस के स्वरूप के विषय में कुछ तथ्य स्पष्ट होते हैं— 1. रस अपने आकार से अभिन्न रूप में आस्वादित किया जाता है, अर्थात् रस जिस रूप में आस्वादित होता है उससे भिन्न यह और किसी प्रकार की अनुभूति नहीं है। 2. रस का आविर्भाव सत्त्व गुण के उद्रेक की दशा में होता है। सत्त्व युक्त मन उसे कहते हैं जिससे रजोगुण और तमोगुण दबे हुए हो। इस दशा में सहृदय सांसारिक राग-द्वेष से मुक्त-सा हो जाता है। 3. रस अखण्ड है, इसका एक आशय यह है कि रसानुभूति में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूति नहीं होती, वह इन सभी की समंजित अनुभूति है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि यह सहृदय की आत्मा में अखण्ड रूप से आस्वादित होता है। 4. रस चिन्मय है। रस शुद्ध चेतन नहीं अपितु चेतनता प्रधान है। 5. रस वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है। रस के आस्वादन के समय अन्य किसी प्रकार के वेद अर्थात् ज्ञान का स्पर्श नहीं होता। 6. रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है, अर्थात् रस द्वारा सहृदय लगभग उस कोटि का आस्वाद प्राप्त करता है जैसा कोई साधक या योगी ब्रह्मप्राप्ति से पाता है। 7. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है अर्थात् वह लौकिक अनुभवों से भिन्न है। यह सामान्यतः होने वाले प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि अनुभवों से भी भिन्न है। 8. रस स्वप्रकाशानन्द है अर्थात् रस स्वयं में ही चेतनता से युक्त तथा आनंद रूप है। इस प्रकार यह चैतन्य के प्रकाश से युक्त आनंद है। इस प्रकार संस्कृत के विभिन्न आचार्यों के मतों को मिलाकर कहा जा सकता है कि 'शब्दार्थ के माध्यम से विशुद्ध भाव भूमिका में आत्मचैतन्य के आस्वाद का नाम रस है।'

आचार्य भरत ने आठ स्थायी भाव माने हैं—भय, अनुराग, करुणा, क्रोध, आश्चर्य, उत्साह, हास और घृणा।[134] ये मूल भाव हैं जो सदा मन में विद्यमान रहते हैं और काव्य के भी यही आठ स्थायी भाव माने गए हैं। आगे चलकर स्थायी भावों की संख्या में किंचित वृद्धि हुई और शास्त्रज्ञों ने यह प्रतिपादित किया कि निर्वेद भी स्थायी भाव है। स्थायी भावों की संख्या विस्तार में क्रमशः भक्ति एवं वात्सल्य को भी ले लिया गया और इस प्रकार स्थायी भाव ग्यारह हुए।[135] समस्त स्थायी भावों और उनसे निष्पन्न होने वाले रस इस प्रकार हैं—

स्थायी भाव	रस
रति	शृंगार
हास	हास्य
शोक	करुण
उत्साह	वीर
क्रोध	रौद्र
भय	भयानक
जुगुप्सा	वीभत्स
विस्मय	अद्भुत
निर्वेद	शान्त
वात्सल्य	वत्सल
ईश्वरानुरक्ति	भक्ति

रीति-कवियों का रस-निरूपण

कुछ अलंकारों-ग्रंथों के प्रणेताओं को छोड़कर प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों ने रस के संबंध में अपने विचार विस्तार से व्यक्त किए हैं। इस संबंध में सर्वप्रथम केशव प्रणीत रसिक-प्रिया का उल्लेख द्रष्टव्य है। उन्होंने रस की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

मिल विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सु अनूप।
व्यंग करै थिर भाव जो सोई रसु सुख रूप ॥[136]

वस्तुतः केशव का मुख्य उद्देश्य शृंगार-रस का प्रतिपादन करना था। यही कारण है कि उनके ग्रंथ के सोलह प्रकाशों में से चौदह प्रकाश शृंगार रस से संबंधित हैं। शृंगार के दोनों भेदों-संयोग और वियोग तथा वियोग के पूर्वानुराग, मान, करुण तथा प्रवास नामक भेदों का विशद वर्णन रसिक-प्रिया में किया गया है।

रस की अभिव्यक्ति के संबंध में चिंतामणि ने जो विवेचन किया है वह मम्मट और अभिनवगुप्त के सिद्धांतों पर आधृत है। रस को व्यंग्य मानते हुए उन्होंने कहा

है कि रसों का श्रृंगारादि नाम तो केवल वाचक अथवा साधारण अभिधान मात्र है। यदि रस को शृंगारादि नामों से पुकारा जाएगा, तो इस प्रकार रस का बंधन हो जाएगा, अर्थात् इससे रस के शब्दार्थ-मात्र की ही प्रतीति होगी, रसानुभूति की नहीं। यही कारण है कि रस वाचक न होकर व्यंग्य कहलाता है —

वाचक पद रसु यह जो सब साधारन नाम।
चिन्तामनि कवि कहत है समुझौ बुध अभिराम॥
इन शब्दन तें कहतहू बंधन रस की होइ।
यातें (हि) रस ठौर में व्यंग्य कहत सब कोइ॥[137]

रसाभिव्यक्ति के साधनों का उल्लेख करने के उपरांत इन्होंने नवरसों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इन रसों में भी उन्होंने शृंगार को रसरागतत्व की संज्ञा देकर उसके दो भेद किए हैं—संयोग और विप्रलम्भ। दम्पती के विलासपूर्ण विहार-वर्णन को संयोग कहते हैं और मिलन के अभाव को विप्रलम्भ। संयोग शृंगार में वे चुम्बन, आलिंगन आदि नाना प्रकार के भोगों को भोगते हैं। विप्रलम्भ शृंगार के चार प्रकार हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। विस्तार भय से यहाँ केवल कुछ के ही उदाहरण दिए जा रहे हैं—

मान होत प्रनय की कुटिल गति बिन कारन जो रोस।
दंपति को इरु सेज में प्रनय-मान बिन दोस।[138]

पूर्वराग

कब्हु मरन न वरनिये, जीवन कबहू होइ।
तौ पुनि राको ज्याइयौ, यों कवि सिक्षा कोइ॥[139]

चिंतामणि के पश्चात् कुलपति ने अपने ग्रंथ 'रस-रहस्य' में साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश और रसिक-प्रिया की सहायता से रस के विविध भावों, रसाभिव्यक्ति के साधनों-विभाव, अनुभाव और संचारीभाव, रस का स्वरूप एवं नवरसों का निरूपण किया है। रस के स्वरूप की चर्चा करते हुए वे कहते हैं- विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से व्यक्त स्थायी भाव रस कहलाता है, जो अत्यंत आनन्दकर है—

मिली विभाव अनुभाव अरु संचारी सु अनूप।
व्यंग कियो थिर भाव जो, सोई रस सुख भूप॥[140]

नवरसों में शृंगार रस का विवेचन करते हुए वे कहते हैं, जहाँ पति और पत्नी की रति प्रकट होती है वहाँ शृंगार रस होता है। नायक-नायिका के रमण को संयोग कहते हैं और मिलन की बाधा को वियोग —

पति तिय रति प्रगटै जहाँ सोई रस शृंगार।
इक संयोग वियोग करि, ताके द्वय परकार॥

जेहि नायक-नायिका रमें सु है संयोग।
जहाँ अटक है मिलन की ताही कहत वियोग॥[141]

इसी प्रकार अन्य सभी रसों का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर वीर रस और रौद्र रस में अंतर बताते हुए वे कहते हैं कि वीर रस में तो समतापूर्ण (विवेकपूर्ण) उत्साह बना रहता है, पर रौद्र रूप में विवेक अथवा समता की सुधि भूल जाने के कारण अविवेक पूर्ण क्रोध बना रहता है -

समता की सुधि है जहाँ, सु है युद्ध उत्साह।
जहाँ भूलै सुधि सम असम, सो है क्रोध प्रवाह॥[142]

रीतिकाल के प्रमुख कवि देव ने रस-निरूपण को अपने प्रत्येक ग्रंथ में स्थान दिया है.। वे रस को काव्य का सर्वोपरि अंग स्वीकार करते हैं—काव्य का सार अर्थात् आधार निःसंदेह शब्दार्थ है, पर शब्दार्थ का कवित्व रस पर ही आधृत है—'काव्य सारशब्दार्थको रस तिहि काव्यासार।'[143] सभी रसों में इन्होंने शृंगार रस को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है—रसों की संख्या नौ मानना उचित नहीं है। वस्तुतः रस एक ही है, वह है शृंगार। शृंगार रस का महत्त्व सूचक पद इस प्रकार है—

भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजत्व।
ज्यों कंकन मनिकनक को ताहि में रव रत्न॥[144]

आचार्य सोमनाथ ने भानुदत्त की रसतरंगिणी को अपना मूल आधार बनाकर रस निरूपण किया है। रसाभिव्यक्ति के साधनों की चर्चा करते समय उनकी दृष्टि विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव पर अधिक केंद्रित रही है। रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के द्वारा व्यंजित स्थायी भाव रस कहलाता है। रसमय को सुनकर सहृदय जिस आनन्द में मग्न होकर अन्य सब सांसारिक सुधि खो बैठता है, वही रस का स्वरूप है —

जहं विभाव अनुभाव अरु सहित संचारी भाव।
व्यंग्य कियो थिर भाव इहि सो रस रूप बताव॥
सुनि कवित्त को चित्त मधि सुधि न रहे कुछ और।
होइ मगन वहि मोद में सो रस कहि सिर मौर॥[145]

नवरस के निरूपण में सोमनाथ ने नवीन शैली अपनायी है। उन्होंने अपने एक पद्य में नव रसों के वर्णों का उल्लेख कर अगले पद्य में उनके देवताओं का वर्णन किया है।[146] सोमनाथ ने शृंगार रस के प्रमुख दो भेद माने हैं—संयोग और वियोग—

दंपति मिलि विधुर न जहाँ मनमथ कला प्रवीन।
ताहि संजोग सिंगार कहि वरनत सुकवि कुलीन॥[147]
प्रीतम के बिछुरनि विषै जो रस अपजतु जाइ।
विप्रलम्भ सिंगार सो कहत सकल कविराइ॥[148]

सोमनाथ ने रस के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति भावसंधि और भावशबलता की भी चर्चा की है। इनमें से उन्होंने प्रथम तीन के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए हैं तथा शेष चार के केवल उदाहरण। रसाभास का वर्णन इस प्रकार है–

अनलायक रस बरनिये जहं कवित्त में आय।
रसाभास तासों कहै सकल रसिक सुख पाय ॥[149]

भिखारीदास के दो ग्रंथों में रस से संबंधित विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है–रस सारांश तथा श्रृंगार निर्णय। इनके निरूपण का प्रमुख आधार-ग्रंथ साहित्यदर्पण है। इन्होंने स्थायी भावों की संख्या आठ मानी है -प्रीति, हंसी, शोक, रिस, उत्साह, भय, घृणा और विस्मय। इन स्थायी भावों से क्रमशः एक-एक रस की उत्पत्ति होती है–

प्रीति हंसी अरु सोक रिस, उत्साहो भय मित्त।
चिन, विस्मय थिर भाव ये आठ बसैं सुभ चित्त ॥[150]

इन्होंने आठ स्थायीभावों के अनुसार आठ रस ही माने हैं तथा शांत रस की केवल काव्य में स्वीकृति की है। इसका स्थायी भाव निर्वेद है–

नाटक में रस आठ ही कह्यो भरत ऋषिराइ।
अनत नवम किय सान्त रस, तहं निर्वेद थाइ ॥[151]

भिखारीदास ने श्रृंगार रस के पहले दो प्रसिद्ध भेद स्वीकार किए–संयोग तथा वियोग, फिर इनके और दो-दो भेदों की गणना की–सम और मिश्रित। सम श्रृंगार से उनका अभिप्राय है जहाँ नायक अथवा नायिका का केवल संयोगात्मक या केवल वियोगात्मक वर्णन किया जाए और मिश्रित श्रृंगार से उनका अभिप्राय है जहाँ संयोग में वियोग का और वियोग में संयोग का वर्णन किया जाए–

संयोग ही वियोग है, वियोग ही संयोग।
करि मिश्रित श्रृंगार को, बरनत है सब लोग ॥[152]

प्रतापसाहि रचित काव्यविलास के 'धुनि रूप वर्णन' नामक तृतीय प्रकाश में रस-निरूपण को स्थान मिला है। इन्होंने संस्कृत के ग्रंथों के साथ रसरहस्य तथा रस-सारांश आदि हिंदी ग्रंथों का भी आश्रय लिया है। प्रतापसाहि ने काव्यप्रकाश के आधार पर भरत-सूत्र के प्रसिद्ध चार व्याख्याताओं के सिद्धांतों को उल्लिखित करने का प्रयास किया है, पर इनका वास्तविक स्वरूप करने में वे सफल नहीं हो पाए। रस के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए ये कहते हैं–

मिलि विभाव अनुभाव मिलि, मिलि संचारीभाव।
व्यंग्य होत थाई तहा रस कहि सो कविराव ॥[153]

इन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में केवल श्रृंगार रस का ही वर्णन किया है। इनके अनुसार श्रृंगार रस के दो भेद हैं–संयोग और वियोग–

रति प्रगटै दंपति मिलै सो कहि रस शृंगार।
कहि संयोग वियोग द्वै तासु भेद निरधार॥[154]

प्रतापसाहि ने संयोग शृंगार के दो भेद तथा वियोग शृंगार के पाँच भेद—पूर्वानुराग, मान, प्रवास, उत्कण्ठा तथा शाप—स्वीकार किए हैं। संयोग शृंगार के दो भेदों का नामोल्लेख नहीं मिलता—

द्वै विधि कहत संजोग पुनि पाँच प्रकार वियोग।
पृथक् पृथक् इन सवन के भेद कहत कवि लोग॥
पूर्वराग पुनि मान कहि, बहुरि प्रवास बखानि।
उत्कण्ठा पुनि श्राप कहि, पाँच भाँति पहिचानि॥[155]

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त रीतिकाल में कुछ अन्य रस निरूपक ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं, जिनका महत्त्व बहुत अधिक नहीं है।

रीति-सिद्धांत

रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—मार्ग, प्रणाली, सरणि, पद्धति, पंथ, वीथि, गति, प्रस्थान आदि। काव्यशास्त्र के संदर्भ में 'रीति' शब्द का अर्थ है लेखक का विशिष्ट लेखन-प्रकार। यद्यपि रीति-सिद्धांत की स्थापना नौवीं शताब्दी के मध्य में आचार्य वामन ने की थी, किंतु इनसे पूर्व भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अप्रत्यक्ष रूप से इसका विवेचन किया था। उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है —

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली गौड्रमागधी॥[156]

अर्थात् भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति आवन्ति, दक्षिण भारत की दक्षिणात्य उड़ीसा-मगध आदि पूर्व में औड्रमागधी तथा पांचाल या मध्य देश की पांचाली है। बाणभट्ट ने भी कहा है कि उदीच्य (उत्तर के लोग) श्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य (पश्चिम के) लोग केवल अर्थ को पसंद करते हैं, दाक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा के प्रति विशेष आदर दृष्टिगत होता है और गौडीय (पूर्व के) कवियों में केवल वर्णों का आडंबर दिखायी देता है।[157] इसके पश्चात् दण्डी ने रीति के लिए 'मार्ग' तथा 'वर्त्य' शब्दों का प्रयोग किया है।[158] वस्तुतः रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य वामन को ही है। आचार्य वामन ने इसे 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहते हुए इसे काव्य का आधारभूत तत्त्व माना। उनके अनुसार रीति विशिष्ट पद रचना है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः'। विशिष्ट का अर्थ है गुण संपन्न—'विशेषणोगुणात्मा'—गुण से तात्पर्य है काव्य के शोभाकारक धर्म—'काव्यशोभायाः कर्त्तारा धर्मागुणाः।' काव्य शब्द के प्रधान रूप से दो अर्थ है—वे शब्दार्थ जो ओजादि

गुणों और यमकोपमादि अलंकारों से शोभित हो, पर गौण रूप से काव्य शब्द का अर्थ शब्दार्थ का द्योतक वाक्य भी है।'[159] वामन को रीति के ही अंतर्गत गुणों के माध्यम से, काव्य की सभी रूप विधाओं का समावेश भी अभीष्ट था। उनके कथनानुसार तीनों रीतियों में संपूर्ण काव्य-सौंदर्य उस प्रकार समाविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र समाविष्ट हो जाता है।[160]

निष्कर्ष यह है कि कोरी पद-रचना रीति नहीं कहलाती। वह गुणों से विशिष्ट रीति ही होती है। वामन के मतानुसार ओजादि दस गुण शब्दगत भी है और अर्थगत भी। अतः रीति शब्द से वामन का अभिप्राय केवल शब्दगत सौंदर्य अथवा घटना मात्र नहीं है। अपितु अर्थगत सौंदर्य के द्योतक भी हैं। समष्टि रूप में वामन की रीति का स्वरूप इस प्रकार है—काव्य के शोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से मुक्त पद रचना को रीति कहते हैं।[161]

वामन ने रीति को विशिष्ट पदरचना कहा था, आनन्दवर्द्धन ने उसी को संघटना अर्थात् सम्यक् घटना नाम दिया। 'पद' रचना और घटना पर्यायवाची शब्द हैं। अंतर केवल विशिष्टा और सम्यक् विशेषणों का है। ये दोनों आचार्यों के विभेदक दृष्टिकोण का परिचायक है। वामन के मतानुसार पद रचना में वैशिष्ट्य गुणों के कारण आता है और गुण पदरचना के आश्रित हैं। आनन्दवर्द्धन के अनुसार घटना का सम्यकत्व तभी है, जब वह गुणों के आश्रय में रह कर रस को अभिव्यक्त करे।[162]

आनन्दवर्द्धन के उपरांत राजशेखर ने और उनके अनुकरण पर भोजराज ने शृंगारप्रकाश में रीति को 'वचनविन्यासक्रम' कहा है। यह शब्द भी पदरचना अथवा संघटना का ही पर्याय है। कुन्तक ने तीन रीतियों को तीन मार्ग कहा। उनके अनुसार तीन मार्ग हैं—सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग -

संप्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥[163]

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीङ् (गतौ) धातु से बताकर इस शंका का समाधान भी प्रकारांतर से कर दिया है कि रीति शब्द मार्ग, वर्त्म, पन्थाः आदि का पर्याय क्यों माना जाता है। इन्होंने मूलतः छः रीतियों का उल्लेख किया है—

वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढ़ा रीतिर्निगद्यते ॥[164]

राजशेखर, कुन्तक और भोज ने रीति और रस में कोई संबंध स्थापित नहीं किया था। यह काम ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ ने किया। मम्मट ने वृत्ति (रीति) को रसविषयक व्यापार कहा[165] और विश्वनाथ ने रीति को रस, भावादि की उपकारिका माना।[166] आनन्दवर्द्धन के संघटना शब्द के अनुकरण पर विश्वनाथ

ने रीति को पद संघटना कहा। "आनन्दवर्द्धन ने रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन का उपहास उड़ाया तो विश्वनाथ ने रीति को आत्मा के आकाश से उतारकर अंग-संस्थान के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया।[167]

वामन ने रीति को गुणों पर आधृत करके उसके तीन प्राकर माने हैं—वैदर्भी, गौडी और पांचाली। इनमें से वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया क्योंकि यह समस्त गुणों से गुम्फित, दोषों से सर्वथा रहित तथा वीणा के स्वरों जैसी मधुर रीति है—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुंणगुम्पिफता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥[168]

गौडी रीति को उन्होंने केवल ओज और कांति दो गुणों वाली समासयुक्त उद्भट पदावली माना—

समस्तात्युद्भट पदामोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥[169]

वामन सम्मत रीति के उपर्युक्त तीन भेद आज प्रायः सर्वमान्य हैं।

रीतिकालीन आचार्यों द्वारा अभीष्ट 'रीति' शब्द का दूसरा अर्थ परंपरा सम्मत है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

चिंतामणि

चिंतामणि ने विश्वनाथ के समान रीतियों का स्वतंत्र निरूपण न करके मम्मट के समान अनुप्रास नामक अलंकार के अंतर्गत इसकी चर्चा की है। अनुप्रास अलंकार के दो भेद हैं—छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास। वृत्यनुप्रास वृत्तियों पर आश्रित होता है। वृत्तियाँ तीन हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना उपनागरिका कहलाती है तथा ओज गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना, कोमला कहलाती है। यही तीनों वृत्तियाँ क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियाँ भी कहलाती हैं—

समता जो आखरन की अनुप्रास जो जानि।
छेक वृत्ति द्वै भाँति सो द्वै विधि ताहि बखानि॥
माधुर्यो विंजक वरन अनागरिका होइ।
मिलि प्रसाद पुनि कोमला, पुरुषा वोज समोइ।
वैदर्भी पंचाल जो गौडी धरम नवीन।
रीति कहत कोउ उन्हें वृतिजे हैं ए तीन॥[170]

कुलपति

इन्होंने भी चिंतामणि के समान वृत्यनुप्रास के अंतर्गत उपनागरिका आदि तीनों

वृत्तियों का विवेचन कर उन्हें ही वैदर्भी आदि तीनों रीतियों की संज्ञा दी है–

उपनागरिका मधुर गुन व्यंजक वरनन होय।
ओज प्रकाशक वरन तें पुरुष कहिये सोय॥
वरन प्रकाश प्रसाद को करे कोमला सोय।
तीन वृत्ति गुण भेद तें कहै बड़े कवि लोय।
वैदरभी गौडी कहत पुनि पांचाली जानि।
इनहीं सो कोऊ, कवी, वरनत रीति बखानि॥[171]

सोमनाथ

इनका मत इस प्रकार है–'वृत्यानुप्रास में माधुर्य, ओज अरु प्रसाद क्रम तें गान होइ तो उपनागरिका अरु परुषा अरु कोमला वृत्ति जानिये। इन्हीं सो वैदर्भी गौडी, पांचाली रीति कहत हैं।[172]

अलंकार-सिद्धांत

अलंकार का शाब्दिक अर्थ शोभा-प्रसाधन या शोभा-उपकरण अर्थात् आभूषण है 'अलंकरोति इति अलंकारः' तथा 'अलंक्रियेतेऽनेन इति अलंकारः'। सामान्य अर्थ में जैसे अलंकार या आभूषण सौंदर्य-प्रसाधन माने जाते हैं, उसी प्रकार काव्यशास्त्र में अलंकार कवि-वाणी के सौंदर्य-प्रसाधन या उपकरण हैं।[173] संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अलंकार की अनेक परिभाषाएँ दी है। किंतु काव्यशास्त्रीय धारणाओं के विकास-क्रम के साथ-साथ अलंकार के लक्षण में भी परिवर्तन होते गए। भामह ने अलंकार के संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि जिस प्रकार कान्त होने पर भी वनिता-मुख भूषणों के बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार सुन्दर वाक् (काव्य) भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं पाता–

रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥[174]

दण्डी ने अलंकार का स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार 'जो धर्म काव्य की शोभा करते हैं, वो अलंकार कहलाते हैं -

काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।[175]

इनकी इस धारणा के आधार पर अनुप्रास, उपमादि तो अलंकार हैं ही, गुण, रस, ध्वनि आदि अन्य काव्य तत्त्व भी अलंकार सिद्ध होते हैं।

वामन ने काव्यगत समस्त सौंदर्य को अलंकार कहते हुए दण्डी का समर्थन तो किया है पर उनका यह अलंकार शब्द न तो उपमा आदि अंलकारों का पर्याय है[176], और न वामन अलंकार को काव्य का नित्य धर्म मानते थे।[177] इनके पश्चात्

आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को काव्य के अंग (शब्दार्थ) के आश्रित मानते हुए इन्हें लौकिक आभूषणों कटक-कुण्डल आदि के समान शब्दार्थ-रूप शरीर को शोभाजनक धर्म कहा है–

अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।[178]

आनन्दवर्द्धन ने अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते समय उसका रस के साथ कोई संबंध निर्दिष्ट नहीं किया। यह कार्य मम्मट[179] और विश्वनाथ[180] ने किया। इनके बाद जगन्नाथ के अनुसार अलंकार उसे कहते हैं जो काव्य की आत्मा व्यंग्य की रमणीयता के प्रयोजक हैं -

काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः[181]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अलंकार के स्वरूप के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं–

(क) अलंकार शब्दार्थ के शोभाकारक धर्म है।
(ख) ये शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं।
(ग) ये शब्दार्थ की शोभा द्वारा परंपरा-संबंध से रस का भी उपकार करते हैं।
(घ) और कभी रस का उपकार नहीं भी करते।

अलंकारों की संख्या एवं प्रकार

वाणी-विलास की ज्यों-ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गई, अलंकारों की संख्या में भी त्यों-त्यों वृद्धि होती गई। भरत ने केवल चार अलंकार माने थे, भामह ने 39, दण्डी ने 35, उद्भट ने 40, वामन ने 33, रुद्रट ने 52, भोजराज ने 72, मम्मट ने 67, रूय्यक ने 81, जयदेव ने 100, विश्वनाथ ने 82, अप्पय्य दीक्षित ने 124 और जगन्नाथ ने 71 अलंकार माने।[182] समस्त अलंकारों को तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है–शब्द, अर्थ और शब्दार्थ। मम्मट के मत में इस विभाजन का आधार अन्वय-व्यतिरेक भाव है[183] और रूय्यक के मत में आश्रयभिभाव।[184] जिसके रहने पर जो रहे, वह अन्वय कहलाता है और जिसके न रहने पर जो न रहे, वह व्यतिरेक। इसी आधार पर मम्मट ने अनुप्रासादि को शब्दालंकार, उपमादि को अर्थालंकार तथा पुनरुक्तवदाभास, श्लिष्ट परंपरित रूपक और शब्द हेतुक अर्थांतरन्यास को उभयालंकार माना है।[185]

रीति-कवियों की अलंकार-विषयक धारणाएँ

रीतिकाल में अलंकार-सिद्धांत पर प्रकाश डालने वाले प्रमुख आचार्य हैं– केशव, चिंतामणि, मतिराम, भूषण, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, पद्माकर तथा प्रतापसाहि आदि।

केशव

केशव ने अलंकार को कविता का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया है। उनके कथनानुसार सर्वगुण संपन्न अलंकार रहित कविता भी उसी प्रकार शोभाहीन है, जिस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न आभूषण रहित नारी—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन, सरस सुवृत।
भूषण बिनु न विराजई कविता वनिता मितत ॥[186]

इसके उपरांत केशव ने वर्ण्य-विषय को तथा उसे भूषित करने के साधनों को अलंकार नाम दिया है। प्रथम को उन्होंने साधारण अलंकार कहा है और द्वितीय को विशिष्ट—

कविन कहै कवितान के अलंकार द्वै रूप।
एक कहे साधारणै, एक विशिष्ट सरूप ॥[187]

चिंतामणि

अलंकार निरूपण के लिए चिंतामणि ने विश्वनाथ और मम्मट के अतिरिक्त अप्पय्य दीक्षित के ग्रंथों की भी सहायता ली है। इन्होंने स्थान-स्थान पर इन आचार्यों के प्रति आभार-प्रदर्शन भी किया है—

मम्मट अचारच इहां ऐसो किये विवेक।
परिसंख्यालंकार को समुझौ पंडित एक ॥[188]

चिंतामणि के कथनानुसार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों का धर्म शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर को ठीक उसी प्रकार अलंकृत करना है, जिस प्रकार लौकिक अलंकार मानव शरीर को सजाते हैं—

सब्द अर्थ तनु वर्णिये जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन मानि ॥[189]
अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यों जानि ॥[190]

चिंतामणि ने अलंकार के दो प्रमुख भेद माने हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार उभयालंकार को इन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इनके कथनानुसार मम्मट सम्मत अन्वयव्यतिरेक ही इस विभाजन की प्रमुख कसौटी है -

वक्रोक्ति अनुप्रास पुनं कहि लाटानुप्रास।
जमक स्लेषो चित्त पुनि पुनरुक्तवदाभास ॥
सात शब्दालंकार ये, तिन में शब्द जो होइ।
ताहीं ते पर्जाय पद दैन न भासै कोई ॥[191]

अर्थात् वक्रोक्ति आदि सात अलंकार शब्दालंकार इसलिए हैं कि इनमें जिन

शब्दों के कारण चमत्कार होता है, उनके पर्यायवाची शब्द रख देने से वह चमत्कार समाप्त हो जाता है।

चिंतामणि के पश्चात् मतिराम ने अप्पय्य दीक्षित से प्रेरित होकर अपने ग्रंथ ललितललाम में पहली बार हिन्दी में केवल 100 अर्थालंकारों[192] को प्रस्तुत करके सुगठित अलंकार-ग्रंथों की एक परंपरा स्थापित की। भूषण ने अपने ग्रंथ 'शिवराज भूषण' में 100 अर्थालंकार, 4 शब्दालंकार (अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास और चित्र तथा उभयालंकार संकर कुल मिलाकर 105 अलंकारों का निरूपण किया है।[193]

• आचार्य कुंतक का अलंकार संबंधी दृष्टिकोण ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप है। इनके कथनानुसार कविता-कामिनी की आत्मा ध्वनि (व्यंग्यार्थ) है, दोहा शब्दार्थ और अलंकार (शब्दार्थ रूप शरीर के) आभूषण हैं—

व्यंग जीव, ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण, भूषण भूषणौ दूषण दूषण एह॥[194]

इन्होंने शब्दालंकारों में सर्वप्रथम वक्रोक्ति को स्थान दिया है और अर्थालंकारों में उपमा को। इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि अलंकारों का चमत्कार उक्ति-विशेष पर आधृत है, अतः वक्रोक्ति का निरूपण पहले किया जाता है। इसी प्रकार उपमान और उपमेय अर्थालंकारों के प्राण हैं। अतः सर्वप्रथम उपमा का वर्णन किया जाता है —

क. उक्ति भेद तें होत है, अलंकार यह जानि।
वक्र उक्ति याते कही, द्वै विधि प्रथम बखानि॥[195]
ख. उपमान रु उपमेय हैं अलंकार के प्रान।
तातें इनको प्रथम ही कहियत रूप बखान॥[196]

सोमनाथ

सोमनाथ के अलंकार निरूपण के प्रमुख आधार ग्रंथ काव्यप्रकाश, कुवलयानन्द, कुलपति कृत रसरहस्य तथा जसवंतसिंह कृत भाषा-भूषण हैं। इन्होंने मम्मट के समान अपने काव्य लक्षण में यद्यपि अलंकार की अनिवार्यता का प्रश्न नहीं उठाया, पर इन्हें यह स्वीकार अवश्य है। इनका मत है कि रस तो नित्य रस का उत्कर्षक है पर अलंकार कभी उसका उत्कर्ष करता है, कभी उसका अपकर्ष करता है और कभी न उसका उत्कर्ष करता है न अपकर्ष—

गुण सदा ए रस है। और अलंकार कहूँ रस को पोषत है। कहूँ उदास, कहूँ दूषक होय है।[197]

सोमनाथ ने कुछ 102 अर्थालंकारों का वर्णन किया है तथा शब्दालंकारों में इन्होंने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र काव्य को मान्यता प्रदान की है।

इन्होंने प्रायः अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत करने के लिए दोहों का प्रयोग किया है तथा उदाहरणों के लिए कवित्त-सवैयों का। इनके विश्लेषण की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन्होंने अलंकारों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए गद्य का भी न्यूनाधिक प्रयोग किया है।

भिखारीदास

आचार्य भिखारीदास ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'काव्य-निर्णय' में अलंकारों का विशद् वर्णन किया है। इनका मत है कि अलंकार सरस-रचना का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इसके बिना भी कविता रसयुक्त हो सकती है। यह अलग प्रश्न है कि कुशल कवियों की रचना में दोनों का प्रयोग दिखाई देता है, यहाँ तक कि एक पद्य में कई-कई अलंकार भी (संकट अथवा संसृष्टि रूप में) समाविष्ट हो सकते हैं—

अलंकार बिनु रसहु है, रसो अलंकृत छंडि।
सुकवि वचन-रचनान सों, देह दुहुँन को मंडि ॥[198]

भिखारीदास ने शब्दालंकारों की संख्या दस मानी है—अनुप्रास, लाटानुप्रास, वीप्सा, यमक, सिंहावलोकन, श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास।[199] अर्थालंकारों के 96 भेदों को 11 वर्गों में विभाजित किया है, वर्गों के नाम इस प्रकार है—उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति विरुद्ध, उल्लास, सम, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, यथासंख्य तथा दीपक।[200]

प्रतापसाहि

अन्य रीतिकालीन आचार्यों की अपेक्षा प्रतापसाहि का अलंकार प्रसंग शास्त्रीय दृष्टि से शिथिल तथा कहीं-कहीं भ्रान्त भी है। इनके कथानुसार अलंकार का उद्देश्य शब्द और अर्थ को चमत्कृत करना मात्र है। इसी कारण वह रस और ध्वनि से पूर्णतः पृथक् है—

रस अरु व्यंग्य दुहून तें जुदो परै पहिचानि।
अर्थ चमत्कृत सब्द में अलंकार सो जाति ॥[201]

चित्र-काव्य शब्दालंकार और अर्थालंकार का पर्याय है। जहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा शब्दार्थ बलवान रहता है, वहीं चित्र काव्य माना जाता है। इस काव्य में शब्द और व्यंग्य को आच्छादित कर देते है, इसी कारण इसे अधम काव्य भी कहते हैं -

जहाँ व्यंग्य नहि वणिये शब्द अर्थ बलवान।
शब्द चित्र यक अर्थ चित्र अधम काव्य सो जान ॥[202]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों का अलंकार निरूपण लक्षणों की शास्त्र सम्मतता और सुगमता की दृष्टि से उल्लेखनीय

है। प्रायः सभी कवियों ने इस निरूपण में मम्मट के काव्य प्रकाश को आधार-रूप में स्वीकार किया है।

वक्रोक्ति सिद्धांत

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। यद्यपि इनसे पूर्व रीति, ध्वनि आदि अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की भाँति वक्रोक्ति शब्द भी व्यापक और संकुचित रूपों में प्रयुक्त हो चुका था तथापि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य कुन्तक ही हैं। वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ का संकेत बाणभट्ट के निम्न कथन में मिलता है—

नवोक्तयो जातिग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥[203]

इसमें वक्रोक्ति के तत्त्वों का उल्लेख है—नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट अक्षर बन्ध—ये सभी एक साथ दुर्लभ होते हैं।

काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति के व्यापक रूप का वर्णन किया तथा वामन, रुद्रट और आनन्दवर्द्धन ने इसे संकुचित रूप को ग्रहण किया है। भामह इसे अतिशयोक्ति का पर्याय मानते हैं तथा समस्त अलंकारों का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते हैं—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥[204]

दण्डी ने संपूर्ण वाङ्मय को दो वर्गों में बांटा—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति को छोड़कर अन्य सभी उपमा आदि अलंकारों को वक्रोक्ति का पर्याय स्वीकार किया। अपने इस वक्तव्य का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि स्वाभावोक्ति में तो वस्तु वर्णन साक्षात् रूप से किया जाता है जबकि वक्रोक्ति में यह वर्णन वक्रंता से किया जाता है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥[205]

वामन के अनुसार—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः अर्थात् सादृश्य पर आधारित गौणी लक्षणा वक्रोक्ति अलंकार कहलाता है।[206] रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार मानते हुए इसके दो भेदों का उल्लेख किया—काकु वक्रोक्ति तथा सभंग वक्रोक्ति।[207] आनन्दवर्द्धन ने इसे एक वाच्यालंकार मात्र स्वीकार किया है—

तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकारव्यवहार एव।[208]

कुन्तक के अनुसार कवि कौशल जन्य शोभा से युक्त वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भंगी-भणितिरुच्यते।' उनके अनुसार केवल शब्द वक्रता से

काव्य-सौंदर्य उत्पन्न नहीं होता वरन् हृदय को चमत्कृत करने वाली क्षमता-शब्द और अर्थ दोनों में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार तिल में तेल। कुन्तक ने अलंकार, रस, ध्वनि आदि सभी को वक्रोक्ति सिद्धांत में समाविष्ट करके उसके छः भेद स्वीकार किए है—वर्ण विन्यास वक्रता, पदपूर्वार्ध वक्रता, प्रत्यय वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबंध वक्रता।[209] कुन्तक ने एक ओर वक्रोक्ति को काव्य का अपूर्व अलंकार कहा है और दूसरी ओर इसे विचित्र अभिधा। इससे प्रतीत होता है अलंकार और ध्वनि से प्रभावित होते हुए भी वे वक्रोक्ति को इन दोनों तत्त्वों की भाँति व्यापक अर्थ में प्रतिपादित करना चाहते थे। हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में वक्रोक्ति की भी चर्चा की है, किंतु यह उल्लेख संस्कृत आचार्यों की भाँति विस्तृत एवं व्यापक नहीं है। कुछ आचार्यों ने रुद्रट की वक्रोक्ति विषयक धारणा को सामने रखकर अपने-अपने मत उद्धृत कर दिए है, परंतु इसमें मौलिकता का नितांत अभाव है। यहाँ पर रीतिकालीन आचार्यों में से केवल तीन आचार्यों के वक्रोक्ति सम्मत लक्षणों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

जसवंत सिंह— वक्रोक्ति स्वर श्लेषसों अर्थ पेफर जो होय।
रसिक अपूरब हौ पिया बुरौ कहत नहीं कोई ॥[210]

भूषण— जहाँ श्लेषसो काकूसो अर्थ लगावें और।
वक्र उक्ति वाकों कहत, भूषण कवि सर मौर ॥[211]

भिखारीदास— काकु वचन अरु श्लेष करि और अर्थ लै जायी।
सो वक्रोक्ति सुबरनिय उत्तम काव्य सुबायी। ।[212]

निष्कर्ष

समस्त रीतिकालीन साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् इस तथ्य को स्वीकार करने में किंचित-मात्र संकोच नहीं होता कि रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों का सर्वप्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की विस्तृत एवं प्रौढ़ परंपरा को हिन्दी में सरल एवं सरल रूप में अवतरित किया। यह सत्य है कि रीति आचार्यो ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की चर्चा करते समय संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को आधार रूप में ग्रहण किया है, कई स्थलों पर तो उन्होंने संस्कृत के लक्षणों का मात्र अनुवाद ही प्रस्तुत किया है किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में उनकी देन नगण्य है। रीतिकालीन आचार्यों की देन यह है कि इन्होंने रस विषयक महत्त्वपूर्ण तत्त्व को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त किया और रसराज शृंगार का दो शताब्दियों तक इतना विशद विवेचन किया कि विभिन्न विद्वानों ने रीतिकाल का नामकरण ही 'शृंगार-काल' कर दिया। पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् काव्यशास्त्र की जो परंपरा विच्छिन्न होने लगी थी, रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों ने उसे पुनः जीवित

करके विद्वानों का ध्यान काव्यशास्त्रीय तत्त्वों को ओर आकृष्ट किया।

रीतिकालीन वातावरण में पांडित्य प्रदर्शन एवं चमत्कार प्रियता की प्रवृत्तियों की प्रधानता थी। इस युग में कवि एक साथ दो दायित्वों का निर्वाह कर रहे थे—कवि तथा आचार्य का। कवि होने की दृष्टि से ये विद्वान आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल शृंगारिक तथा स्तुतिपरक रचनाओं को प्रणयन करने लगे तथा आचार्य कर्म का निर्वाह करने के लिए इन्होंने काव्यशास्त्रीय अंगों का विवेचन करना आरंभ किया। चूँकि इस समय पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना प्रबल थी, अतः इन विद्वानों ने संस्कृत के आचार्यों की भाँति सिद्धांत निरूपक ग्रंथों की रचना की। संभवतः इसी कारण रीतिकालीन आचार्य-कवि अपने ग्रंथों को संस्कृत की छाया से दूर नहीं रख पाए। सभी रीति आचार्यों ने मम्मट, विश्वनाथ, रुद्रट, कुन्तक, अभिनवगुप्त, आनन्दवर्द्धन आदि संस्कृताचार्यों का अनुकरण करके काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-गुण-दोष, रीति, ध्वनि, अलंकार रस, वक्रोक्ति आदि सिद्धांतों का विशद निरूपण किया है।

संदर्भ

1. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 15
2. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 90
3. नाट्यशास्त्र, भरत
4. काव्यालंकार (भामह), 1/16
5. काव्यालंकारसूत्र (वामन), 1/1/1
6. वक्रोक्तिजीवित, 1/7
7. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, सू. 1
8. साहित्यदर्पण, 1/3
9. रसगंगाधर, 1/1
10. कविकुलकल्पतरु, 1/7
11. रसरहस्य, 1-29-20
12. वही, 1/20
13. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 78
14. वही, पृ. 80
15. रसपीयूषनिधि, 7/2
16. काव्यनिर्णय, 1/13
17. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 84
18. काव्यादर्श, 1/103
19. अग्निपुराण, 337/3,4
20. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/3/1
21. काव्यप्रकाश, 1/3

22. काव्यालंकार, 1/15
23. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, डॉ. सत्यदेव चौधरी, शांतिस्वरूप गुप्त, पृ. 6
24. रसगंगाधर, पृ. 9
25. वाग्भटालंकार, 1/4
26. काव्यादर्श, 1/104
27. ध्वन्यालोक, 13/6 (वृति)
28. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 99
29. काव्य-निर्णय, 1/12
30. रसयीयूषनिधि, 7/4, 5
31. काव्यविलास, 1/12
32. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 106
33. अग्निपुराण, 338/7
34. काव्यालंकार, 1/2
35. काव्यालंकार (रु.), 12/1
36. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/1/5
37. वक्रोक्तिजीवित, 1/3,4
38. काव्यप्रकाश, 1/2
39. रसरहस्य, 1/32
40. रसपीयूषनिधि, 7/3
41. काव्यनिर्णय, 1/11
42. काव्यविलास, 1/9
43. काव्यांगदर्पण, डॉ. विजयबहादुर अवस्थी, पृ. 157
44. नाट्यशास्त्र, 17/94
45. काव्यादर्श, 1/42
46. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 3/1/1
47. ध्वन्यालोक, 2/6
48. काव्यप्रकाश (अष्टम उल्लास), सू. 1
49. साहित्यदर्पण, 8/1
50. काव्यांगदर्पण, डॉ. विजयवहादुर अवस्थी, पृ. 158
51. कविकुलकल्पतरु, 1/8
52. वही, 1/53
53. वही, 1/19
54. रसपीयूषनिधि, 21/1
55. काव्य निर्णय, 19/62, 64
56. काव्यनिर्णय, 19/62, 64
57. काव्यविलास, 5/1, 3

58. नाट्यशास्त्र, 17/94
59. काव्यालंकार, 1/11, 12
60. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/11, 12
61. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 476
62. ध्वन्यालोक, 2/11, 3/18, 19
63. मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः। हतिरपकर्षः। काव्यप्रकाश 7/49
64. साहित्यदर्पण, 7/1
65. नाट्यशास्त्र, 17/87
66. काव्यालंकार, 4/1,2
67. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 2/1,2
68. काव्यप्रकाश, 7/50-62 (सू. 72-82)
69. साहित्यदर्पण, 7/2-15
70. कविकुलकल्पतरु, 4/1
71. रसरहस्य, 5/139
72. रसपीयूषनिधि, 20/1
73. काव्यप्रकाश, 7/49
74. काव्यनिर्णय, 1/13
75. वही, 23/1
76. काव्यविलास, 6/1
77. वही, 7/136
78. ध्वन्यालोक (लोचन), पृ. 32
79. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 132
80. काव्यप्रकाश, 2/7, 8
81. साहित्यदर्पण, 2/12
82. कविकुलकल्पतरु 5/4, 5
83. वही, 2/7
84. रसरहस्य, 2/4, 6
85. वही, 2/7
86. वही, 2/16-18
87. वही 2/3 (वृत्ति)
88. रसपीयूषनिधि, 6/20
89. वही, 6/24
90. रसपीयूषनिधि, 6/37
91. काव्यनिर्णय, 2/1
92. वही, 3/6, 20
93. वही, 2/22
94. काव्यविलास, 2/7, 10

95. काव्यविलास, 2/7,10
96. वही, 2/12
97. वही, 2/42
98. ध्वन्यालोक, 1/13
99. वही, 1/13 वृत्ति
100. वही, 1/4
101. वही 1/9
102. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 89
103. ध्वन्यालोक, 3/34, 35, 42, 43
104. काव्यप्रकाश, 1/4, 5
105. कविकुलकल्पतरु, 5/2/4
106. वही, 5/2/3
107. वही, 5/2/9
108. वही, 5/2/11
109. रसरहस्य, 3/1
110. रसरहस्य, 1/34, 35
111. वही, 3/3
112. वही, 3/6
113. रसपीयूषनिधि, 6/7
114. वही, 7/5
115. वही, 18/4
116. काव्यनिर्णय, 6/1
117. वही, 6/4
118. वही, 6/11
119. काव्यविलास, 3/2
120. व्यंग्यार्थकौमुदी, 5
121. काव्यविलास, 3/110, 111
122. हिन्दी रीतिशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन, डॉ. शिवकुमार शुक्ल, पृ. 128
123. नाट्यशास्त्र, पृ. 71
124. वही, पृ. 71
125. हिन्दी अभिनवभारती, पृ. 442-443
126. काव्यप्रकाश (चतुर्थ उल्लास), पृ. 55
127. काव्यानुशासन, टीका-भाग, पृ. 69
128. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 245
129. वही, पृ. 247
130. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 249
131. काव्यांगदर्पण, डॉ. विजयबहादुर अवस्थी, पृ. 70

132. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ. 60
133. साहित्यदर्पण, 3/2,3
134. नाट्यशास्त्र, 6/17
135. काव्यांगदर्पण, डॉ. विजयबहादुर अवस्थी, पृ. 116
136. रसिकप्रिया, 1/2
137. कविकुलकल्पतरु, 8/151-152
138. वही, 8/57
139. वही, 8/55
140. रस-रहस्य, 3/34
141. वही, 3/39, 40
142. वही, 3/73
143. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 316
144. वही, पृ. 317
145. रसपीयूषनिधि, 7/44,45
146. वही, 1/49, 1/53
147. वही, 8/2
148. वही, 15/1
149. वही, 17/19
150. काव्यनिर्णय, 4/1
151. वही, 4/42
152. रससारांश, 254
153. काव्यविलास, 3/22
154. काव्यविलास, 3/49
155. वही, 3/51
156. नाट्यशास्त्र, 14/36
157. हर्षचरित, 1/8
158. काव्यादर्श, 1/40
159. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 602
160. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/2/3
161. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 602-603
162. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् + + + ॥ —ध्वन्यालोक 3/6
163. वक्रोक्तिजीवित, 1/24
164. सरस्वतीकंठाभरण, 2/28
165. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।—काव्यप्रकाश, पृ. 495
166. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्।—साहित्यदर्पण 91

167. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 604
168. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/2/11
169. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 470
170. कविकुलकल्पतरु, 2/8, 13, 14
171. रसरहस्य, 7/12
172. रसपीयूषनिधि, 21/28
173. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, डॉ. कृष्णदेव झारी, पृ. 14
174. काव्यालंकार (भामह), 1/13
175. काव्यादर्श, 2/3
176. स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/1/3
177. पूर्वे नित्याः, वही, 3/1/6
178. ध्वन्यालोक, 2/6
179. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।—साहित्यदर्पण 10/1
180. शव्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुंपकुर्वन्तोङलंकारस्तेऽङ्गदादिवत्।।—साहित्यदर्पण 10/1
181. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 50
182. वही, पृ. 52
183. काव्यप्रकाश, पृ. 518
184. अलंकारसर्वस्व, पृ. 256
185. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 643
186. कविप्रिया, 5/1
187. वही, 5/2
188. कविकुलकल्पतरु 3/262
189. वही, 1/9
190. वही, 2/4
191. वही, 2/2,3
192. हिन्दी रीतिशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन, डॉ. शिवकुमार शुक्ल, पृ. 292
193. वही, पृ. 294-295
194. रसरहस्य, 1/34
195. वही, 7/3
196. वही, 8/2
197. रसपीयूषनिधि, 21/13 (वृत्ति)
198. काव्यनिर्णय, 19/66
199. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 700
200. वही, पृ. 709-709
201. व्यंग्यार्थकौमुदी, 14 (वृत्ति)

202. व्यंग्यार्थकौमुदी, 1/25

203. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, डॉ. सत्यदेव चौधरी, शांतिस्वरूप गुप्त, पृ. 156

204. काव्यालंकार, 2/85

205. काव्यादर्श, 2/363, 2/8

206. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 4/3/8

207. काव्यालंकार, 2/14-17

208. ध्वन्यालोक, 2/21 (वृत्ति)

209. रस-रहस्य, 8/2

210. भाषा-भूषण, अलंकार संख्या 189

211. शिवराज भूषण, पृ. 127

212. भावविलास, पृ. 148

तृतीय अध्याय

हिन्दी रीति-काव्य और उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, जिसने भक्तिकाल और आधुनिक काल के बीच एक सशक्त सेतु का कार्य किया, सामान्यतः 'रीतिकाल' के नाम से अभिहित किया जाता है। संवत् 1700 से 1900 तक का यह कालखण्ड नामकरण की दृष्टि से पर्याप्त विवादग्रस्त रहा है। मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृत काल' की संज्ञा प्रदान की तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत की गई संज्ञा—'रीतिकाल' ही सर्वमान्य रूप से ग्रहण की गई क्योंकि 'अलंकृत काल' मात्र अलंकार प्रधान रचनाओं की सूचना देने के कारण अव्याप्ति दोष से युक्त है तो 'श्रृंगार काल' नामकरण केवल श्रृंगारिक रचनाओं तक सीमित रह जाने के कारण अव्याप्ति दोष से युक्त हो जाता है। इसके विपरीत 'रीति-काल' संज्ञा 'श्रृंगार', 'अलंकार', 'रस' आदि सभी काव्यांगों को अपने भीतर समाहित कर लेने में समर्थ होने के कारण अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई।

वस्तुतः 'रीति' शब्द 'रीङ्' धातु से बना है, जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—गति या मार्ग तथा रूढ़ अर्थ है—पद्धति या विधि। संस्कृत काव्यशास्त्र में यह शब्द एक विशिष्ट काव्यांग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने 'रीति' का उल्लेख किया है तथापि उन्होंने 'रीति' का कोई लक्षण या परिभाषा नहीं दी। 9वीं शताब्दी में वामन ने सर्वप्रथम 'रीति' को 'काव्य की आत्मा' घोषित करके रीति संप्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके अनुसार 'रीति' का अर्थ है 'विशिष्ट पद-रचना' विशिष्ट पद-रचना रीतिः।[1] विशिष्ट का अर्थ है गुण सम्पन्न -'विशेषो गुणात्मा'[2] तथा गुण से तात्पर्य है काव्य शोभा-कारक (शब्द और अर्थ के) धर्म।[3] इस प्रकार उन्होंने 'रीति' को इस प्रकार परिभाषित किया है—काव्य- शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं।[4] वामन के उपरांत आनन्दवर्द्धन ने एक प्रकार से वामन की परिभाषा को संक्षिप्त करके सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना-पद-रचना को 'संघटना' अथवा 'रीति' कहा। वामन का 'पद रचना' और आनन्दवर्द्धन का 'संघटना' शब्द तो पर्याय ही है, दोनों के विशेषणों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। वामन ने पद-रचना को शब्द और अर्थगत सौंदर्य से युक्त (गुणात्मक) कहा है।[5] इस

प्रकार रीति शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ और शास्त्रीय अर्थ में कुछ भिन्नता प्रतीत होती है। किंतु यह भिन्नता 'किसी मौलिक विभेद का द्योतक न होकर व्यावहारिक विकास का ही परिणाम रहा है। बात यह है कि व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष अपने भावों की अभिव्यक्ति जिस विशिष्ट रूप में करता है, उसकी विशेषताएँ जब दूसरों के लिए अपने अभिव्यक्ति-व्यापारगत अनुकरण और अनुसरण का लक्ष्य हो जाती हैं तो उनकी विधात्री पद्धति-विशेष लोक-व्यवहार में मार्ग शब्द से ही अभिहित होती है।[6] काव्य रचना के प्रायः तीन मार्गों या पद्धतियों का वर्णन मिलता है—वैदर्भी, गौडी और पांचाली। हिंदी के मध्ययुगीन कवियों ने 'रीति' को इसी अर्थ में ग्रहण करते हुए काव्य-रचना पद्धति को 'रीति' अथवा 'पंथ' की संज्ञा प्रदान की है। इसके अतिरिक्त हिंदी के जिन इतिहासकारों एवं आलोचकों ने इसी अर्थ में 'रीति' शब्द को ग्रहण किया,उनमें से कुछ के मतों को उद्धृत करना भी समीचीन प्रतीत होता है।

डॉ. सत्यदेव चौधरी का मत है कि रीति अथवा पंथ शब्द प्रायः अकेले प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु इनके साथ कोई न कोई विशेषण प्रायः संलग्न है—कवित्त-रीति, कवि-रीति, काव्य-रीति, छंद-रीति, अलंकार-रीति, मुक्तक-रीति, वर्णन-पंथ, कवि-पंथ और कविता- पंथ। अतः 'रीति' शब्द व्यापक अर्थ में काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है। पर आज रीतिकवि अथवा 'रीति-ग्रंथ' में प्रयुक्त 'रीति' शब्द से काव्यशास्त्र से ही संबद्ध अर्थ लिया जाता है।[7] मिश्रबंधु विनोद में 'रीति' शब्द के तत्कालीन प्रयोग की स्वच्छ व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि इस प्रणाली के साथ रीतिग्रंथों का प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई। आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रंथों में प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनों वाले ग्रंथों के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न।[8] तात्पर्य यह है कि 'रीति' प्रस्तुति का एक ढंग है। इस युग के अधिकांश कवियों ने एक निश्चित प्रणाली या पद्धति को दृष्टि में रखते हुए काव्य रचना की।

रीतिकाव्य अभिप्राय एवं विस्तार

प्रायः देखा गया है कि 'रीति ग्रंथ' और 'रीति-काव्य' शब्दों को पर्यायवाची मानकर इनका प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। किंतु वास्तविकता यह है कि दोनों ही भिन्न शब्द हैं, अतः इनके अभिप्राय भी भिन्न-भिन्न हैं। रीति-ग्रंथ का संबंध लक्षण ग्रंथों से है, तो रीति-काव्य का लक्ष्य ग्रंथों से। रीति-ग्रंथों में रीति, अलंकार, ध्वनि आदि काव्यांगों को आधार मानकर लिखा गया काव्य है। एक विशिष्ट पद्धति, ढाँचे एवं पैटर्न पर आधारित होने के कारण ही ये रीतिकाव्य कहलाती है। रीति

काव्यों के रचनाकार किसी एक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ या एकाधिक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को दृष्टि में रखकर, नियमों में आबद्ध एक नयी कृति की रचना करते हैं। इस प्रकार रीतिकाल में दो तरह के कवि दिखाई देने लगे। एक तो वे जिन्होंने काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों के लक्षण प्रस्तुत किए तथा दूसरे वे जिन्होंने इन लक्षणों से परिचित होकर भी मात्र लक्ष्य ग्रंथों की रचना की। विभिन्न रचनाकार ऐसे भी हैं जिन्होंने रीति-ग्रंथों की रचना करने के साथ-साथ रीति-काव्यों का भी सर्जन किया था। जैसे केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' काव्यशास्त्र के ग्रंथ हैं और 'रामचंद्रिका' रीति काव्य है। देव के 'भाव-विलास', 'रस-विलास' आदि ग्रंथों की गणना काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में की जाती है तथा 'देव-शतक' की रीति काव्य के क्षेत्र में। इसी प्रकार पद्माकर के 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' काव्यशास्त्रीय ग्रंथ और 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' और 'प्रताप सिंह विरुदावली' रीतिकाव्य कहलाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि जिसने लक्षण ग्रंथों की रचना की हो वही रीति कवि नहीं बल्कि जिस कवि का दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो और उसे भी रीति-काव्य के अंतर्गत रखा जा सकता है। यथा, बिहारी ने किसी भी लक्षण ग्रंथ की रचना नहीं की, लेकिन उनकी रचना का दृष्टिकोण रीतिबद्ध नहीं है, ऐसा कहना भारी भ्रम है।[9] हिंदी रीतिकाव्य के समक्ष संस्कृत की विस्तृत शास्त्रीय परंपरा विद्यमान थी। संस्कृत के आचार्य काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन विस्तारपूर्वक करके उनकी महत्ता को स्पष्ट कर चुके थे। किसी आचार्य ने 'रीति' को काव्य की आत्मा का स्थान प्रदान किया था तो किसी ने 'ध्वनि' को इस पर आसीन किया। इसी प्रकार अलंकार, छंद, रस आदि के अंगों एवं उपांगों का भी समुचित विवेचन संस्कृत के आचार्यों ने सम्यक् रीति से किया था। हिंदी के रीति-ग्रंथों के रचनाकारों के समक्ष दो मार्ग थे—एक : संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लक्षणों का अनुवाद करके ब्रजभाषा में उनके उदाहरण प्रस्तुत करना तथा दूसरा- मौलिक चिंतन शक्ति का परिचय देते हुए लक्षण ग्रंथों का प्रणयन करना। किंतु रीतिकाल के कवि आचार्यों में मौलिक चिंतन शक्ति का सामान्यतः अभाव था, अतः उन्होंने अनुकरण की पद्धति को ग्रहण करते हुए ऐसे ग्रंथों की रचना की जो चमत्कार प्रिय दरबारी वातावरण के अनुकूल थे। आलोच्य युग के कवियों ने काव्यांगों का ज्ञान प्रदान करने के लिए तथा आत्मप्रदर्शन हेतु काव्य-रचना करके कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्य-कर्म को भी महत्ता प्रदान की। डॉ॰ महेन्द्र कुमार के शब्दों में रीतिकालीन कवियों के समक्ष भी हिंदी के पूर्ववर्ती कवियों के समान काव्यांगों का सुबोध ज्ञान प्राप्त करने योग्य ग्रंथों को उपलब्ध कराने का लक्ष्य था। अतएव उन्होंने भी रीति-निरूपण के लिए ध्वनि-परवर्ती आचार्यों में उन्हीं को अपना आधार बनाया जिनके ग्रंथ सुबोध एवं विवेचन की दृष्टि से व्यवस्थित थे। इन ग्रंथों में शृंगार रस और नायक-नायिका भेद के लिए भानुदत्त की 'रसमंजरी'

तथा रस-सामग्री और रस के भेदापभेदों के लिए उन्हीं की रसतरंगिणी एवं अलंकारों के लिय जयदेव का 'चंद्रालोक' अथवा अप्पय दीक्षित का कुवलयानन्द' इस युग के कवियों के बीच सर्वाधिक ग्राह्य रहे।[10] रीति ग्रंथों में मुख्यतः तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है–

1. काव्य प्रकाशकार मम्मट की निरूपण शैली।
2. रसमंजरी, 'शृंगार-तिलक' आदि की शृंगारपरक नायिका भेद वाली शैली।
3. जयदेव के चंद्रालोक की अलंकार निरूपण शैली।

प्रथम शैली में चिंतामणि के 'कवि-कुलकल्पतरु', 'काव्य विवेक', कुलपति मिश्र के 'रस रहस्य' तथा देव के 'काव्य रसायन' की गणना की जाती है। द्वितीय श्रेणी में केशव की 'रसिकप्रिया', 'रस विलास' तथा बेनी प्रवीन के 'नवरस तरंग' आदि ग्रंथ आते हैं। तृतीय शैली में जसवंत सिंह के 'भाषा-भूषण', सुरति मिश्र के 'अलंकार माला' तथा पद्माकर के 'पद्माभरण' आदि ग्रंथों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीतिकालीन काव्य की सृष्टि सामंतीय वातावरण में रहने वाले कवियों द्वारा की गई थी। अतः इन कवियों से 'स्वान्तः सुखाय' काव्य की अपेक्षा करना उचित प्रतीत नहीं होता। रीतिकालीन अधिकांश कवि राजाश्रित थे। संभवतः इसीलिए उनकी वाणी में सूर-तुलसी जैसी भावात्मकता, तन्मयता एवं सरसता का समावेश नहीं हो पाया। इन कवियों का मूल उद्देश्य आत्मप्रदर्शन एवं काव्य रसिक समुदाय के लिए काव्यांगों के ज्ञान के लिए रीति-ग्रंथों का प्रणयन करना था। सुरा-सुंदरी एवं सुराही के दरबारी वातावरण के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने वाली कविता में शृंगारिकता का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही था। साथ ही विलासी राजाओं को प्रसन्न रखने के लिए भी इन कवियों ने नारी के बाह्य रूप चित्रण में सारी शक्ति लगाकर उसकी अंतरात्मा की एक प्रकार से उपेक्षा ही की थी। प्रो. शिवकुमार शर्मा रीतिकाल की इस प्रवृत्ति का कारण बताते हुए कहते हैं कि 'रीति कवि की इस प्रवृत्ति का प्रधान कारण उस समय का घुटनशील वातावरण है। विदेशी प्रभु सत्ता के सामने देशी रजवाड़े नतमस्तक होकर हतप्रभ हो चुके थे। सत्तागत तेज के हत हो जाने के कारण उस समय का नरेश-वर्ग उस कमी की पूर्ति के लिए कृत्रिम वैभव और ऐश्वर्य के उपकरणों के भोग द्वारा अपना गम गलत करना चाहता था। जब मन की गाँठ बाहर नहीं खुल पाई तो वह नारी-शरीर में चतुर्दिक् केन्द्रित हो गई, और रीतिकालीन कवि नारी-शरीर के महीन से महीन चित्र उतारकर क्षतिपूर्ति के साधन जुटाने लगा। फलतः उस समय में शृंगार रस की प्रधानता में प्रेम का स्थान रसिकता ने ले लिया। इस रसिकता की अभिव्यक्ति उस काल के कवि ने सर्वत्र रीति के परिवेश में की।'[11]

आश्रयदाताओं के पराक्रम एवं दानादि का आलंकारिक विवेचन करने के फलस्वरूप राजप्रशस्ति भी इनके काव्य का एक गौण स्वर बन गई। इन सब प्रवृत्तियों का उल्लेख इन्होंने आत्मप्रदर्शन एवं स्वामिनः सुखाय की भावना से प्रेरित होकर किया था। अतः इन रचनाओं में राजप्रशस्ति व रीतिनिरूपण करके इन्हें अतुलित धन-सम्मान प्राप्त होता था। दूसरी तरफ इन कवियों की मुख्य प्रवृत्तियाँ—रीतिनिरूपण, शृंगारिकता, कला एवं अलंकार, राजप्रशस्ति, भक्ति एवं नीति थी। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

रीति निरूपण

जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है कि रीतिकाल में कवि कर्म और आचार्य कर्म का निर्वाह साथ-साथ हो रहा था। रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत की काव्य-शास्त्रीय पद्धति का अनुकरण करते हुए अनेक लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया था। इनका मुख्य उद्देश्य आत्म-प्रदर्शन हेतु काव्यांगों से संबंधित लक्षण ग्रंथों का निर्माण करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रणीत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। अध्ययन विवेचन के उपरांत इन्होंने संस्कृत के लक्षणों एवं सूत्रों का अनुवाद ब्रजभाषा में करके काव्यांगों से संबंधित ग्रंथों का प्रणयन किया। लक्षणों का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए मौलिक कविताओं की सृष्टि भी रीतिकालीन कवियों द्वारा की गई। इस पद्धति के अनुकरण से हिंदी में संस्कृत काव्यशास्त्र की संक्षिप्त रूपरेखा तो अवश्य आ गई, किंतु हिंदी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र की पूर्ण अवहेलना होती गई। संस्कृत के ग्रंथों से प्रभावित होने के कारण ये उसी के उपजीवी बने रहे। नए मत या नवीन सिद्धांत सामने नहीं आए वरन् संस्कृत के प्राचीन सिद्धांतों को ही दुहराकर साहित्यिक रसिकों को काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों एवं उपांगों से परिचित कराया गया। रीति-निरूपण की इस पद्धति को तीन दृष्टियों से आंका जा सकता है—ग्रंथकार की दृष्टि, काव्यांग-विवेचन की दृष्टि तथा निरूपण शैली की दृष्टि।

इस युग में ग्रंथाकार की दृष्टि तीन प्रकार की थी। इनमें प्रथम दृष्टि तो मात्र रीति-कर्म की थी। इस श्रेणी में वे ग्रंथ आते हैं, जिसमें काव्यांगों का परिचय देना ही रचनाकारों का अभीष्ट था ना कि कवित्व का प्रदर्शन करना। इन रचनाकारों ने लक्षणों के साथ उदाहरण या तो अन्य कवियों के काव्य से दिए हैं या वे उदाहरण इतने संक्षिप्त हैं कि उनसे कवि के मौलिक चिंतन का परिचय नहीं मिलता। इस प्रकार के प्रमुख ग्रंथ हैं—जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण', याकूब खां का 'रसभूषण', 'दलपतिराय वंशीधर का 'अंलकार रत्नाकर', गोविन्द का 'कर्णाभरण' दूलह का 'कविकुलकण्ठाभरण' आदि। इस काल के दूसरे प्रकार के ग्रंथकार 'रीतिकर्म' के साथ-साथ कवि कर्म का

निर्वाह भी सुचारू ढंग से कर रहे थे। इन्होंने काव्यांगों के लक्षण तो संस्कृत के ग्रंथों से अनूदित करके प्रस्तुत किए किंतु उनके उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए इन्होंने स्वयं मौलिक पद्यों की रचना की। इस प्रकार के कवियों में चिंतामणि, मतिराम, भूषण, देव, कुलपति, पद्माकर आदि आचार्य कवियों का नाम विशेष रूप से लिया जाता रहा है। तृतीय श्रेणी के ग्रंथकारों ने लक्षणों के फेर में न पड़कर ऐसे छंदों की रचना की जो काव्यशास्त्र के नियमों में आबद्ध होकर भी काव्यांगों के लक्षण प्रस्तुत करने से मुक्त थे। बिहारी, सेनापति, रसनिधि, वृंद आदि रीतिसिद्ध कवियों ने इसी प्रकार के ग्रंथों की रचना करके 'कवि-कर्म' का परिचय दिया था।

काव्यांग-विवेचन के आधार पर रीतिनिरूपण की दो अंतःप्रवृत्तियाँ सामने आती हैं—1. सर्वांग विवेचन की प्रवृत्ति तथा 2. विशिष्टांग विवेचन की प्रवृत्ति। सर्वांग विंवेचन के अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, काव्य-गुण, काव्य-दोष तथा छंद आदि सभी काव्यांगों का निरूपण किया गया है। चिंतामणि का 'कविकल्पतरु' देव का 'शब्दरसायन', कुलपति का 'रसरहस्य' सोमनाथ का 'रसपीयूषनिधि', दास का 'काव्यनिर्णय' तथा जनराज का 'कविता रसविनोद' आदि ग्रंथों की गणना इसी वर्ग में की जाती है। विशिष्टांग विवेचन के अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में उक्त काव्यांगों में से किन्हीं दो-तीन या एक अंग को आधार रूप में गृहीत किया गया है। इस श्रेणी को आगे तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—रस, अलंकार और छंद। रस निरूपण से संबंधित प्रमुख ग्रंथ हैं—चिंतामणि का 'रसविलास', तोष का 'सुधानिधि', मतिराम का 'रसराज', देव के 'रसविलास', 'भवानीविलास', 'कुशल विलास' रसलीन का 'रसप्रबोध' बेनी प्रवीन का 'रसतरंग', ग्वाल का 'रसरंग', पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि। अलंकार निरूपक ग्रंथों में मतिराम के 'ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका', भूषण के 'शिवराज भूषण', दलपति राय के 'अलंकाररत्नाकर', पद्माकर के 'पद्माभरण' आदि ग्रंथों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। छंद निरूपण से संबंधित प्रमुख ग्रंथ हैं—मतिराम की 'वृत्तकौमुदी', भूषण का 'छंदोहृदयप्रकाश', सुखदेव मिश्र का 'वृत्तविचार', माखन का 'श्रीनाथ- पिंगल छंदविलास' तथा नंदकिशोर का 'पिंगल प्रकाश'।

विवेचन शैली के आधार पर रीतिनिरूपण की तीन प्रमुख शैलियों का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम शैली में संस्कृत के काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पण की शैली का अनुकरण करते हुए विवेच्य विषय को उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया गया है। चिंतामणि का 'कविकुलकल्पतरु', देव का 'शब्दरसायन', दास का 'काव्यनिर्णय' आदि ग्रंथों में इस शैली के दर्शन होते हैं। दूसरी शैली संस्कृत के चंद्रालोक और कुवलयानंद की संक्षेप शैली है। जसवंत सिंह का 'भाषाभूषण', 'दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' पद्माकर का 'पद्माभरण' इसी शैली में रचित रीति ग्रंथ हैं। तीसरी

शैली भानुदत्त की रसमंजरी से संबंधित है। अधिकांश रीति निरूपक ग्रंथों की रचना इसी शैली में हुई है।[12]

शृंगारिकता

संपूर्ण रीति काव्य पर दृष्टि डालने के उपरांत यह कहा जा सकता है कि रीति निरूपण के समान काव्यशास्त्रीय नियमों में आबद्ध शृंगारिकता भी इस काल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति थी। भक्ति काल में राधा-कृष्ण के अलौकिक प्रेम के साथ राम-भक्ति काव्य में रसिक भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सूफी कवियों ने भी लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेमी की सपफल अभिव्यंजना की थी। रीतिकालीन कवियों ने भक्ति काव्य से अपने अनुकूल सामग्री का संकलन करके घोर शृंगारिक कविता की रचना करके शृंगार की रसराज के रूप में प्रतिष्ठा कर दी। दूसरे उस समय का सामंतीय एवं भौतिक वातावरण भी रीतिकालीन शृंगारिक मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल था। संस्कृत काव्यशास्त्र के नायिका भेद तथा रस संबंधी ग्रंथों ने इस परंपरा को और अधिक पुष्ट कर दिया। वास्तव में शृंगार निरूपण ही रीतिकाव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। डॉ॰ नगेन्द्र रीतिकालीन शृंगारिकता का निष्पक्ष विवेचन करते हुए लिखते हैं—'साँचा चाहे जैसा भी रहा हो इसमें ढली शृंगारिकता ही है। इसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने किसी प्रकार से संकोच नहीं किया। इसलिए उनकी शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रंथियां नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परंतु शृंगारिक कुंठाओं से ये मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है।'[13] वस्तुतः रीतिकालीन कवियों का शृंगार वर्णन रीति इतर कवियों से पूर्णतः भिन्न हैं। काव्यशास्त्रीय बंधनों तथा नैतिक मूल्यों से पूर्णतः मुक्त होने के कारण इस काव्य में नायिका भेद, नख-शिख वर्णन तथा संयोग चित्रण में सामाजिक मर्यादाओं को भी विस्मृत कर दिया गया है। डॉ॰ महेन्द्र कुमार के शब्दों में, 'रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के समान इस प्रवृत्ति के भीतर यद्यपि स्वतंत्र अंतःप्रवृत्तियां तो विद्यमान नहीं, तथापि एक ओर से काव्यशास्त्रीय बंधनों के निर्वाह के और दूसरी ओर से नैतिक बंधनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसे इतर कवियों की शृंगारिक प्रवृत्ति से सहज ही पृथक् करके देखा जा सकता है। शास्त्रीय बंधनों ने तो इसे इतना रूढ़ बना दिया है कि शृंगार के विभाव-पक्ष में नायक-नायिकाओं के प्रत्येक भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभावों के विविध रूपों, प्रत्येक संचारी तथा संयोग के भीतर वर्णित हावादिकों और वियोग के भेदोपभेदों-सहित विभिन्न कामदशाओं संबंधी रचनाओं के पृथक्-पृथक् वर्ग बनाये जा सकते हैं।'[14]

रीतिकालीन कवियों ने नारी को सम्मान प्रदान करने की अपेक्षा उसका चित्रण भोग की सामग्री के रूप में किया। इनकी रचनाओं के नायक अनेक पत्नियों के साथ उन्मुक्त प्रेम करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। सामंतीय वातावरण में रहने तथा आश्रयदाताओं की विलासी प्रवृत्ति के कारण इन कवियों ने नारी के आंतरिक सौंदर्य के उद्घाटन की अपेक्षा बाह्य रूप सौंदर्य के चित्र अधिक मनोयोग से अंकित किए हैं। 'नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामंतीय ही रही है। ये उसे पुरुष के समकक्ष समाज की चेतन इकाई अथवा पुरुष का अर्द्धांगनी न समझकर भोग्य संपत्ति के समान उसे भोग का मात्र उपकरण समझते हैं। इनके लिए उसकी समस्त चेष्टाएं चेतन प्राणी की काम-भावना की अभिव्यक्ति न होकर पुरुष की उपभोग्य वस्तु की श्री वृद्धि मात्र हैं। इतना ही नहीं, यह मानते हुए भी कि नारी में पुरुष की अपेक्षा काम की मात्रा अधिक होती है, काम की अतृप्ति के कारण उसके विरह तथा ततजन्य व्याधियों के प्रति मानव-सुलभ सहानुभूति के स्थान पर इनमें उपेक्षा अथवा कौतुहल का भाव ही अधिक रहा है। कदाचित् इसीलिए इनकी विरहिणी नायिकाओं की कामदशाओं के बिंब या तो प्रभावहीन रहे हैं या पिफर तमाशा बनकर रह गये हैं।'[15] डॉ॰ महेन्द्र कुमार के उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन शृंगारिक प्रवृत्ति अपने युग की सामाजिक परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल थी। विलासी आश्रयदाताओं की रुचि को दृष्टि में रखकर लिखा गया यह साहित्य विलासिता एवं भोग प्रवृत्ति का सुंदर परिचायक है। रीतिकालीन कवि पद्माकर का निम्न पद उस काल की स्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है –

गुलगुली गिल में गलीचा है गुनीजन है, चाँदनी है चिक है चिरगन की माला है
कहें पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी, सेज है, सुराही है सुरा है और प्याला है।
शिशर के पाला को व्याप्त कसीला तिन्हें, जिनके अधीन एते उदति मशाला है
तान्तुक ताला है, विनोद के रसाला है, सुबाला है, दुशाला है, विशाल चित्रशाला है।

शृंगार रस के मुख्यतः दो पक्ष माने जाते हैं, संयोग तथा वियोग। रीतिकालीन काव्य में जहाँ दर्शन, श्रवण, स्पर्श और संलाप आदि संयोग शृंगार के विविध भावों का मनोहारी वर्णन मिलता है, वहीं पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण आदि विविध वियोग दशाओं का भी भावुक चित्रण व्याप्त हैं। रूप-लोलुप रीतिकवियों ने 'स्वेद बधो तन, कंप ठरोजीन, आँखिन आँसू, कपोलनि हँसी', कहकर स्पर्श-सुख का उल्लेख किया है तो 'करति कोलाहेतु किंकिनी, गह्यो मौन मंजीर' लिखकर सूरति वर्णन किया है। इन कवियों ने संयोग वर्णन में विपरीत रति का उल्लेख करने के अवसर को भी हाथों से निकलने नहीं दिया है, किंतु इस चित्रण में स्थान-स्थान पर अश्लीलता का पुट भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। संयोग की स्थिति में विविध ऋतुओं और त्यौहारों का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। तीज के पर्व पर नायिका के मानसिक उल्लास

को इस प्रकार देखा जा सकता है–

काम झूलै ठर में, उराजनि में दाम झूलै,
स्याम झूलै प्यारी की अनियारी अंखियान में।

इस प्रकार कहा जा सकता है संयोग चित्रण के अंतर्गत रूप वर्णन, नायक-नायिका भेद तथा विविध क्रीड़ाओं का उल्लेख करने में रीतिकालीन कवि कुशलहस्त हैं। इस तथ्य को प्रस्तुत शब्द और अधिक उजागर कर देते हैं–परंतु जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौंदर्य का सबंध था, वहाँ इन कवियों की पहुँच गहरी थी। दूसरी ओर मतिराम, देव, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवि रूप-सौंदर्य का वर्णन करने में पूर्ण रूप से रमने लगे। उदाहरण के लिए नयनों के कटाक्षों और चंचलता का इतना सुंदर वर्णन विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में दुर्लभ है। जैसे पद्माकर–

फ्यैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिबेनी।[16]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की श्रृंगारिकता में सामान्य रूप से इन्द्रियदमनजन्य, कुण्ठाहीनता, शारीरिक सुख की कामना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता, रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामंतीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुण-दोषों के रहते हुए भी ऐसे ताजगी है जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बंद रहकर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए आत्मविभोर कर सकती है।

कला एवं अलंकरण

रीतिकाल कला की सजावट का युग था। इस युग के काव्य का निर्माण कला के विविध उपकरणों को विशेष रूप से दृष्टि में रखकर किया गया था। रीतियुगीन कवियों ने कवि-कर्म को आनंद के लिए नहीं वरन् मनोरंजन के लिए ग्रहण किया था, इसलिए इनका दृष्टिकोण कलावादी रहा था। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इनके काव्य में आंतरिक सौंदर्य की अपेक्षा बाह्य सौंदर्य के प्रति विशेष आग्रह दिखाई देता है। चमत्कारप्रिय रीति कवियों ने दोनों प्रकार के चमत्कार उत्पन्न करने के लिए एक ओर अलंकारों का बहुलता से प्रयोग किया है तथा दूसरी ओर लक्षणा व्यंजना के प्रयोग और उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा अपनी भाषा को अधिक-से-अधिक चमत्कृत कर दिया है।

विलासिता, प्रदर्शन और रसिकता प्रधान युग में अलंकरण प्रवृत्ति की प्रधानता का होना स्वाभाविक था। केशवदास की प्रसिद्ध उक्ति 'भूषन बिनु न बिरजाई कविता, वनिता, मित्त' उस युग की अलंकारप्रियता की प्रवृत्ति को सहज रूप से उजागर कर देती है। मतिराम, भूषण, चिंतामणि, देव, जसवंतसिंह, पद्माकर, भिखारीदास आदि आचार्य कवियों ने अलंकार विषयक ग्रंथों की रचना करके अलंकारों के प्रति आकर्षण एवं अलंकारों के महत्त्व को प्रकाशित करने का प्रयास किया था। इन कवियों के ग्रंथों

में मूलरूप से संस्कृत के चंद्रालोक और कुवलयानंद की पद्धति का अनुकरण किया गया है। जैसे उस युग में दरबारी सम्मान का दर्जा प्राप्त करने के लिए कवियों का अलंकार शास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक था। विविध अलंकारों के लक्षण—उदाहरण प्रस्तुत करके ही ये कवि पाण्डित्य-प्रदर्शन में सफल हो सके थे। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप अलंकारों का बोलबाला तो बहुत अधिक हो गया किंतु कविता-कामिनी अलंकारों के बोझ से दबकर अपने आंतरिक सौंदर्य को खो बैठी। वैसे तो साहित्य में जनव्यवहृत भाषा की अपेक्षा प्रभविष्णुता तथा ग्रहणशीलता की मात्रा अधिक होती है, किंतु उक्ति चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना इस युग के कवियों का लक्ष्य और सफलता का मापदंड बन गया था। एक तो उस समय का विलासी राजदरबारी वातावरण था, दूसरा जन सामान्य की मनोवृत्ति भी कुछ इस प्रकार की बन चुकी थी कि राजदरबारी कवि को अपने काव्य को कृत्रिम भड़कीले रंगों में रंगना पड़ा। इस अलंकारिता का एक अन्य कारण था अलंकार शास्त्र के अनुसार अपनी कविता कामिनी को सांचों में ढालना।[17]

रीतिकालीन कवियों ने कविता और अलंकार में घनिष्ठ संबंध स्थापित करके प्रायः यत्नपूर्वक और सचेत होकर अपनी वाणी की अलंकारों से विभूषित किया है। इन कवियों को शृंगार-प्रधान काव्य में रूप-आकार को सुसज्जित करने तथा नायिकाओं की विरह दशा को उजागर करने के लिए अलंकारों को गढ़ना अनिवार्य-सा प्रतीत हुआ। इसी कारण रीतिकाव्य अलंकारों का अक्षय-कोश बन गया। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में, 'सिद्धांत रूप में तो इस युग में अर्थालंकार की प्रभुता इतनी अधिक थी कि शब्दालंकार की उपेक्षा-सी होने लगी, परंतु प्रयोग में सभी कवियों ने उनका सम्मान किया है। वास्तव में, दोनों प्रकार के अलंकारों का जितना प्राचुर्य इस काव्य में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं । रीति-काव्य एक तरह से अलंकारों का समृद्ध कोष है, जिसमें बढ़िया-से-बढ़िया और घटिया-से-घटिया नमूने मिल सकते हैं। इन्होंने एक ओर अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र आदि सभी से खिलवाड़ किया है और दूसरी ओर रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अनोखे ठाठ बांधे हैं।'[18] वैसे तो सभी रीतिकालीन कवियों ने अलंकारों का बहुलता से प्रयोग किया है। किंतु केशव के काव्य में अलंकारों के प्रति आग्रह कुछ अधिक दिखाई देता है। इनके काव्य की प्रत्येक पंक्ति में श्लेष का सौंदर्य व्याप्त है। संभवतः इसी कारण केशव का श्लेष को भूत कहा जाता है।

रीतिकालीन अलंकारप्रियता के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रीति-निरूपण एवं शृंगारिकता के समक्ष अलंकारिकता भी रीति-काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप कहीं-कहीं तो काव्य-सौंदर्य में श्रीवृद्धि हो गई है और कहीं-कहीं अलंकारों की अधिकता से बोझिल होकर काव्य-सौंदर्य में विकृति

उत्पन्न हो गई है। यद्यपि कवियों ने अलंकार-विवेचन अत्यंत सूझ-बूझ एवं मनोयोग से किया था, परंतु संस्कृत की विस्तृत परंपरा को आधार बनाने के फलस्वरूप उसमें मौलिकता का अभाव है।

राजप्रशस्ति

रीतिकाल में उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त भी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। इनमें राजप्रशस्ति की भावना का विशेष महत्त्व है। जैसा की पहले भी स्पष्ट किया गया है कि रीतिकाल के अधिकांश कवि विभिन्न राजाओं के आश्रय में रहते थे। अतः इन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखने के लिए उनकी दानवीरता एवं युद्धवीरता को अपने काव्य के वर्ण्य-विषय के रूप में ग्रहण किया। किंतु राजप्रशस्ति में आबद्ध इन काव्य-ग्रंथों में उत्साह की अपेक्षा झूठे शौर्य का ही बखान अधिक दृष्टिगोचर होता है। इनकी अभिव्यक्ति उनके दान अथवा पराक्रम के परिचायक व्यापारों के स्थान पर सामान्य रूप से दान की सामग्री की विपुलता तथा आश्रयदाताओं के आतंक एवं निर्बल और कायर शत्रुओं पर उनके प्रभाव के विविध वर्णनों द्वारा होने के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती, जो वीर रस की रचनाएँ छोड़कर जाती है। इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं में लोकमान्य गुणों का आरोप तथा उनके अत्यधिक वैभव का बखान भी अपने आप में झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है—किसी प्रकार का श्रद्धा-भाव उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है।[19] अपनी इसी दुर्बलता के कारण यह प्रवृत्ति शृंगारिकता एवं अलंकारिकता के समान महत्त्वपूर्ण स्थान स्थापित नहीं कर पाई।

भक्ति एवं नीति

नायक-नायिकाओं के संयोग-वियोग का चित्रण तथा राजसी विलासिता का अंकन करते-करते जब रीति कवि घबरा उठे तो उन्होंने अपनी धार्मिक आस्था को अभिव्यक्त करने के लिए स्थान-स्थान पर भक्तिपरक छंदों की रचना भी की। इस प्रवृत्ति को रीतिग्रंथों के मंगलाचरणों, रचनाओं की समाप्ति तथा अलंकार-विवेचन सबंधी लक्षण ग्रंथों में उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। रीतिकालीन कवियों की भक्ति भावना के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि मात्र राधा-कृष्ण का नाम ले लेने से इन कवियों को भक्त-कवि नहीं कहा जा सकता। रीतिकालीन कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं की विलासी प्रवृत्ति के अनुरूप शृंगारी काव्य की रचना करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति करते समय राधा-कृष्ण के अलौकिक प्रेम संबंधी कुछ पद इस काव्य के अंग बन गए हैं। उनका मत था कि यदि रसिक-जन इस कविता से रीझते हैं तब तो यह सफल काव्य रचना है, अन्यथा यह राधा-कृष्ण

के सुमिरन का बहाना है। किंतु इस मत को पूर्णतः इसी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह तो सत्य है कि रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण को अलौकिक भूमि से उठाकर साधारण नायक-नायिकाओं के धरातल पर खड़ा कर दिया था परंतु इस काव्य में कुछ ऐसी रचनाओं की भी सृष्टि हुई थी जो पूर्णतः भक्ति भावना से सिक्त हैं। इनमें गुरु गोविन्द सिंह कृत जापु, अकाल स्तुति, चौबीस अवतार तथा चण्डी-चरित्र, पलटू साहब, दरिया साहब, संत प्राणनाथ और तुलसी साहब की कृतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रीतिकालीन कवि 'सामान्य रूप से विष्णु के राम और कृष्ण इन दो अवतारी रूपों में विशेष आस्था रखते हुए भी ये लोग गणेश, शिव और शक्ति में भी वैसी ही श्रद्धा रखते थे। ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के रूप में आज साधारण आस्तिक हिंदुओं में देवी-देवताओं के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति का भाव रहता है, वही इनमें था।'[20]

रीतिकाव्य की भक्तिपूर्ण रचनाओं के संदर्भ में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें भक्तिकालीन काव्य के समान भावुकता और मार्मिकता का अभाव है। इन कवियों ने भक्त कवियों के समक्ष मात्र ईश्वर अनुराग के गुण-कथन को ही अपना उद्देश्य नहीं बनाया था। यही कारण है कि इनकी भक्ति भी शृंगारिकता का अभिन्न अंग बनकर काव्य में अवतरित हुई है। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में, 'यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठे होंगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उसके धर्मभीरू मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आंचल पकड़े हुए थे। + भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धांतिक निषेध करते। इसीलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बारबार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।[21]

रीतिकाल में नीतिपरक उक्तियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। नीतिपरक उक्तियाँ जीवन के अमूल्य अनुभवों से उत्पन्न विवेक की परिचायक होती हैं। समसामयिक जीवन मूल्यों और परिवेश पर आधृत से उक्तियाँ जीवनानुभूति से सिक्त होने के कारण ही लोकप्रिय बनती हैं। रीतिकाल शृंगार की विलासिता, प्रेम की अस्थिरता एवं नैतिक मूल्यों के ह्रास का युग था। अतः इस काल की नीतिपरक उक्तियों में जीवन की क्षणभंगुरता, प्रेम की निष्फलता, रूप लोलुप कामवासनाओं के प्रति उदासीनता की भावनाएँ ही उभर कर सामने आई हैं। वृंद, तोष, गिरिधर, दीनदयाल गिरि आदि ने नीतिपरक साहित्य की रचना करके विषय-वासनों से आकुल

मन को शरण-भूमि प्रदान करने का कार्य किया था। यद्यपि इस काल की नीति विषयक रचनाएँ परिमाण में बहुत अधिक नहीं है तथापि अपने सीमित दायरे के भीतर रहकर ही इन्होंने विलासिता में डूबे समाज को उबार कर नैतिकता का आंचल अवश्य पकड़ा दिया था। भक्ति इन कवियों के आकुल मन के लिए शरणभूमि थी, तो नीति संघर्षमय दरबारी जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वंद्व के विरेचन के परिणामस्वरूप शांति का आधार थी। इसीलिए आत्मोपदेश और अन्योक्तिपरक छंदों में इनके वैयक्तिक अनुभवों की छाप प्रायः देखने को मिलती है। अलंकारों, निर्वेदादि संचारियों आदि के विवेचन के प्रसंगों में उद्धृत ये नीतिपरक रचनाएँ यद्यपि परिमाण में बहुत अधिक नहीं है, तथापि ऐसी प्रवृत्ति की परिचायक तो है ही जिसमें वैयक्तिक अनुभवों से उत्पन्न विवेक को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है।[22] इस प्रकार की सूक्तियाँ सतसई ग्रंथों के अतिरिक्त अन्योक्ति अलंकार से परिपूर्ण रचनाओं में अधिक विस्तार से मिलती हैं।

वीर काव्य

हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल राजनैतिक दृष्टि से उथल-पुथल का युग था। शाहजहाँ के शासन काल के उपरांत औरंगजेब की कट्टर एवं धर्मान्धपूर्ण नीति के फलस्वरूप शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। अनेक नेताओं का नेतृत्व प्राप्त कर जनता ने विद्रोह आरंभ कर दिए थे। ऐसी विक्षुब्ध परिस्थिति में साहित्य वीर-रस से रिक्त नहीं रह सकता था। संभवतः इसी कारण रीतियुगीन साहित्य में श्रृंगार-रस के साथ-साथ वीर रस से परिपूर्ण रचनाओं की भी सृष्टि होती रही थी। विभिन्न कवियों ने लोकनायकों का सफल शौर्य वर्णन करके जन-जागृति उत्पन्न करने का प्रयास किया था। 'हिंदी साहित्य के आदिकाल में काव्य के अंतर्गत वीर-भावनाओं की उत्ताल तरंगें दृष्टिगोचर होती हैं, किंतु वह वीर-भावना प्रायः श्रृंगार के साहचर्य में व्यक्त हुई है जबकि रीतिकालीन वीरकाव्य स्वयं स्वतंत्र रूप में आगे आया है और राजाओं की कीर्ति गाथाओं का अतिरंजित वर्णन होते हुए भी उसमें देशभक्ति की चिनगारियाँ अपनी अद्‌भुत चमक दिखा रही है। ऐतिहासिकता पर आधृत होने के कारण रीतिकालीन वीरकाव्य जनता को प्रेरणा प्रदान करने में भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।'[23]

भूषण इस युग के सर्वश्रेष्ठ वीर रस के कवि माने जाते हैं। 'शिवाबावनी' और 'छत्रसालदशक' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। भूषण ने इन रचनाओं में शिवाजी के वीरतापूर्ण प्रसंगों का चित्रात्मक शैली में मार्मिक वर्णन करते हुए औरंगजेब की निंदा की है। शिवाजी से भयभीत शत्रुओं और उनकी स्त्रियों के चित्र उतारने में उन्हं अभूतपूर्व सपफलता भी मिली है। शिवाजी के शौर्य का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

भूषण भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौ कहौं,
किम्मति यहाँ लीग है जाकी भटजोट मैं।
ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
और मुख घाव दै दै कूदि परैं क़ोट मैं।

भूषण राष्ट्रीय भावों के गायक हैं। उन्होंने राष्ट्रीयता की परिभाषा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से की है। उनकी वाणी पीड़ित प्रजा के प्रति एक अपूर्व आश्वासन है। चाहे भूषण की कविता में उत्कृष्ट मर्मज्ञ कवि की सूक्ष्म कवित्व कला न हो, किंतु उनके काव्य में ओज का प्रभावी घोष अवश्य है, जो रग-रग में रक्त का संचार करने में समर्थ है।[24] भूषण के अतिरिक्त इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण वीर रस के कवि लाल, पद्माकर, सूदन, गुमान, जोधराज, बांकीदास तथा गुरु गोविन्द सिंह हैं। इन कवियों ने भी भूषण के समान वीर रस की कविताओं का प्रणयन कर शृंगार रस की चली आ रही परंपरा में वीर रस को भी संचारित कर दिया। शृंगार रस की कविताओं के अध्ययन-विश्लेषण से उस युग की विलासी प्रवृत्ति का ज्ञान होता है तो वीर रस की कविताओं में आश्रयदाताओं एवं लोकनायकों के शौर्य एवं पराक्रम का परिचय प्राप्त होता है, भले ही यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है।

प्रकृति चित्रण

रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण करने की अपेक्षा उसका चित्रण उद्दीपन रूप में अधिक किया है। डॉ. राजकिशोर पाण्डेय के शब्दों में, 'संयोग और वियोग की दशाओं में उद्दीपन के रूप में कवियों ने प्रकृति-वर्णन का आयोजन किया है। काव्य का रूप मुक्तक होने के कारण षट्ऋतु वर्णन या बारहमासे का आयोजन नहीं हो सका है। यत्र-तत्र स्फुट रूप में मासों, ऋतुओं अथवा त्यौहारों का वर्णन मिल जाता है। कवियों का ध्यान बसंत, वर्षा और शरद ऋतु की ओर अधिक गया है। शेष ऋतुओं को गौण स्थान प्राप्त हुआ है।'[25] रीति कवियों के लिए प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण करना स्वाभाविक भी था क्योंकि ये कवि दरबारी कवि थे। अतः दरबारी वातावरण से बाहर निकल कर प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरने का उनके पास समय नहीं था। इसी कारण उनका प्रकृति चित्रण भी अन्य प्रवृत्तियों के समान प्राचीन परिपाटी से जुड़ा हुआ है। संयोग दशा में प्रकृति के विभिन्न उपकरण नायक-नायिका के चित्त में मनोमुग्धकारी प्रभाव अंकित करते हैं तो वियोग दशा में वही उपकरण उनके चित्त को विदग्ध कर विरहावस्था को और अधिक उद्दीप्त कर देते हैं। संयोग में शुभ्र चाँदनी अत्यंत रुचिकर प्रतीत होती है, तो वियोग में वही कसाई का काम करती हुई दिखाई देती है। पपीहे की मधुर पी-पी कोलाहल में परिवर्तित हो जाती है। वैसे तो समस्त रीतिकालीन कवियों के काव्य में प्रकृति के विविध उपकरण किसी न किसी रूप में

अवश्य विद्यमान हैं, फिर भी सेनापति, पद्माकर, बेनी, प्रवीन, बिहारी, ठाकुर आदि कवियों के काव्य में प्रकृति-वर्णन अधिक मनोल्लास के साथ वर्णित हुआ है।

प्रकृति चित्रण के समान विभिन्न ऋतुओं में नायक-नायिका की मनोदशाओं का उल्लेख भी रीति-काव्य में मिलता है। बेनी प्रवीन ने पावस ऋतु में नायक-नायिका के मिलन और उनकी विविध चेष्टाओं का वर्णन इस प्रकार किया है –

फराधा औ माधो खड़े दोउ भीजत, वा झरि में झपकै बन मांही।
बेनी गए जुरि बातन में, सिर-पातन के छहना, गलबाँही।
कामरी प्यारी उढ़ावत प्यारे कौं, प्यारौ पितम्बर की करै छाँही।
आपुस में लहाद्दह में छोह में, काहू को भीजिबे की सुधि नाहीं।[26]

इसी प्रकार के अनेक चित्र रीतिकालीन साहित्य में अपनी छटा बिखेर रहे हैं। किंतु इतना स्पष्ट है कि रीति कवियों का प्रकृति वर्णन कालिदास आदि संस्कृत कवियों के समान बिंब ग्राही नहीं है। रीतिकालीन कवियों की विशिष्टता प्रकृति को उद्दीप्त रूप में चित्रित करने में ही अधिक है। बसंत, कोयल, चाँदनी नायिका के विरह को और अधिक बढ़ाकर उसकी वियोग जनित स्थिति को दुष्कर बना देते हैं। इन कवियों का प्रकृति वर्णन शृंगार रस को समृद्ध करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

ब्रजभाषा की प्रधानता

हिंदी साहित्य के मध्यकाल में ब्रजभाषा साहित्याकाश पर पूर्ण रूप से आच्छादित थी। इसी कारण रीति कवियों ने भी शृंगार जैसे कोमल रस की अभिव्यक्ति के लिए सरल, कोमल, प्रांजल एवं परिष्कृत ब्रजभाषा को ही अपना आधार बनाया। यद्यपि भक्तिकाल में तुलसी, जायसी, सूर जैसे श्रेष्ठ कवियों के द्वारा इस भाषा को पर्याप्त प्रौढ़ता प्राप्त हो गई थी, किंतु इसमें अलंकरण की प्रवृत्ति का समावेश इसी युग में हुआ था। रीति कवियों की ब्रजभाषा की विशेषता के संबंध में डॉ॰ नगेन्द्र का मत है कि 'भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुकमिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं जिसमें माधुर्य नहीं है, जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो। अक्षरों के गुम्फन में इन्होंने कभी भी त्रुटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द माणिक्य मोती की तरह गुंथे हुए हैं। नागरिकता और मसृणता इस काल की भाषा के मुख्य तत्त्व हैं। ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।'[27]

शक्ति और सौंदर्य की दृष्टि से रीतिकालीन भाषा अत्यंत समृद्ध एवं सशक्त कही जा सकती है। इन कवियों ने अपनी भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए अरबी, फारसी तथा तुर्की भाषाओं के शब्द ग्रहण करने के साथ अवधी, राजस्थानी, बुंदेलखंडी आदि प्रांतीय भाषाओं के शब्दों को भी आत्मसात् किया था। अपनी अनुभूतियों एवं भावों के सफल अंकन के लिए रीति कवियों ने शब्दों एवं वर्णों की सहायता से अनेक रेखाचित्र

प्रस्तुत किए हैं। शब्द, गंध एवं रस से समन्वित इन चित्रों में संयोग एवं वियोग की विविध दशाओं को चित्रित करने की अद्‌भुत क्षमता विद्यमान है। प्रमुख रीतिबद्ध कवि मतिराम द्वारा वर्णित एक रूप-चित्र को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है–

कुंदन कौ रंगु फीकौ लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आंखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिनमोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे है नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।[28]

रीतिकालीन ब्रजभाषा लक्षणा शक्ति के बाहुल्य से और अधिक सशक्त हो गई है। इन कवियों ने अपनी भाषा को ज़ीवंत बनाने के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी अत्यंत विस्तार से किया था। 'भावों को तीव्रतर बनाने के लिए मुहावरों का सुविचारित प्रयोग करना पड़ता है। यदि एक विशेष मुहावरे के स्थान पर उससे मिलता जुलता दूसरा मुहावरा रख दिया जाये तो अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती।'[29] उदाहरणार्थ बिहारी ने एक स्थल पर लिखा है–

दृग उरझत टूटत कुटंब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

इसके स्थान पर इसी से मिलते-जुलते मुहावरों का प्रयोग किया जाता तो शायद इस छंद का अर्थ ही कुछ और हो जाता। रीति काव्य में आँख संबंधी मुहावरों का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है। मन, हृदय, चित्त से संबंधित मुहावरों के साथ अन्य कई प्रकार के मुहावरे रीतिकालीन साहित्य में यत्र-तत्र अपनी छटा बिखेर रहे हैं। डॉ. बच्चन सिंह के शब्दों में, 'रीतियुगीन ब्रजभाषा अपनी समृद्धि के उच्चतर शिखर पर जा बिराजी। इस समय की भाषा पहले से अधिक मंज सँवरकर भावाभिव्यंजना के अनुकूल हो गई। इस संस्कार और परिष्कार का अंतर सूर तुलसी की पदावली और मतिराम, देव और पद्माकर की पदावली की तुलना से स्पष्ट किया जा सकता है। रीतिकालीन कवियों की पदावली के लोप और माधुर्य के आगे भक्त कवियों की पदावली थोड़ी बहुत अनगढ़ लगेगी।'[30]

काव्य रूप एवं छंद योजना

शृंगारिक एवं अलंकरण युग की मनोवृत्ति प्रबंध-रचना के अनुकूल नहीं थी, अतः रीतिकाल में मुक्तक काव्य का अधिक प्रचार हुआ। रीति कवियों का रुझान मुक्तक शैली की ओर अधिक था तथापि यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि रीतिकाव्य कथात्मक प्रबंध रचनाओं से पूर्णतः रिक्त है। सबल सिंह का 'महाभारत' , कासिमशाह का 'हंसजवाहिर', गुरु गोविन्द सिंह की 'गोविंद रामायण', ब्रजवासी दास का 'ब्रजविलास' सूदन का 'सुजानचरित'; जोधराज का 'हम्मीर रासो', गोरेलाल का 'छत्रसाल प्रकाश'

आदि प्रमुख रीतिकालीन प्रबंध रचनाएँ हैं। कुछ विद्वान मुक्तक रचना को प्रबंध रचना से अधिक प्रभावशाली मानते हैं। उनका मत है कि 'मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने आप को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। इसी से वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्र-मुग्ध सा हो जाता है।'[31] रीतिकवियों के काव्य में उपर्युक्त वर्णित समस्त विशेषताएँ अपने पूर्ण वैभव के साथ दृष्टिगोचर होती हैं। रीतिसिद्ध कवि बिहारी का तो प्रत्येक छंद इस तथ्य का सजीव उदाहरण है। इन मुक्तक रचनाओं का प्रणयन कवित्त, सवैया तथा दोहा छंदों के माध्यम से हुआ है। बीच-बीच में सोरठा, हरिगितिका, चौपाई तथा छप्पय छंद भी दृष्टिगत होते हैं किंतु रीति कवियों की मनोवृत्ति कवित्त, सवैया तथा छंदों के अधिक अनुकूल थी। इन कवियों के छंद प्रयोग की विशिष्टता एवं मौलिकता यह है कि इन्होंने संस्कृत छंदों के प्रयोग के प्रति मोह न दिखाकर कवित्त, सवैया छंदों का ही बहुलता से प्रयोग किया। वैसे भी इन छंदों का प्रयोग रीतिकालीन काव्यधारा की प्रकृति के अनुकूल ही था। श्रृंगार, वीर एवं भक्ति रस की जितनी सुंदर एवं मधुर अभिव्यक्ति दोहा, सवैया आदि छंदों में हो सकती है उतनी अन्य किसी छंद में नहीं। इन छंदों में मधुरता एवं लालित्य का अद्भुत समन्वय विद्यमान होता है। देव, पद्माकर, बिहारी, घनानंद, बोधा, ठाकुर आदि के सवैया की सरस धारा रीतिकाव्य की चरम उपलब्धि है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत की परिनिष्ठित एवं सुदृढ़ परंपरा को हिंदी में अनुदित करके काव्यशास्त्र जैसे कठिन विषय को सरल एवं सरस बना दिया। यद्यपि इनका काव्यांग संबंधी रीति-विवेचन मौलिक एवं व्यवस्थित नहीं हो पाया तथापि उसकी उपलब्धि यह है कि हिंदी साहित्य में लक्षण-ग्रंथों के अनेक सुंदर उदाहरण स्थापित हो गए। वस्तुतः रीतिकालीन कवियों का मूल्यांकन लोकमंगल के आधार पर न करके लोकरंजन के आधार पर करना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि रीति कवियों ने 'सर्वजन हिताय' के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर काव्य-रचना नहीं की थी। इन कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर उनकी विलासी मनोवृत्ति के अनुकूल श्रृंगारिक रचनाओं का प्रणयन करना था। अतः प्रदर्शन प्रधान युग में काव्य के आंतरिक पक्ष की अपेक्षा बाह्य पक्ष की प्रधानता होना स्वाभाविक ही था। इनका श्रृंगार वर्णन ऐन्द्रियता, मांसलता एवं रसिकता की भावना से परिपूर्ण था इसीलिए उसमें जीवन के संतुलित दृष्टिकोण का

अभाव लक्षित होता है। इन आचार्यों कवियों ने काव्यांगों के लक्षण तो संस्कृत के सूत्रों को अनूदित करके ही प्रस्तुत किए, किंतु उनके उदाहरण प्रस्तुत करते समय उन्होंने मौलिक कविता की रचना की थी। विलासिता पूर्ण वातावरण से उबकर रीतिकवियों ने नीति, भक्ति एवं वीर रस की भी रचनाएँ प्रस्तुत की किंतु इनमें न तो भक्तिकालीन काव्य के समान भावुकता है और न ही वीर रसोचित्त पराक्रम एवं शौर्य। इतना होने पर भी रीतिकालीन काव्य की अपनी कुछ विशिष्टताएँ हैं, जिन्हें विस्मृत नहीं किया जा सकता। उसमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता, उक्ति वैचित्र्य, लक्षणा का चमत्कार तथा भावों की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। काव्य के विविध उपकरण जितने विस्तार से रीतिकालीन काव्य में उपलब्ध होते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। श्रृंगार रस के सभी अंगों एवं उपांगों का विशद् विवेचन रीतिकालीन काव्य का प्राण है। इसके अतिरिक्त शुद्ध काव्यशिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो यह काव्य अत्यधिक समृद्ध है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि शास्त्रीय दृष्टि से रीति काव्य चाहे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है परंतु कवित्व की दृष्टि से वह अत्यंत मनोहारी है। इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतियुगीन साहित्य का महत्त्व अक्षुण्ण है।

निष्कर्ष

समस्त रीतिकालीन साहित्य का अवलोकन करने के पश्चात् यह कहने में संकोच नहीं होता कि हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकालीन कविता का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रृंगारिकता एवं अलंकारिता की अतिशयता के कारण उसके ऊपर अश्लीलता एवं मांसलता के जो आरोप लगाए लगे हैं, वे वस्तुतः उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि रीतिकालीन कवि सामंतीय वातावरण में रहकर, काव्य-रचना प्रस्तुत कर रहा था। अधिकांश रीति-कवि दरबारी-कवि थे, अतः अपने आश्रयदाताओं की विलासी मनोवृत्ति के अनुकूल काव्य-सृजन करना उनके लिए अत्यंत आवश्यक था। समय-समय पर जब भी उन्हें अवकाश मिला, तभी उन्होंने वीर, भक्ति एवं नीति संबंधी उक्तियों की रचना भी की। चमत्कारप्रिय युग में पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही था। इसीलिए रीतियुगीन कवि आचार्यों ने काव्यांगों के निरूपण में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का आधार ग्रहण किया था। इन कवियों ने सहज-बुद्धि पाठक के लिए दुर्बोध, कठिन एवं नीरस काव्यशास्त्रीय विवेचन को सरस एवं सहज ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करके हिंदी साहित्य को काव्यंग निरूपण संबंधी अक्षय निधि प्रदान की है। रीतिकाल की इन्हीं विशेषताओं को उजागर करते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा कहते हैं कि 'ये ग्रंथ इतिहास-निर्माण की दिशा में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।'[32] समग्रतः रीतिकालीन साहित्य आचार्यत्व, रीतिनिरूपण, श्रृंगारिकता, राजप्रशस्ति आदि विविध विशेषताओं के कारण अक्षुण्ण है।

संदर्भ

1. काव्यालंकार सूत्र, 1/2/7
2. वही, 1/2/8
3. वही, 2/2/1
4. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 37
5. वही, पृ. 37
6. हिंदी साहित्य का उतर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 48
7. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 137-138
8. वही, पृ.138
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 312
10. वही, पृ. 312
11. हिंदी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, प्रो. शिवकुमार शर्मा, पृ. 287
12. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 82-85
13. रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 159
14. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 319-320
15. वही, पृ. 319-320
16. हिंदी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, प्रो. शिवकुमार शर्मा, पृ. 298
17. वही, पृ. 290-291
18. हिंदी भाषा और साहित्य, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 28
19. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 321
20. वही, पृ. 321
21. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पूर्वार्द्ध, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 187
22. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 321-322
23. वही, पृ. 406-407
24. वही, पृ. 409
25. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 207
26. वही, पृ. 208
27. हिंदी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, प्रो. शिवकुमार शर्मा, पृ. 295
28. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 181
29. वही, पृ. 180
30. वही, पृ. 202-203
31. हिंदी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, प्रो. शिवकुमार शर्मा, पृ. 293-294
32. हिंदी साहित्य का पुनर्मूल्यांकन, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. 230

चतुर्थ अध्याय

रीतिकाल के प्रमुख कवि और आचार्य

यह सर्वविदित है कि रीति-काव्य संस्कृत काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि को आधार बनाकर ही विकसित हुआ है। संस्कृत आचार्यों ने काव्य के विविधांगों का नियम एवं विवेचन प्रस्तुत करके काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को उनकी प्रौढ़तम अवस्था तक पहुँचा दिया था। विभिन्न सिद्धांतों के खण्डन-मण्डन के फलस्वरूप काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में अनेक लब्ध प्रतिष्ठित आचार्य अपना बहुमूल्य योगदान प्रस्तुत कर चुके थे। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति 'चर' तथा 'चित्' नामक दो धातुओं से की जाती है। इस आधार पर इसका विशिष्ट अभिलक्षित अर्थ द्रष्टव्य है—जो व्यक्ति आचार को ग्रहण करता और करवाता है तथा अर्थ और बुद्धि के संग्रह से शास्त्रार्थ को संजोता है वही 'आचार्य' कहलाता है। यों साधारण अर्थों में काव्याचार्य काव्यशास्त्र के पण्डित को भी कहते हैं परंतु वास्तव में आचार्य वे विद्वान होते हैं जो कविता करने के लिए अपेक्षित नियमों एवं सिद्धांतों की विधिवत् विवेचना करते हैं।[1] इसी संदर्भ में डॉ॰ महेन्द्र कुमार ने लिखा है कि साहित्य के प्रसंग इस (आचार्य) शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के किसी सिद्धांत अथवा संप्रदाय के प्रवर्तक काव्यशास्त्र के भाष्यकार अथवा काव्यशास्त्र के विद्वान् का वाचक होगा।[2] स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में काव्य के विविधांगों का गहन अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले विद्वानों को आचार्य की पदवी से विभूषित किया जाता है। ये आचार्य अपनी प्रखर बौद्धिक चेतना का परिचय देते हुए किसी सिद्धांत विशेष को स्थापित करते हैं तथा अपने शिष्यों या अनुयायी वर्ग को उस मौलिक चिंतन को ग्रहण करने के लिए अधिकाधिक प्रेरित करते हैं। आचार्य शब्द का यह विशिष्ट अर्थ होते हुए भी संस्कृत के आचार्यों और हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों में उद्देश्य तथा निरूपण शैली की भिन्नता द्रष्टव्य है।

संस्कृत के आचार्य अपने सिद्धांत के प्रति निष्ठावान थे वे किसी-न-किसी विशेष वाद अथवा सिद्धांत से संबद्ध थे, वे लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर लक्षण ग्रंथों का निर्माण करते चले थे किंतु हिंदी के रीतिकालीन आचार्य किसी संप्रदाय विशेष के पक्षपाती नहीं थे। यदि किसी आचार्य ने अपने ग्रंथ में अलंकार निरूपण किया है तो

इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह अलंकारवादी आचार्य है अथवा काव्य के अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा वह अलंकार को अधिक महत्त्व देता है। वरन् उनका उद्देश्य संस्कृत काव्य-शास्त्र के ग्रंथों के आधार पर हिंदी के पाठकों के लिए अलंकार संबंधी विवेचन को अधिक सरल एवं सुगम बनाना था।[3] इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन आचार्यों ने केवल संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को अपना आधार बनाया। यदि किसी आचार्य ने हिंदी के ही किसी आचार्य के ग्रंथों का अध्ययन किया है, तो उसके सिद्धांतों को परिष्कृत अथवा परिवर्द्धित करने के लिए नहीं वरन् संस्कृत काव्यशास्त्रों को आधार रूप में ग्रहण करने की चली आ रही परंपरा से बचने के लिए। उदाहरणार्थ प्रतापसाहिकृत 'काव्य-विलास' अधिकांशतः कुलपति की सामग्री पर आधृत है, सोमनाथ ने अलंकार विवेचन जसवंत सिंह के काव्य विवेचन के आधार पर किया है तथा भूषण ने मतिराम के ग्रंथ से सहायता ली है।[4] हिंदी के अधिकांश रीति ग्रंथ प्रणेता कवि पहले हैं तथा आचार्य बाद में। राजदरबार में आश्रय पाने वाले इन कवियों का प्रमुख उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं की शृंगारिक रुचि को तुष्ट करते हुए उसकी स्तुति अथवा प्रशंसा में कवित्त-सवैयों की रचना करना था। साथ ही साथ उनके ऊपर राजकुमारों को शिक्षा देने का उत्तरदायित्व भी था। अपने इस उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए इन्होंने काव्य के विभिन्न अंगों का परंपरागत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते हुए लक्षण ग्रंथों का प्रणयन किया तथा इन लक्षणों के उदाहरण के रूप में इन्होंने शृंगारिक पक्षों की रचना की। इस प्रकार कवि कर्म और आचार्य-कर्म का साथ-साथ निर्वाह करने के फलस्वरूप हिंदी रीति ग्रंथों में मौलिकता का किंचित अभाव-सा हो गया। इन कवियों के ग्रंथों में कहीं तो संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों का शब्दशः अनुवाद है, कहीं कुछ परिवर्तन के साथ भावानुवाद तथा कहीं कुछ विद्वानों के मतों को एकत्र करके उनका सार प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने विषय प्रतिपादन के लिए तीन प्रकार की शैलियाँ ग्रहण की थीं—1. पद्यात्मक शैली, 2. सूत्र-वृत्ति शैली तथा 3. कारिका वृत्ति शैली।[5] उदाहरणार्थ,. भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली अपनायी। वामन तथा रुय्यक आदि आचार्यों ने सिद्धांतों का प्रतिपादन अत्यंत संक्षिप्त रूप में करने के लिए सूत्र-वृत्ति शैली ग्रहण की। इस शैली में शास्त्रीय सिद्धांत सूत्रबद्ध हैं तथा पुनः गद्य में उसकी व्याख्या की गई है तथा बाद में अन्य कवि रचिक पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने कारिका वृत्ति शैली को अपनाते हुए शास्त्रीय सिद्धांत 'कारिका' अर्थात् पद्यात्मक सूत्रों में प्रतिपादित किए हैं तथा गद्य में उसकी व्याख्यान करने के बाद उदाहरण दिए हैं। किंतु हिंदी के अधिकांश रीतिकालीन आचार्यों ने इनमें से केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है। केशव, चिंतामणि,

मतिराम, भूषण, देव, पद्माकर आदि आचार्यों की निरूपण शैली ये ही है। जसवंत सिंह ने जयदेव के समान लक्षण और उदाहरण को एक ही दोहे में प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है तथा कुलपति, सोमनाथ और प्रतापसाहि ने कहीं-कहीं वृत्ति रूप में गद्य में भी अपने मत व्यक्त किए हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत और हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों के उद्देश्य में पर्याप्त भिन्नता है। संस्कृत आचार्यों ने लक्ष्य ग्रंथों को दृष्टि में रखकर लक्षण ग्रंथों के प्रणयन को ही अपना प्रमुख ध्येय समझा जबकि रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा में विद्यमान लक्षणों को आधार बनाकर लक्ष्य ग्रंथों के निर्माण को ही अपना उद्देश्य बनाया। इतनी सीमाओं एवं विवशताओं के होते हुए भी रीतिकालीन आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि इन्होंने काव्यशास्त्र जैसे नीरस एवं कठिन विषय को सरस एवं सुगम बना दिया। लक्षणों के उदहारण इनकी मौलिक प्रतिभा की देन है। हिन्दी साहित्य को इन्हीं उदाहरणों के द्वारा शृंगार रस से संबंधित काव्य को एक विशाल भण्डार प्राप्त हो गया, जो अपने विवेचन एवं परिमाण में अतुलनीय है।

रीतिकाल के आचार्यों का वर्गीकरण

रीति-निरूपण के आधार पर रीतिकालीन कवि-आचार्यों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है--1. सर्वांग निरूपक आचार्य, 2. विविधांग निरूपक आचार्य तथा 3. एकांग या विशिष्टांग निरूपक आचार्य।

सर्वांग निरूपक आचार्य

इस वर्ग के आचार्यों ने काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन अपने लक्षण ग्रंथों में किया है। रस एवं अलंकार के अतिरिक्त काव्य रूप, शब्द शक्ति, काव्य गुण, काव्य-दोष आदि सभी तत्त्वों पर रीतिकालीन आचार्य कवियों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। चूँकि इन कवियों का ध्यान कवि-कर्म की अपेक्षा आचार्य-धर्म पर अधिक केंद्रित था, अतः इनके लक्षण-ग्रंथों में सिद्धांतों का प्रतिपादन अधिक विस्तार से मिलता है। यद्यपि ऐसे आचार्यों की संख्या बहुत अधिक नहीं है तथापि विस्तृत शास्त्रीय विवेचन, स्पष्ट निरूपण शैली तथा विषय की सुबोधता आदि अनेक विशेषताएँ इन आचार्यों को अन्य रीति निरूपण कवियों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट स्थान प्रदान कर देती हैं। इन आचार्यों ने काव्यांगों के लक्षण प्रस्तुत करने के लिए संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परंपरा का ही अनुकरण किया था, किंतु स्थान-स्थान पर उन्होंने कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। यह सत्य है कि इसके मूल में मम्मट और विश्वनाथ का व्यापक प्रभाव कुछ अधिक सक्रिय रहा, किंतु यह कहना इनके प्रति अन्याय

होगा कि इतर संप्रदायों की स्थापना का इन लोगों का ज्ञान नहीं था—इनमें अनेक ऐसे हैं, जिन्होंने ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-उत्तरवर्ती संस्कृताचार्यों के ग्रंथों के अतिरिक्त हिंदी में केशव आदि के ग्रंथों का गंभीर अध्ययन कर उनकी मान्यताओं पर विचार करते हुए, अपना मत बिना किसी संकोच के व्यक्त किया है।[6] ऐसा होने पर भी ये आचार्य छंद के क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में मौलिक चिंतन नहीं कर पाए किंतु लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करते समय इन्होंने जिन कवित्वों की सृष्टि की है, उनकी स्पष्टता सुबोधता एवं सरसता के संबंध में किसी प्रकार का संदेह अथवा संशय नहीं है।

प्रमुख सर्वांग निरूपक आचार्य

समस्त काव्यांगों का विवेचन करने वाले प्रमुख आचार्य हैं—केशव, चिंतामणि, देव, कुलपति मिश्र, सोमनाथ, भिखारीदास, रसिक गोविंद तथा ग्वाल आदि। इन कवि आचार्यों का संक्षिप्त साहित्यिक परिचय इस प्रकार हैं—

केशव : केशव की जिन प्रामाणिक रचनाओं की जानकारी प्राप्त होती है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं—'रतन बावनी', 'रसिक प्रिया', 'नख शिख', 'बारहमासा', 'रामचन्द्रिका' 'कविप्रिया', 'छंदमाला', 'वीरसिंहदेव चरित', 'विज्ञान गीता' तथा 'जहाँगीर जस चन्द्रिका'। किंतु इनमें से केशव की प्रतिष्ठा का मूल आधार उनकी तीन रचनाएँ 'रामचन्द्रिका', 'रसिकप्रिया' और 'कंविप्रिया' ही हैं। रामचन्द्रिका केशव को भक्तिकाल का अंतिम कवि सिद्ध करती है, तो 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' उन्हें रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य की पदवी से गौरवान्वित करती हैं। हिंदी साहित्य में केशव ही एकमात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने कवि, भक्त, आचार्य एवं चारण के दायित्व का सफल निर्वाह एक साथ किया है।

उनके आचार्यत्व का परिचय दो रचनाओं से प्राप्त होता है—'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया'। 'रसिकप्रिया' शृंगार-रस से संबंधित प्रमुख ग्रंथ हैं। इसमें कुल 16 प्रकाश हैं, जिनमें से 13 प्रकाशों के अंतर्गत शृंगार रस का ही सांगोपांग निरूपण किया गया है। इन्हीं प्रकरणों में नायक-नायिका भेद का भी विस्तृत परिचय दिया गया है। केशव ने कामशास्त्र संबंधी चार प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। इस विवेचन में उन्होंने अनुमानतः कोका पण्डित रचित 'रतिरहस्य' और कल्याणमल्लरचित 'अनंगरंग' को आधार रूप में ग्रहण किया था। 'रसिकप्रिया' के 14 वें प्रकाश में शृंगारेतर रसों, 15वें प्रकाश में कौशिकी आदि चार वृत्तियों तथा अंतिम प्रकाश में 'अनरस' नामक पाँच रसदोषों का विवेचन किया है। इस ग्रंथ पर शृंगार तिलक, शृंगार प्रकाश' काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' तथा 'कामसूत्र' आदि काव्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

केशव कृत 'कविप्रिया' में भी 16 प्रभाव हैं। आरंभिक दो प्रभावों में कवि ने अपना आश्रयदाता इंद्रजीत सिंह तथा अपनी प्रेयसी प्रवीणराय का वर्णन किया है। तीसरे प्रभाव में 18 काव्य दोषों का उल्लेख है—चौथे प्रभाव में कविप्रिया प्रसंग वर्णित है तथा शेष प्रभावों में अलंकारों का विवेचन किया गया है। केशव ने जिन 18 काव्यदोषों का वर्णन किया है, उनमें से पाँच दोष नाम की दृष्टि से उनकी मौलिक उपज हैं—अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। उत्तम, मध्यम और अधम- तीन रीतियों के लक्षण प्रस्तुत करते समय उन्होंने भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक 'एके सत्पुरुषा परार्थ घटकाः' को स्रोत रूप में ग्रहण किया है। ये तीन कवि-रीतियाँ इस प्रकार हैं—

सांची बात न बरनहीं, झूठी बरनीन बानि।
एकनि बरनै नियम कै, कविमत त्रिविध बखानी ॥[7]

कविप्रिया में केशव ने वर्ण्य विषय को तथा उसे भूषित करने वाले साधनों को अलंकार कहा है। प्रथम को उन्होंने साधारण अलंकार नाम दिया है और द्वितीय को विशिष्ट अलंकार।[8] अलंकार-विवेचन में उन्होंने 'काव्यकल्पलता वृत्ति' तथा 'अलंकार शेखर' को आधार ग्रंथ के रूप में गृहीत किया है। साधारण अलंकारों के उन्होंने चार भेद किए हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री तथा विशिष्ट अलंकारों के अंतर्गत उन्होंने स्वभावोक्ति, विभावना आदि चालीस अलंकारों का वर्णन किया है। उन्होंने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए सर्वगुणसम्पन्न अलंकाररहित कविता को भी उसी प्रकार शोभाहीन माना है, जिस प्रकार सर्वगुणसम्पन्न आभूषणरहित नारी—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत।
भूषण बिन न विराजइ कविता वनिता मित्त ॥[9]

उन्होंने छंद का विशद् विवेचन 'छंदमाला' नामक कृति में किया है। केशव संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, अतः उनकी ब्रजभाषा में संस्कृत के शब्दों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वर्ण्य-विषय के अनुसार अरबी-फारसी शब्दों को भी उन्होंने ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ढाल लिया है। किंतु उन्होंने अलंकारों के अतिशय प्रयोग से अपनी काव्य-भाषा को पाण्डित्य के बोझ से बोझिल कर उसे दुर्बोध एवं क्लिष्ट बना दिया था। अलंकरण की इसी प्रवृत्ति के कारण उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' भी कहा जाता है।

चिंतामणि : हिंदी साहित्य के विभिन्न विद्वान चिंतामणि की चर्चा तिकवांपुर-निवासी, रत्नाकर के पुत्र और हिंदी के सुविख्यात कवि मतिराम और भूषण के भाई के रूप में करते आए हैं।[10] किंतु नवीनतम शोधों द्वारा यह धारणा भ्रामक सिद्ध हो चुकी है। वास्तव में वे उत्तर प्रदेश के जिला फतेहपुर में स्थित कोंडा-जहाँनाबाद के निवासी थे और राजा हम्मीर के आदेश से भूषण और मतिराम के साथ वे भी तिकवांपुर में आकर बस गए थे। इनका जीवन समय सन् 1600 से 1685 ई. के आसपास का माना गया

है।[11] मुख्य रूप से ये शाहजी भोंसला[12] शाहजहाँ और दाराशिकोह के राज आश्रय में रहे थे। इनके द्वारा रचे गए नौ ग्रंथों का उल्लेख मिलता है- रसविलास, छंदविचार पिंगल, शृंगारमंजरी, कविकुलकल्पतरु, कृष्णचरित्र, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कवित्तविचार और रामायण। परंतु इनमें से आज प्रथम पाँच ग्रंथ ही उपलब्धि हैं।

कविकुलकल्पतरु : चिंतामणि ने प्रस्तुत रचना में रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं दिया। किंतु मिश्रबंधुओं तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रंथ का रचनाकार सं॰ 1707 वि॰ माना है।[13] आठ प्रकरणों में विभक्त इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के प्रायः सभी पक्षों को उजागर किया गया है। पहले प्रकरण में गणेश और पार्वती की वन्दना करने के पश्चात् काव्य-भेद, काव्य-स्वरूप और काव्य पुरुष रूपक का निरूपण किया गया है।दूसरे और तीसरे प्रकरण में शब्दालंकारों और अर्थालांकारों की उनके भेदोपभेदों के साथ चर्चा की गई है। चौथें, पाँचवें और छठे प्रकरण में क्रमशः काव्य दोष, नायिका-भेद तथा हाव-भावादि का विवेचन है। सातवें प्रकरण में शृंगार रस तथा आठवें प्रकरण में शेष रसों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस ग्रंथ पर मुख्य रूप से मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा भानुदत्त की 'रस-मंजरी' का प्रभाव लक्षित होता है। स्वयं चिंतामणि ने अपने इस ग्रंथ को संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथोंपर आधारित स्वीकार करते हुए लिखा है -

जो सुरबानी ग्रंथ हैं, तिनको सुमक् विचार।
चिंतामनि कवि करत है, भाषा कवित विचार ॥[14]

मम्मट ने काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा था—तद्दोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[15] चिंतामणि ने इसी परिभाषा को रूपांतरित कर काव्य का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया—

सगुन अलंकारन सहित, दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित, विबुध कहत सब कोइ ॥[16]

वस्तुतः चिंतामणि ने संस्कृत काव्य शास्त्र के विभिन्न संप्रदायों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा कि शब्द, अर्थ, काव्य का शरीर, रस प्राण, अलंकार, आभूषण, रीति काव्य का स्वभाव और गुण, शौर्यादि गुणों के समान है। इन सबकी उपस्थिति में ही काव्य-पुरुष की पूर्णता निहित है—

शब्द अर्थ तनु जानिये, जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते, उपमादिक मन आनि ॥
श्लेषादिन गुन सूरतादिक से मानो चित्त।
बरनो रीति सुभाव ज्यों, वृत्ति वृत्ति से मित्त ॥[17]

मम्मट के समान इन्होंने माधुर्य, ओज, प्रसाद—तीन गुणों की ही चर्चा की है। इनके कथनानुसार माधुर्य गुण चित्त को हर्षित करने वाला, काव्य का मूल तत्त्व है।

शृंगार, करुण तथा शांत रस में इसकी स्थिति स्वीकार की जाती है। ओज गुण में चित्त को दीप्त करने की शक्ति होती है। इसकी स्थिति वीर, रौद्र तथा बीभत्स रसों में होती है। प्रसाद गुण में अर्थ की सरलता अभीष्ट है। जैसे सूखे ईंधन में अग्नि प्रवेश करती है और स्वच्छ जल में उसकी तरलता झलकती है, वैसे ही इस गुण में शब्दों का अर्थ स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है—

सूखे ईंधन आगि ज्यों, स्वच्छ नीर की रीति।
झलके अक्षर अर्थ जो, सो प्रसाद गुन नीति ॥[18]

शृंगार मंजरी : नायक-नायिका भेद से संबंधित यह ग्रंथ आंध्र के संत अकबर शाह की शृंगार मंजरी के संस्कृत अनुवाद का ब्रजभाषा में अनुवाद है।[19]

छंदविचार पिंगल : इस ग्रंथ के अंतर्गत 'प्राकृतपैंगलम्' तथा भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' के आधार पर छंद-नियमों पर प्रकाश डाला गया है तथा प्राकृत के कुछ छंदों का विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् हिंदी के छंदों का निरूपण किया गया है।[20]

रसविलास : जैसा कि नाम से ही विदित है कि यह रस निरूपण ग्रंथ है। इसमें भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी', 'रसतरंगिनी' तथा धनंजय के 'दशरूपक' और विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय प्रमुख रूप से लिया गया है।[21]

कृष्णचरित : इसमें कृष्ण चरित्र का वर्णन व्याप्त है।

चिंतामणि रीतिकाल के प्रथम आचार्य है। हिंदी रीतिकाव्य में एक नवीन परंपरा का प्रवर्तन करके इन्होंने मम्मट और विश्वनाथ जैसे समन्वयवादी संस्कृत आचार्यों का अनुसरण किया। वास्तव में उन्होंने विषय का गंभीर अध्ययन एवं विवेचन प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि उनका विवेचन केशव की भाँति काव्यांगों का परिचय मात्र नहीं है। इस संबंध में डॉ. भगीरथ मिश्र का कथन है कि काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों का विवेचन कर उन्होंने यह सप्ष्ट कर दिया कि उनका संस्कृत का अध्ययन काफी गंभीर था। केशव की भाँति वे केवल विषय का परिचय नहीं देते, वरन् उसका निरूपण भी करते हैं। उनका विषय निरूपण और समझाने को जो अपना ढंग है, वह बड़ा ही उपयुक्त है।[22] डॉ. नगेन्द्र का मत है कि 'वास्तव में हिंदी रीतिशास्त्र में गुण का इतना सांगोपांग वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। चिंतामणि ने वामन और मम्मट दोनों के गुण विवेचन का हिंदी में सम्यक् अवतरण का स्तुल्य प्रयास किया है।'[23]

आचार्यत्व की दृष्टि से तो चिंतामणि रीतिकालीन आचार्यों में शिरोमणि स्थान के अधिकारी हैं ही, कवित्व की दृष्टि से भी इनका महत्त्व कम नहीं है। अपने रीति ग्रंथों में इन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, वे शृंगार, वीर, वात्सल्य एवं भक्ति रस के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। डॉ. राजकिशोर पाण्डेय के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'यद्यपि इनकी कविता में बिहारी का सा उक्ति वैचित्र्य और देव का-सा भावों का उपफान नहीं है किंतु उसमें सरसता की कमी नहीं है। सीधे सादे शब्दों में व्यक्त इनके

भाव पाठक के हृदय को प्रभावित करते हैं। इनके उदाहरणों में सच्चे कवि हृदय की झलक मिलती है।'[24] भाषा शैली की दृष्टि से भी इनका काव्य परिनिष्ठित है। ब्रजभाषा का लालित्य, अलंकारों की मधुर योजना, कवित्त-सवैयों का भावोनुकूल प्रयोग, गत्यात्मकता एवं लयात्मकता इनकी भाषा शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

1. ओढ़े नील सारी घनघटा कारी 'चिन्तामनि'
कंचुकी किनारी चाक चपला सुहाई है।
इन्द्रबधु जुगुनू जवाहर की जगी जोति
बव मुकतान माल कैसी छबि छाई है।
लाल पीत सेत बादर बसन तन
बोलत सु भृंगी धुनि नूपुर बआई।
देरिबे को मोहन नवल चटनागर को
बरषा नवेली अलबेली बनि आई है।[25]

2. आंखिन मूँदेबि के मिस आनि अचानक पीति उरोज लगावै।
कैसे कहूँ मुसकाय–चितै अंगराय अनुपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छल सो छतियां, हँसि भौहैं चढ़ाय आनन्द बढ़ावै।
जोबन के मद मत्त तिया, हित सों पति को नित चित्त चुरावै॥[26]

चिंतामणि का रीति-निरूपण : चिंतामणि ने रीतियों का स्वतंत्र रूप से विवेचन न करके मम्मट के अनुसार शब्दालंकारों में 'वृत्ति' अनुप्रास के अंतर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का निरूपण किया है। माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना उपनागरिका कहलाई जाती है, ओज गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना परुषा कहलाई जाती है तथा प्रसाद गुण से समन्वित रचना कोमला होती है। चिंतामणि ने यहीं पर मम्मट के अनुकरण पर वैदर्भी, पांचाली और गौडी तीन वृत्तियों का वर्णन किया और यह भी कहा है कि कुछ विद्वान इन्हें ही 'रीति' कहते हैं–

वैदर्भी पांचाल जो, गौडी धरम नवीन।
रीति कहत कोऊ उन्हें, वृत्ति जे हैं तीन॥[27]

चिंतामणि और मम्मट के रीति-निरूपण का साम्य द्रष्टव्य हैं–

चिंतामणि– समता जो आखरन की अनुप्रास जो जानि।
छेक वृत्ति द्वै विधि ताहि बखानि॥
माधुर्यो विंजक वरन उपनागरिका होइ।
मिलि प्रसाद पुनि कोमला, परुषा बोज समोइ॥
वैदर्भी पांचाल जो, गौडी धरम नवीन।
रीति कहत कोऊ उन्हें, वृत्ति जे हैं तीन॥[28]

मम्मट— वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा।
माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरूपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः।।
परे शेषैः। + + +
केषांचिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतियो मताः।
एतास्तिस्त्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौड़ीपांचाल्याख्या रीतयो मताः।[29]

मम्मट सम्मत चिंतामणि के इस निरूपण से 'वृत्ति' का क्षेत्र विस्तृत हो गया क्योंकि उन्होंने उसके अंतर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला तथा वैदर्भी, गौडी और पांचाली को भी समाविष्ट कर लिया। चिंतामणि का अनुकरण करके हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों में से बहुतों ने—जसवंतसिंह, कुलपति, करन, दूलह, रसरूप, ऋषिनाथ, रसिकगोविन्द, द्विजगंग—वृत्ति अनुप्रास के अंतर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत किया तथा कतिपय विद्वानों ने तो उनका अनुगमन पूर्ण रूप से करते हुए वैदर्भी आदि काव्य रीतियों का वर्णन भी 'वृत्ति' के अंतर्गत करके उन्हें विकल्प से 'रीति' भी कह दिया।[30] किंतु इस दुर्विकल्प के पफलस्वरूप काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में एक अव्यवस्था सी व्याप्त हो गई।

कुलपति : चिंतामणि के पश्चात् रीति-परंपरा के दूसरे प्रमुख आचार्य कुलपति मिश्र हैं। उन्होंने 'संग्राम-सार' और 'रस-रहस्य' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथों में इस तथ्य को उजागर किया है कि वे आगरा निवासी माथुर चौबे परशुराम के पुत्र थे[31] तथा जयपुर के कूर्मवंशीय महाराज जयसिंह के पुत्र रामसिंह के आश्रय में रहते थे अन्य रीतिकालीन आचार्यों की भाँति इनकी जन्म-तिथि तथा निधन काल के विषय में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः इनका रचनाकाल 1660 से 1700 के मध्य स्वीकार किया गया है।[32] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कुलपति कृत पाँच ग्रंथों—द्रौणपर्व, युक्ति, तरंगिणी, नखशिख, संग्रामसार और रस-रहस्य का उल्लेख अपने इतिहास ग्रंथ में किया है।[33] डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने इनके 50 ग्रंथ स्वीकार किए हैं, किंतु इनमें से प्राप्य ग्रंथ इस प्रकार स्वीकार किए हैं—रसरहस्य, दुर्गाभक्ति चन्द्रिका, संग्रामसार युक्ति तरंगिणी, नखशिख दुर्गा सप्तशती का अनुवाद, सरूप-कुरूप संवाद, आसाम की बाढ़, सेवा की बाढ़ और विष अमृत का झगड़ा।[34] डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह ने रसरहस्य, दुर्गा भक्ति चन्द्रिका, द्रौणपर्व, संग्राम सार, नखशिख तथा मुक्ति तरंगिणी ग्रंथों का कुलपति कृत स्वीकार किया है।[35] रामनरेश त्रिपाठी ने इन कृतियों में गुण-रस-रहस्य नामक एक अन्य कृति को जोड़कर कुलपति कृत रचनाओं की संख्या सात बताई है।[36] इसी प्रकार अगरचन्द नाहटा ने उपर्युक्त वर्णित कृतियों के अतिरिक्त षडऋतु अथवा ऋतु सुभाव संवाद की चर्चा कुलपति की रचनाओं के संबंध में की है।[37] विभिन्न विद्वानों द्वारा उल्लिखित ग्रंथों में से आज केवल तीन ग्रंथ ही प्राप्त हैं—रसरहस्य,

संग्राम सार तथा दुर्गाभक्तिचंद्रिका।[38] अतः यहाँ इन्हीं कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

संग्रामसार : आचार्य कुलपति ने महाराजा रामसिंह की आज्ञानुसार महाभारत के द्रोणपर्व का अनुवाद प्रस्तुत करने हेतु 'संग्रामसार' की रचना की थी। इस ग्रंथ का आरंभ गणेश-वन्दना से हुआ है, जिसमें सरस्वती की कृपा तथा वीररसोचित ओजपूर्ण पद रचना और छंद-वैविध्य प्राप्ति की याचना का भी उल्लेख मिलता है—

दुखदन जय सदन विधन वर टंड्नु खंडन,
सुडादंड प्रचंड दनुज हर सिव कुलमंडल।
अरुन वरन भय भीति हरन सुमिरन तुवजिज्य,
भारत भाषा करन विविध वर भारतिदि्ज्य।
उद्दाम रीति पदवर्न गुन बंध रचना सुघर,
हेरंभ कुंभ किज्जै कहूं जुद्ध क्रुद्ध सेना सुघट॥[39]

इस कृति के 17 से 33 तक के पद्यों में कवि ने यह भी स्पष्ट किया है कि उन्होंने द्रोणपर्व का अक्षरशः अनुवाद नहीं किया है वरन् इस कथा को उन्होंने चमत्कारपूर्ण उक्तियों, पिंगल और अलंकार शास्त्र के नियमानुसार वर्णन किया है। क्षात्रधर्म एवंवीर रस का संचार करने वाली इस रचना में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का प्रयोजन भी सन्निहित है। कुलपति के अनुसार यह ग्रंथ अतीत के स्मरण द्वारा शौर्य प्राप्तयर्थ यह चारण का कार्य करेगा—

द्रोणपर्व की बात रचिय निज जुगत उकित भरि,
पिंगल मत के छंद नवोरस अलंकार धरि,
धरम अरथ अरु काम मोक्ष साधन पोथी यह
कृष्ण कथा सब ठौर बहुत विधि क्षत्रि धर्म जह,
जिहिं पढ़त सुनत पातक नसे, कातरता आवे नचित
संग्राम सार किय ग्रंथ सो, कवि कुलपति नृपं वंशहित।[40]

'संग्रामसार' नामक यह ग्रंथ 16 परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद का वर्णन ऊपर कर दिया गया है। द्वितीय परिच्छेद में प्रथम दिवस के युद्ध समाप्ति का उल्लेख है। तृतीय परिच्छेद में संसप्तक युद्ध वर्णन व्यक्त है, चतुर्थ परिच्छेद में पाण्डवों का युद्ध-नैराश्य तथा द्वितीय युद्ध की समाप्ति का वर्णन किया गया है। पंचम परिच्छेद में भगदत्त वध की कथा तथा षष्ठ परिच्छेद में अभिमन्यु वध और तीसरे दिन की युद्ध समाप्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है। सप्तम तथा अष्टम परिच्छेद में पाण्डवों की चिंता उल्लेख है। नवम परिच्छेद में भीम के पराक्रम का वर्णन मिलता है तो दशम परिच्छेद में भीम तथा सात्विकी का युद्ध कौशल द्रष्टव्य है। एकादश परिच्छेद में जयद्रथ-वध की कथा कही गई है। द्वादश परिच्छेद में चतुर्थ दिवस के युद्ध की

समाप्ति का वर्णन किया है। त्रयोदश परिच्छेद में अश्वत्थामा युद्ध तथा चतुर्दश परिच्छेद में घटोचत्कथवध का उल्लेख है। पंचदश परिच्छेद में द्रोण वध तथा षोडश परिच्छेद में 97 छंदों के अंतर्गत शत रुद्र का वर्णन है। इसके पश्चात् ग्रंथ की समाप्ति की सूचना देते हुए ग्रंथ की प्रशस्ति और रचना के प्रयोजन का उल्लेख द्रष्टव्य है।[41]

रस-रहस्य : कुलपति ने इस ग्रंथ की रचना भी अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की आज्ञानुसार की थी।[42] संस्कृत काव्यशास्त्र को सरस एवं सरल रूप में हिंदी भाषा में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखी गई[43] इस कृति का रचनाकाल सं. 1727 वि. है—

संवत् सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादशी, बार बरनी बानीस ॥[44]

इस ग्रंथ में कुल आठ वृत्तांत और 652 पद्य हैं, जिसमें शास्त्रीय सिद्धांतों को दोहा, सोरठा, चौपाई में तथा अपने मौलिक उदाहरणों को कवित्त, सवैया और दोहों में आबद्ध किया गया है। विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से स्थान-स्थान पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है। वस्तुतः यह मम्मट के काव्यप्रकाश, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण तथा केशव की रसिकप्रिया के आधार पर रचा गया काव्यांग विवेचन संबंधी अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके पहले वृत्तांत के आरंभिक पदों में कृष्ण को नवरसपति मानकर उनकी वंदना की है, तदुपरांत छप्पय, सवैया एवं दोहों में सभा वर्णन, महल वर्णन तथा काव्य मर्मज्ञ महाराजा रामसिंह की जिज्ञासा का उल्लेख हुआ है। इसके पश्चात् 20 वें पद्य से लेकर 42 वे पद्य तक काव्य लक्षण काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य पुरुष रूपक और काव्य-भेदों का विवेचन द्रष्टव्य है। दूसरे वृत्तांत के 48 पदों में शब्द शक्तियों का निरूपण उदाहरण सहित किया गया है। तृतीय और चतुर्थ वृतांत में क्रमशः ध्वनि और उसके भेदोपभेदों तथा गुणीभूत-व्यंजन का निरूपण हुआ है। इनकी पद संख्या क्रमशः 126 और 22 है। पंचम वृत्तांत में काव्य-दोषों के भेदापभेदों का विवेचन 141 पद्यों में हुआ है। षष्ट वृतांत के 44 छंदों में शब्दालंकारों तथा अष्टम वृत्तांत के 206 पदों में अर्थालंकारों का विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है। ब्रजभाषा में रचित यह ग्रंथ व्याकरण की दृष्टि से तो स्वच्छ है किंतु भाषा की जो लचक अन्य रीतिकालीन कवियों के काव्य में उपलब्ध होती है, वह कुलपति की काव्य-रचनाओं में नहीं दिखाई देती। डॉ. महेन्द्र कुमार के शब्दों में, 'जहाँ तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनका काव्य साधारण कोटि का ही कहा जाएगा। यह ठीक है कि इनकी कविता नितांत नीरस नहीं तथापि इसके भीतर कल्पना-व्यापार-जन्य रमणीय बिंबों के अभाव के कारण प्रयागधिरता आ जाने से ये प्रथम श्रेणी के कवियों के वर्ग से बाहर आ पड़ते हैं। इधर व्याकरण एवं शब्दों के स्वच्छ प्रयोग के कारण इनकी भाषा यद्यपि आदर्श कही जा सकती है तथापि उसमें विषयानुरूप सौष्ठव न आ

सकने के कारण वह सौंदर्य नहीं आ पाया जो सरस काव्य के लिए अपेक्षित होता है। ऐसी दशा में यह कहते हुए संकोच नहीं किया जा सकता कि आचार्य कर्म में ये जितने सफल हैं, कवि कर्म में उतने ही असफल रहे हैं।'[45]

दुर्गाभक्ति चन्द्रिका : दुर्गाभक्ति चन्द्रिका का मार्कण्डेय पुराण के दुर्गा-सप्तशती आख्यान का भाषानुवाद है। 13 अध्यायों में विभक्त दुर्गा माहात्म्य को कुलपति ने 9 मयूखों में वर्गीकृत करके दुर्गापाठ समाप्त कर दिया है। इसी ग्रंथ के अंतिम भाग में 3 रहस्यों तथा 10 महाविधाओं के स्वरूप एवं उपासना पद्धति का भी विवेचन किया गया है। ग्रंथ का आरंभ सांख्य दर्शन के अनुरूप ब्रह्म की चेतन शक्ति के वर्णन से हुआ है–

सांख्य के मतचितसकति, वहै करति सब काम,
याकी छाया सौं छुटे सुद्धब्रह्म तीन काम।
सुद्ध सत्त्व मय जित् सकति, मिश्रित माया सोइ
वाही के गुण भेद ते, ईस तीन विधि होइ।
जैसे भानु विकास तें, सबै सती दब जाइ।
चेतन चेतनता दबी, माया छाया पाइ ॥[46]

प्रस्तुत रचना में कुलपति मिश्र के अनुवाद कौशल तथा मौलिक प्रतिभा के संदर्भ में डॉ. विष्णुदत्त शर्मा ने ठीक ही लिखा है–'निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता कि दुर्गाभक्ति चन्द्रिका मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती के क्रम पर प्रधानतया आधृत होकर भी दस महाविद्या निरूपण, त्रिपुर सुन्दरी वर्णन तथा प्रथम मयूख में काली स्तुति आदि के प्रसंगों में मौलिकता और नवीनता लेकर चली है। देवी के उग्र और कोमल रूपों के चित्रणार्थ अनुकूल प्रसंगों में छंदों और शब्दों का चुनाव रसोत्कर्ष को ध्यान में रखकर किया गया है। इस कृति से मिश्र जी की अनुवाद संबंधी क्षमता के परिचय के साथ उनके तंत्र ज्ञान की प्रौढ़ता का पता भी चलता है। वीर देव काव्य वर्णन की कठोर और कोमल–दोनों ही प्रणालियाँ इस कृति में अपनाई गई हैं।'[47]

कुलपति का रीति-निरूपण : चिंतामणि के समान कुलपति ने भी 'रीति' को साहित्यदर्पणकार के समान स्वतंत्र स्थान न देकर मम्मट के अनुसार वृत्यानुप्रास के अंतर्गत ही इसकी चर्चा की है। उनके अनुसार–

एक अनेकौ वरण बहु फिरै वृत्ति तब होय।
+ + +
उपनागरिका मधुर गुन व्यंजक वरनन होय।
ओज प्रकाशक वरन तें पुरुष कहिये सोय ॥
वरन प्रकाश प्रसाद को करे कोमला सोय ॥
तीन वृत्ति गुण भेद तें कहैं बड़े कवि लोय ॥

वैदरभी गौडी कहत पुनि पांचाली जानि।
इनहीं सों कोऊ कवी, वरनत रीति बखानि॥[48]

यहाँ पर कुलपति ने जहाँ 'एक अनेकौ वरण बहु फिरै वृत्ति तब होय' कहकर एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति को वृत्यानुप्रास कहा है, वहीं उन्होंने तीनों गुणों से उसका संबंध स्थापित करते हुए उनकी विशिष्ट वर्ण-योजना को भी संकेतित कर देते हैं। उन्होंने माधुर्य गुण व्यंजक उपनागरिका को वैदर्भी, ओज गुण व्यंजक परुषा को गौडी तथा प्रसाद गुण प्रधान कोमला को पांचाली रीति कहा है। वस्तुतः कुलपति का यह विवेचन मम्मट के काव्यप्रकाश की **'एकास्याप्य सक्रत्परः एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यंजनस्य द्विर्वहुकुत्वो वा सादृश्यं'** वृत्यनुप्रास की कारिका पर ही आधृत है। डॉ. विष्णुदत्त शर्मा ने लिखा है कि 'मम्मट की **'कोमला परैः'** कारिका से प्रभावित होकर ही (उद्भट के अनुसार माधुर्य और ओज से पृथक) कुलपति ने कोमला को प्रसाद गुण से समन्वित मान लिया। उद्भट की अभिमत तीनों वृत्तियाँ वामन आदि के मत में वैदर्भी, गौडी, पांचाली रीतियों के नाम से अभिहित की गई है। इसीलिए सामान्य रूप से कुलपति ने वृत्तियों को ही रीति का पर्याय मान लिया।'[49] डॉ. नगेन्द्र का मत है कि फ्यहाँ भी चिंतामणि की भाँति कोमला और प्रसाद गुण का संबंध माना गया है और अंत में इन तीनों वृत्तियों को रीतियों के साथ एकरूप कर दिया गया है।[50] इस प्रकार कहा जा सकता है कि कुलपति ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य चिंतामणि का अनुकरण करते हुए रीति को मम्मट के अनुसार ही परिगृहित किया है।

देव : रीतिकालीन कवि देव का महत्त्व आचार्य की अपेक्षा कवि की दृष्टि से अधिक है। चूँकि इन्होंने अपने विभिन्न ग्रंथों में अपने विषय में बहुत अधिक लिखा है, इसलिए उसी के आधार पर इनका जन्म संवत् 1730 वि. स्वीकार किया गया है—

शुभ सत्रह से छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष॥[51]

उपर्युक्त दोहे से ज्ञात होता है कि संवत् 1746 में देव ने सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया था, स्पष्ट है कि इस आधार पर उनका जन्म 1730-31 में हुआ होगा। इनके पिता का नाम बिहारीलाल दुबे था। ये उत्तर प्रदेश स्थित इटावा नामक स्थान के द्यौसरिया ब्राह्मण परिवार के वंशज थे। देव ने अपने जीवन काल में अनेक राजा-रईसों का आश्रय ग्रहण किया। इन्हें आश्रय प्रदान करने वाले कुछ प्रमुख आश्रयदाताओं के नाम इस प्रकार हैं -आज़मशाह, दादरीपति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य फफूंद के राजा कुशलसिंह, सेठ भोगीलाल, इटावा के पास स्थित डयोडियाखेरा के राजा मर्दनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह, पातीराम के पुत्र राय सुजानमणि तथा पिहानी के अधिपति अली अकबा खां।[52] चूँकि देव ने अंतिम आश्रयदाता अली अकबर खां

थे, जिनका समय संवत 1824 से आरंभ होता है। अतएव देव का जीवन काल कम से कम सं. 1824 तक तो स्वीकार किया ही जाता है।

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि देव द्वारा विरचित 72 ग्रंथों की चर्चा की जाती है, किंतु आज इनमें से मात्र 15 रचनाएँ ही उपलब्ध होती हैं—भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, प्रेमतरंग, कुशलविलास, जातिविलास, देवचरित्र, रसविलास, प्रेमचन्द्रिका, सुजानविनोद, काव्यरसायन (शब्द रसायन) सुखसागर तरंग, रागरत्नाकर, देवशतक तथा देवमाया प्रपंच। देव का सिद्धांत है कि जीवन के चार पदार्थों में से सबसे प्रथम स्थिति है—धर्म की, धर्म से अर्थ की उत्पत्ति होती है, अर्थ से सुख की। सुख का सर्वस्व रस है, और रस का कारण है भाव। रसों में मुख्य शृंगार है, इसलिए प्रस्तुत ग्रंथ (भावविलास) में उन्होंने केवल उसी का सर्वांग विवेचन किया है, अन्य रसों का स्पर्श भी नहीं किया।[53] भाव-विलास देव की सर्वप्रथम रचना है, जिसमें मुख्य रूप से पाँच विलास हैं। प्रथम विलास में स्थायी भाव रति का विवेचन करने के पश्चात् विभाव और अनुभाव का वर्णन किया गया है। द्वितीय विलास में सात्विक भावों और प्रचलित निर्वेदादि संचारियों का विवेचन है। तृतीय विलास के अंतर्गत लौकिक और अलौकिक रसों का निरूपण किया गया है। चतुर्थ विलास में प्राचीन संस्कृताचार्यों के अनुकूल नायक-नायिका भेद का वर्णन है तथा पंचम विलास में 39 अलंकारों का उल्लेख है—

अलंकार मुख्य उनतालिस हैं देव कहै,
येई पुराननि मुनि मतनि मैं पाइये।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
इनहीं के भेद और विविध बताइये॥[54]

वैष्णव कवियों ने जिस रीति से भगवान की अष्टयाम सेवा का वर्णन किया, उसी आधार पर देव ने अपने ग्रंथ 'अष्टयाम' की रचना की। इसमें उसी रीति और क्रम से नायिका या दम्पत्ति के विविध विलासों का वर्णन किया गया है, जिस रीति से वैष्णव कवियों ने भगवान् अथवा राधाकृष्ण का कार्यक्रम वर्णित किया है—

दंपति नीके देव कवि बरनत विविध विलास।
आठ पहर चौंसठ घरी पूरन प्रेम-प्रकास॥[55]

इस रचना में कुल 65दोहे, 32 सवैया और 32 कवित्त हैं।

भवानी-विलास का वर्ण्य-विषय नायिका भेद है। आठ विलासों में रचित इस ग्रंथ के आरंभ में मंगलाचरण तथा ग्रंथ निर्देशिका स्तुति है, तदुपरांत शृंगार रस की प्रमुखता का विवेचन मिलता है। दूसरे विलास में नायिका का जाति और कर्मभेद के आधार पर वर्णन किया गया है तथा तीसरे विलास में अंशभेद के आधार पर नायिका का विवेचन द्रष्टव्य है। चौथे विलास में मुग्धा नायिका के चार भेदों तथा पूर्वराग-वियोग

का वर्णन विस्तार से किया गया है। पाँचवें विलास में मुग्धा के अंतिम भेद सलज्जरति और मध्या के दो भेदों के साथ समागम का वर्णन करने के पश्चात् प्रौढ़ा के चारों भेदों के साथ सुखभोग का उल्लेख है। छठे विलास में मध्या नायिका की आठ अवस्थाओं तथा प्रौढ़ा के दस भाव वर्णित किए गए हैं। सातवें विलास में मध्या प्रौढ़ा के मान का विवेचन करते हुए धीरा, अधीरा, धीराधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, गर्विता आदि का वर्णन है। फिर परकीया के भेदों का उल्लेख करते हुए नायक भेद का वर्णन किया गया है। आठवें उल्लास में शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य आठों रसों का विवेचन है।

भवानीविलास की भाँति कुशल विलास का वर्ण्य विषय भी नायिका-भेद ही है। वस्तुतः यह एक प्रकार से प्रेम-तरंग का संशोधित संस्करण है, जिसमें प्रेम-तरंग के दो-चार छंदों को छोड़कर संपूर्ण सामग्री को ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है। इसमें कुल नौ विलास हैं, जिनमें शृंगार रस की उत्पत्ति, उसके विभिन्न अंगों-विभाव, अनुभाव, तनसंचारी, मनसंचारी नायक की विभिन्न चेष्टाओं के प्रति स्वकीया की प्रतिक्रियाओं, स्वकीया परकीया और सामान्या के परिजनों, मुग्धा के पाँच भेदों, मध्या और प्रौढ़ा के भेदों, मुग्धा के साथ दस कामदशाओं, मध्या के साथ आठ अवस्थाओं प्रौढ़ा के साथ दस हावों तथा संयोग-वियोग का वर्णन करके ग्रंथ समाप्त कर दिया गया है।

'जाति विलास' में मुख्यतः जाति, वर्ण, व्यवसाय, वास तथा देश के क्रम से नायिका भेद का वर्णन प्राप्त होता है। रस-विलास भी नायिका-भेद से संबंधित ग्रंथ है। इसके सात विलासों में कामिनी के सैकड़ों भेदों का उनके हाव-भाव के साथ वर्णन किया गया है। डॉ. नगेन्द्र ने इस कृति के संबंध में लिखा है कि 'रस विलास नारी के विभिन्न भेदों और हाव-भाव का एक कोष है। परंतु यह सब प्रस्तार नारी के विभिन्न रूपों का ही निदर्शन करता है—वैसे तो नारी, पुरुष के मन पर अधिकार करने वाली, देखते ही मन को हर लेने वाली, मूलतः एक ही है।'[56] प्रेमचन्द्रिका विशुद्ध प्रेम-रस का ग्रंथ है। इसमें कवि ने विषय-वासना का तिरस्कार करते हुए प्रेम का माहात्म्य प्रतिपादित किया है। 'प्रेमचन्द्रिका शुद्ध काव्य की दृष्टि से देव का सबसे सरस ग्रंथ है। रीति-बंधन से मुक्त होकर इसमें कवि के अनुरागी मन ने समग्रतः डूब कर प्रेम के गीत गाए हैं। इतना आवेग, इतनी तल्लीनता, रीतिकाल में केवल घनानंद को छोड़ अन्य किसी भी कवि में अप्राप्य है। यहाँ वास्तव में प्रेम का वर्णन न होकर प्रेम की अभिव्यक्ति है, ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि का संपूर्ण व्यक्तित्व पिघलकर बह उठा हो।'[57] 'देव-चरित्र' कवि का एकमात्र खण्डकाव्य है, जिसके 150 छंदों में संपूर्ण कृष्ण चरित्र को वर्णित करने का प्रयास किया गया है। ग्रंथ का आरंभ कृष्ण जन्म तथा ब्रज सौभाग्य के वर्णन से हुआ है। उसके उपरांत तृणावर्त वध, छठी और नामकरण, माखन चोरी, बकासुर वध, कालयवनवध, कालियनाग दमन, प्रलम्बासुर वध, गोवर्धन लीला, कुब्जा

उद्धार, कंस वध, द्वारका गमन, रुक्मिणी-स्वयंवर, महाभारत में पाण्डवों की सहायता आदि विविध प्रसंगों का संक्षिप्त रूप में वर्णन किया गया है। 'देव-माया-प्रपंच' प्रबोधचन्द्रोदय की शैली पर लिखा गया छः अंकों का पद्यबद्ध नाट्य रूपक है। इसमें परम पुरुष, प्रकृति और माया का दार्शनिक विवेचन एक रूपक के रूप में किया गया है, जिसमें माया और प्रकृति,परम पुरुष की दो पत्नियाँ हैं। प्रकृति से बुद्धि का तथा माया से मन का जन्म होता है। माया के प्रभाव से मन का पिता, विमाता और बहन से विद्रोह हो जाता है, किंतु अंत में प्रकृति मन और बुद्धि का परम पुरुष से संयोग हो जाता है। 'देव-शतक' अध्यात्म संबंधी ग्रंथ है, जिसमें जगत् की असारता, उसमें लिप्त रहने वाले जीव की भर्त्सना तथा ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया गया है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में 'दार्शनिक भावनाओं को कवि ने पूर्ण अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति किया है। अतएव वे कोरा दर्शन न रहकर काव्य बन गई हैं। उसके आत्म ग्लानि के उद्गारों में उतनी ही तन्मयता है जितनी भक्त कवियों में मिलती है उसमें वस्तु के अनुरूप गांभीर्य और स्थिरता आ गई है।'[58] 'शब्द-रसायन' देव का प्रौढ़तम रीति ग्रंथ है। अन्य कृतियों में तो देव का कवि अधिक मुखर हुआ है, किंतु इसमें उनके आचार्य रूप के दर्शन होते हैं। इस नीति निरूपक ग्रंथ में कुल एकादश प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में कवि ने काव्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है–

ऊँच नीच तरु कर्म बस, चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवंत-जस, नव्य काव्य-सुखसार।
रहत न घर बर, धाम, धन तरुवर, सरवर कूप।
जस शरीर जग में अमर, भव्य काव्य रसरूप॥[59]

इसी प्रकाश में उन्होंने शब्द शक्तियों का विस्तृत विवेचन करते हुए शब्द शक्तियों के कुछ नए भेदोपभेदों की भी चर्चा की है। अभिधा को काव्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति का पद प्रदान करते हुए उन्होंने लिखा है–

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन।
अधम व्यंजना रस-विरस, उलटी कहत नवीन।[60]

दूसरे प्रकाश में काव्य-वृत्तियों का निरूपण व्याप्त है तथा तृतीय प्रकाश में रस का महत्त्व प्रतिपादन करने के पश्चात् रस-लक्षण, रस-भेद, रसोत्पत्ति, रस के विविध अंगों तथा रसों के सापेक्षिक गौरव का वर्णन किया गया है। पंचम प्रकाश के अंतर्गत रसों की मित्रता और शत्रुता का विवेचन है। षष्ठ प्रकाश में शृंगार रस का विवेचन करते हुए[61] नायक-नायिका का भी उल्लेख व्याप्त है, किंतु कवि ने यह वर्णन विभाव के रूप में न करके शृंगार के वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लाक्षणिक तथा व्यंग्य-व्यंजक पात्रों के क्रम से अत्यंत संक्षिप्त रूप में किया है। सातवें प्रकाश में रीति-विवेचन है तथा आठवें प्रकाश में चित्रकाव्य का उल्लेख अधम काव्य के रूप में हुआ है–

मृतक काव्य बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत।
सरसभाव, रस काव्य सुनि, उपजत हरि सो हेत॥

नवें प्रकाश में उपमा को प्रधान अलंकार के रूप में देखकर 40 मुख्य और 30 गौण अर्थालंकारों का वर्णन व्याप्त है तथा अंतिम दो प्रकाशों में पिंगल निरूपण देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि देव की इस प्रौढ़तम कृति में काव्यशास्त्र के सभी अंग समाविष्ट हो गए हैं, इसी कारण देव की चर्चा सर्वांग निरूपक आचार्यों की श्रेणी में की जाती है। डॉ. राजकिशोर पाण्डेय ने उचित ही लिखा है—'देव अपने युग के अत्यंत प्रतिभावशाली आचार्य कवियों में से थे। काव्य लिखने की इनमें जन्मजात प्रतिभा थी। इन्होंने 'भाव-विलास' की रचना केवल 16 वर्ष की आयु में की। इन्होंने रस, अलंकार, छंद, रीति, वृत्ति, नायिका-भेद आदि काव्यशास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख अंगों पर प्रकाश डाला। इन्होंने काव्यशास्त्रीय प्रश्नों का अपने ढंग से विवेचन किया और कहीं-कहीं नवीन मान्यताओं की स्थापना की। देव ने अपने काव्य-रसायन में काव्य स्वरूप का विवेचन करते हुए परंपरागत मान्यता से हटकर शब्द को काव्य का जीव, अर्थ को मन और रसात्मक सौंदर्य को काव्य का शरीर माना है।'[62]

देव का रीति-निरूपण

आचार्य देव ने रीतियों का काव्य का द्वार मानते हुए, रस से उनका अभिन्न स्थापित किया है—तातें पहले बरनिए काव्य-द्वार रस-रीति'[63], यहाँ पर देव का 'द्वार' से तात्पर्य माध्यम है। काव्य पुरुष के रूपक में भी रीति की समता अंग संस्थान से की गई है। इस प्रकार इस प्रसंग में देव ने एक प्रकार से प्राचीन आचार्यों के मतों का ही अनुकरण किया है, क्योंकि शरीर भी तो आत्मा की बाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम ही है। किंतु अन्य आचार्यों के रीतिनिरूपण और देव के रीति निरूपण में भिन्नता यह है कि देव ने रीति और गुण का एकाकार कर दिया है, अर्थात् गुण के स्थान पर सर्वत्र 'रीति' शब्द का ही प्रयोग किया है। उन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य ओज, सौकुमार्य अर्थव्यक्ति, उदार तथा कान्ति—दस गुणों (रीतियों) को तो स्वीकार किया ही है लेकिन इसमें उन्होंने अनुप्रास तथा यमक को भी सम्मिलित करके गुणों (रीतियों) की संख्या बारह तक पहुँचा दी। इसके साथ ही उन्होंने गुण को रस का नित्य धर्म माना है। वस्तुतः गुण के इसी बाह्य रूप के साथ ही मम्मट ने रीति को संबद्ध किया था। इतना होने पर भी देव के रीति-विवेचन को शास्त्र सम्मत नहीं कहा जा सकता।

सोमनाथ

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य सोमनाथ का उपनाम 'शशिनाथ' है। ये माथुर

ब्राह्मण नीलकण्ठ के पुत्र थे—इस तथ्य का उल्लेख स्वयं कवि ने अपनी रचनाओं में भी किया है—

नीलकंठ जू के तनय तीनि सकल बड़ भाग।
तिनके कह्तु सु नाम अब सुनत बढ़े अनुराग॥
बड़े उजागर गंगधर सुख संपत्ति के धाम।
सबसे छोटो सु लघुमति सोमनाथ इहि नाम॥[64]

इनकी रचनाओं में प्रत्यक्षतः उनके तीन आश्रयदाताओं का नामोल्लेख मिलता है—सूरजमल, प्रतापसिंह तथा बहादुर सिंह।[65] किन्तु कुछ अन्य संकेत सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि सोमनाथ इन तीन राजाओं के अतिरिक्त प्रतापसिंह तथा सूरजमल के पिता बदन सिंह के आश्रय में भी रहे। 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित सोमनाथ ग्रंथावली में सोमनाथ विरचित चौदह कृतियाँ संकलित हैं, जो इस प्रकार हैं—संग्राम दर्पण, रसपीयूषनिधि, रामचरित रत्नाकर, रासपंचाध्यायी, सुजान-विलास, माधव विनोद, ध्रुव-चरित, महादेव जी को ब्याहुलौ, ब्रजेन्द्र विलास, शृंगार-विलास, प्रेम-पचीसी, दीर्घनगर वर्णन, नवाबोल्लास तथा रामकलाधर।[66] उपर्युक्त वर्णित कृतियों को प्रतिपाद्य की दृष्टि से छः वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

1. शास्त्रीय अथवा आचार्यत्व-परक कृतियाँ—रसपीयूषनिधि तथा शृंगार विलास।
2. भक्ति विषयक कृतियाँ—ध्रुव विनोद तथा महादेव जी को ब्याहुलौ।
3. प्रेम विषयक कृति—प्रेम-पचीसी।
4. प्रशस्ति विषयक कृतियाँ—दीर्घनगर वर्णन तथा नवाबोल्लास।
5. ज्योतिष एवं वैधक विषयक कृतियाँ—संग्राम सार।
6. अनूदित कृतियाँ—रामचरित्र रत्नाकर (वाल्मीकि रामायण से अनूदित) रासपंचाध्यायी (श्रीमद्भागवत् के लीला अंश से अनूदित), सुजान विलास (सिंहासन बत्तीसी से अनूदित), माधव विनोद (मालती माधव से अनूदित), ब्रजेन्द्र विनोद (श्रीमद् भागवत् के दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध से अनूदित) तथा रामकलाधर (अध्यात्म रामायण के बालकाण्ड से अनूदित)।

चूँकि आचार्यत्व की दृष्टि से सोमनाथ का महत्त्व 'रसपीयूषनिधि' और 'शृंगार-विलास' नामक दो कृतियाँ के आधार पर ही आंका जाता है, अतः यहाँ पर हम इन्हीं दो कृतियों का संक्षिप्त चर्चा कर रहे हैं—

रसपीयूषनिधि : इस ग्रंथ के रचनाकाल की जानकारी का सबसे प्रामाणिक स्रोत कवि की ही उक्ति है, जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि इस ग्रंथ की रचना संवत् 1794 के ज्येष्ठ मास की कृष्णपक्षीय दशमी को संपन्न हुई थी —

सत्रह सै चौरानबे संवत्, जेठ सुमास।
कृष्ण पक्ष दशमी भुगौ गृंथ भयौ ग्रंथ परकास॥[67]

सोमनाथ ने इस ग्रंथ का प्रणयन अपने आश्रयदाता प्रतापसिंह की आज्ञा से किया था, जैसा कि प्रत्येक तरंक के अंत में समाप्ति सूचक शब्दों में उन्होंने स्पष्ट कहा है : "इति श्रीमन्महाराज कुमार श्री मन्महाराज कुमार श्री प्रतापसिंह हेत कवि सोमनाथ विरचित रसपीयूषनिधि प्रथमस्तरंग।"[68] इस ग्रंथ में कुल 22 तरंगें हैं तथा 1127 पद्य। पहली तरंग के प्रथम 7 पद्यों में गणेश, राम, महादेव और कृष्ण की उपासना करने के पश्चात् 17 पद्यों में राजकुल, ब्रज नगर और सभा का वर्णन है। दूसरी तरंग में कवि ने अपना परिचय देते हुए अपनी वंशावली से भी परिचित करवाया है। तीसरी से पांचवी तरंगों में मात्रिक तथा वर्णिक छंदों की चर्चा विस्तार से की गई है। छठी तरंग में काव्य लक्षण, प्रयोजन, हेतु, काव्य-शरीर तथा काव्य-भेद आदि की सुंदर ढंग से निबंधना हुई है। इसी तरह में शब्द-शक्ति का भी उल्लेख हुआ है। सातवीं तरंग में रस लक्षण की सविस्तार चर्चा है। आठवीं तरंग शृंगार रस की सामग्री से परिपूर्ण है। नवी तरंग में परकीया और स्वकीया नायिका का उनके भेदोपभेदों के साथ विवेचन किया गया है। दसवीं से चौदहवीं तरंग में भी नायिका के विविध भेदों, सखी, कर्म, नायक के भेद-उपभेद तथा विदूषक आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। पन्द्रहवीं तरंग विप्रलम्भ शृंगार की सामग्री से पूर्ण है। सौलहवीं तथा सत्रहवीं तरंगों में कवि ने रसध्वनि तथा भावध्वनि का लक्षण उदाहरण देकर प्रस्तुत किया है। इसी तरंग में सोमनाथ ने अपने आश्रयदाता महाराजा प्रतापसिंह की प्रशस्ति भी की है। अठारहवीं तरंग के 17 पद्यों में संलक्ष्यक्रम ध्वनि की भेद-उपभेद सहित चर्चा की है। उन्नीसवीं तरंग में 19 पद्य है जिनमें गुणीभूत व्यंग्य का उल्लेख है। बीसवीं और इक्कीसवीं तरंगों में क्रमशः काव्य-दोष तथा काव्य-गुणों का निरूपण है। गुण वर्णन प्रसंग में शब्दालंकार तथा चित्रालंकार का भी वर्णन किया गया है। अंतिम तरंग के 338 छंदों में अर्थालंकार, संसृष्टि और शब्दालंकार का सविस्तार वर्णन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सोमनाथ की इस महत्त्वपूर्ण रीति-निरूपक कृति में काव्यशास्त्रीय क्षेत्र के प्रायः सभी अंगों का सांगोपांग निरूपण हुआ है। कुल मिलाकर निरूपण शैली, मौलिक उदाहरणों, सरल और स्पष्ट लक्षणों तथा विषय की विविधता की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी काव्यशास्त्र का एक अमूल्य ग्रंथ रत्न कहा जा सकता है।[69]

शृंगार-विलास : वस्तुतः शृंगार-विलास कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। इसमें एक प्रकार से रसपीयूषनिधि में प्रतिपादित शृंगार रस और नायिका-भेद की सामग्री को कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया गया है।[70] इस ग्रंथ का आरंभ पार्वती और गणेश की वंदना से हुआ है। इसके पश्चात् कवि ने विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्थायी भावों की चर्चा करते हुए रस-लक्षण, रसांग, शृंगार रस के भेद, नायिका भेदोपभेदों की विस्तृत चर्चा की है। ग्रंथ के दसवें तथा अंतिम सर्ग में विप्रलम्भ शृंगार का सोदाहरण

विवेचन है, जिसमें वियोग की दसों दशाएं भी वर्णित हैं। शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों—हास्य, करुण, रुद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त रस—का भी विवेचन प्रस्तुत रचना में देखा जा सकता है।

सोमनाथ का रीति-निरूपण

सोमनाथ ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'रसपीयूषनिधि' में रीतियों का बहुत चलता-सा निरूपण किया है। कुलपति, चिंतामणि आदि प्रमुख रीतिकालीन आचार्यों की भाँति इन्होंने भी वृत्यानुप्रास के अंतर्गत रीति का वर्णन किया है—

एकैं वरन अनेक हू लगा लगी जहं होहु।
सो वृत्यानुप्रास है कहत कवन के गोतु॥[71]

'वृत्यनुप्रास में माधुर्य, ओज अरु प्रसाद क्रम ते गन होइ तो उपनागरिका अरु परुषा डारु कोमला जानिये। इनहीं सो वैदर्भी, गौडी पांचाली रीति कहते हैं।'[72]

अभिप्राय यह है कि वृत्यानुप्रास एक अथवा अनेक वर्षों की आवृत्ति को कहते हैं। इस अलंकार के तीन रूप हैं, जो क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों से संबद्ध हैं। ये वृत्तियाँ माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों पर आश्रित होती हैं तथा इन्हीं को वैदर्भी, गौडी एवं पांचाली रीतियाँ भी कहते हैं। स्पष्ट है कि सोमनाथ ने संस्कृताचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश में वर्णित 'रीति' के स्वरूप का ही अनुकरण किया है। अन्य रीतिकालीन आचार्यों की तरह इन्होंने भी 'रीति' को स्वतंत्र रूप में निरूपित नहीं किया। इसी फलस्वरूप सोमनाथ के रीति विवेचन में मौलिकता का सर्वथा अभाव दृष्टिगत होता है। डॉ. सत्यदेव चौधरी ने इस संबंध में लिखा है कि स्पष्टतः इस निरूपण का आधार काव्य-प्रकाश है। कोमला वृत्ति और प्रसाद गुण में संबंध स्थापन की भूल यहाँ भी हुई है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट नहीं हुआ कि मम्मट के मतानुसार उपनागरिका आदि वृत्तियों का स्वरूप माधुर्यादि गुणों के व्यंजक वर्णों पर ही आश्रित है।[73]

भिखारीदास

हिंदी साहित्य के उत्तर मध्ययुगीन आचार्यों में भिखारीदास महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। ये प्रतापगढ़ के पास स्थित ड्योंगा नामक ग्राम के निवासी थे तथा जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम कृपालदास तथा पितामह का नाम वीरभानू था।[74] इनका रचनाकाल सन् 1725-1760 ई. माना जाता है। सन् 1734 ई. से 1760 तक ये प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के राज्याश्रय में रहे। इनके द्वारा प्रणीत सात ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—रस सारांश, काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, छन्दोर्णवपिंगल, शब्दनामक कोश, विष्णुपुराणभाषा और शतरंज-शतिका। इनमें से

प्रथम चार ग्रंथ का काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों से संबंध रखते हैं तथा अंतिम तीन ग्रंथ क्रमशः शब्दकोश, विष्णु पुराण का भाषानुवाद तथा शतरंज के खेल से संबंधित हैं। रस-सारांश के अंतः साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि भिखारीदास ने इस ग्रंथ का निर्माण प्रतापगढ़ में संवत् 1791 में किया था[75] तथा इस ग्रंथ के निर्माण का उद्देश्य जिज्ञासु रसिक जनों के लिए रस विषयक सामग्री को सामान्य रूप में प्रस्तुत करना था—

चाहन जानि जु थोर ही, रस कवित्त को वंश।
तिन रसिकन के हेत यह, कीन्हो रस सारांश ॥[76]

ग्रंथ का आरंभ मंगलाचरण से हुआ है तथा इसके पश्चात् नौ रसों का विभाव, अनुभाव और स्थायिभावों के साथ परिचय दिया है। 14वें से 280 वे पद्यों में नायिका-नायक भेद का विस्तृत निरूपण हुआ है। इस विवेचन के मुख्य आधार भानुदत्त मिश्र की रसमंजरी और रसतरंगिणी तथा रुद्रभट्ट के शृंगार-तिलक के साथ चिंतामणि, केशव, तोष आदि रीतिकालीन आचार्यों के एतद्विषयक ग्रंथ रहे हैं। नायक-नायिका भेद का वर्णन करने के बाद कवि ने संयोग-शृंगार निरूपण के अंतर्गत नायिका के हाव-भावादि सात्विक अलंकारों तथा स्तम्भ, स्वेद आदि सात्विक भावों की चर्चा की है। इसके पश्चात् हास्य, करुण आदि आठ रसों का संक्षिप्त परिचय तथा 33 संचारी भावों का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। ग्रंथ के अंत में चार रस वृत्तियों और पाँच रस-दोषों का निरूपण करते हुए ग्रंथ समाप्ति की सूचना दी गई है।

'काव्य निर्णय' भिखारीदास का सर्वश्रेष्ठ काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। कवि ने इस ग्रंथ की रचना संवत् 1803 में अपने आश्रयदाता हिन्दूपति के लिए की थी।[77] इस ग्रंथ में कुल 25 उल्लास तथा 1210 पद्य हैं। प्रथम उल्लास में मंगलाचरण, आश्रयदाता राजा की स्तुति, ग्रंथ का रचना-काल, संस्कृत तथा हिंदी के काव्यशास्त्रियों के प्रति आभार प्रदर्शन तथा काव्यनिर्णय के महत्त्व प्रदर्शन[78] के उपरांत काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु तथा काव्य के विविध अंगों का निरूपण किया गया है। दूसरे और तीसरे उल्लास में क्रमशः शब्द-शक्ति और अलंकार-मूल वर्णन है। चौथे उल्लास में रस, भावादि, पाँचवें उल्लास में रसवत् आदि सात अलंकारों, छठे और सातवें उल्लासों में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य तथा आठवें से इक्कीसवें उल्लास तक अलंकारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। अंतिम चार उल्लासों में तुक तथा काव्य-दोषों का विवरण व्याप्त है। ग्रंथ के अंतिम आठ पद्यों में राम नाम की महिमा का गान करते हुए ग्रंथ समाप्ति की सूचना दी गई है।[79]

भिखारीदास ने 'शृंगार-निर्णय' का प्रणयन भी अपने आश्रयदाता हिन्दूपति के लिए किया था। इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् 1807 है—

श्री हिन्दूपति रीझि हित, समुझि ग्रन्थ प्राचीन।
दास कियो शृंगार को निर्णय सुनो प्रवीन।
सम्बत् बिक्रम भूप को, अटठारह सै सात।
माधव सुदि तेरस गुरौ, अखर भल विख्यात ॥[80]

इस ग्रंथ के आरंभिक पाँच दोहों में गणेश, पार्वती, महेश तथा विष्णु की वन्दना, आश्रयदाता को ग्रंथ समर्पण, ग्रंथ निर्माण काल का उल्लेख तथा सुकवियों की वंदना की गई है। छठे और सातवें दोहे में एक प्रकार से शृंगार-निर्णय ग्रंथ की विषय सूची प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है–

जिहि कहियत शृंगार रस ताको जुगुल विभाव।
आलम्बन इक दूसरो, उद्दीपन कवि राव ॥
बरनत नायक नायिका, आलम्बन के काज।
उद्दीपन सखि दूतिका, सुख समयो सुख साज ॥[81]

प्रस्तुत ग्रंथ के 8 से 206 पद्यों में शृंगार रस के आलंबन विभाव नायक-नायिका भेद का विस्तृत निरूपण व्याप्त है तो पद्य सं॰ 207 से 232 तक शृंगार रस के उद्दीपन विभाव-सखी दूती वर्णन किया गया है। शृंगार रस के अनुभाव, संचारीभाव तथा स्थायीभाव की चर्चा 233 से 241 में की गई है तथा शृंगार रस के प्रमुख भेदों–संयोग और वियोग का निरूपण 242 से 328 पद्यों में द्रष्टव्य है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'छन्दोर्णवपिंगल' छंदो विवेचन विषयक ग्रंथ है। इस ग्रंथ में संस्कृत प्राकृत तथा ब्रजभाषा में उपलब्ध छंद-निरूपक विषयक ग्रंथों के आधार पर छंदों का निरूपण अत्यंत विस्तार से किया गया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहने में किंचित भी संकोच नहीं होता कि रीतिकाल के सर्वांग निरूपक आचार्य-कवियों में भिखारीदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करके आचार्य-कर्म के साथ-साथ कवि-कर्म का निर्वाह भी अत्यंत खूबी के साथ किया है। भिखारीदास के आचार्य कर्म की विशिष्टता को रूपायित करते हुए डॉ॰ महेन्द्र कुमार ने लिखा है–'रीति निरूपण के क्षेत्र में आलोचक दृष्टि एवं मौलिक चिंतन इनके विवेचन की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ कही जा सकती हैं। रीतिकाल के अंतर्गत संभवतः ये ही सबसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रकाश में अपने पूर्ववर्ती हिंदी काव्य का सम्यक् अध्ययन कर उसमें से तद्नुरूप उदाहरणों के चयन द्वारा अपनी आलोचक दृष्टि का ही परिचय नहीं दिया, आधुनिक हिंदी आलोचना का शिलान्यास भी एक प्रकार से किया। काव्य के प्रयोजनों के प्रसंग में प्रत्येक के भीतर आने वाली हिंदी की विशिष्ट रचनाओं के रचयिताओं का नामोल्लेख तथा आदर्श काव्य-भाषा के लिए ब्रजभाषा के विशिष्ट कवियों का उदाहरण-रूप में चयन इसका पुष्ट प्रमाण है। सरस

एवं सुबोध लक्षण-उदाहरणों के साथ यथास्थान ब्रजभाषा-गद्य में तिलक देकर इन्होंने अपने विषय को जिस प्रकार से स्पष्ट किया है, उससे इनके गंभीर मनोयोग के विषय में भी किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।'[82]

भिखारीदास का रीति-निरूपण

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति भिखारीदास ने भी 'रीति' का विवेचन वृत्यनुप्रास अलंकार के अंतर्गत ही किया है—

कहुँ सरि बर्न अनेक की परै अनेकन बार।
एकहि की आवृत्ति कहुँ, वृत्यौ दोइ प्रकार॥
मिले बरन माधुयै के, उपनागरिका नित्ति।
परुषा ओज प्रसाद के मिले कोमला वृत्ति॥[83]

अर्थात् वृत्यनुप्रास के दो भेद हैं। पहला, एक वर्ण की आवृत्ति वाला तथा दूसरा अनेक वर्णों की आवृत्ति वाला। वृत्यनुप्रास वृत्तियाँ पर आधृत होता है तथा वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। ये वृत्तियाँ क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के व्यंजक वर्णों से युक्त होती हैं। स्पष्ट है कि भिखारीदास ने भी चिंतामणि सोमनाथ तथा कुलपति के समान मम्मट के रीति-निरूपण का ही अनुकरण किया है।

ग्वाल

रीतिकाल के अंतिम चरण के सर्वांग निरूपक आचार्यों में ग्वाल कवि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म सन् 1791 ई. में वृंदावन में हुआ था। ये जाति के ब्रह्मभट्ट थे। इनका आरंभिक जीवन वृंदावन में और बाद में मथुरा में व्यतीत हुआ। इन्होंने अपनी आरंभिक शिक्षा राधावल्लभीय गोस्वामी दयालाल से ग्रहण की तथा काव्यशास्त्रीय शिक्षा काशी में पूर्ण की। काशी से लौटकर कवि ने बरेली के खुशहाल राय नामक कवि को अपने काव्य गुरु बनाया। अपनी रचनाओं में इन्होंने खुशहाल राय को 'कवि मुकुट मणि' विशेषण के साथ स्पष्टतः अपना गुरु घोषित किया है—

श्री खुशाल कवि मुकटमनि ताकरि सिष्य विकास।
वासी बृन्दाबिपिन के श्री मथुरा खुखवास॥[84]

ग्वाल कवि का अधिकांश जीवन विभिन्न राजाओं के आश्रय में व्यतीत हुआ। नाभा नरेश[85] तथा महाराज रणजीत सिंह की इन पर विशेष कृपा थी।[86] इनका निधन सन् 1868 ई. रामपुर में हुआ था। इनके द्वारा रचे गए सोलह ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है—रसिकानंद, कवि दर्पण, बलवीर विनोद, रसतरंग, साहित्यानन्द,

प्रस्तारप्रकाश, नेहनिर्वाह, बंसीबीसा, हम्मीरहठ, विजयविनोद, भक्तभावन, कुब्जाष्टक, गुरुपचासा, निम्बार्कस्वाम्यष्टक इश्कलहरदरयाव और कवि हृदयविनोद। इनमें से प्रथम छः ग्रंथ लक्षण-ग्रंथ हैं तथा शेष लक्ष्य अथवा अनुवाद। रसिकानंद रसनिरूपक ग्रंथ हैं, जिसमें भाव, अनुभाव, सात्विक एवं संचारी भावों का वर्णन करने के पश्चात् कवि ने रस की परिभाषा[87] देते हुए नायिका भेद का विशेद निरूपण किया है–

जातिय तकि तरु निबहुकों, चलें चित्त असमान।
भरे सु बहु विधि जायका, वहै नायका जान॥[88]

'कवि दर्पण' सात क्रांतियों तथा 489 छंदों में विभक्त काव्य-दोषों का विस्तृत करने वाला प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। सात क्रांतियों में क्रमशः पद-पदांश दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष, रस दोष, दोषेकताकरण, दोषोद्धार वर्णन तथा प्रश्नावली गुण वर्णन हुआ है। इस ग्रंथ का मुख्य आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' है। रसरंग का प्रतिपाद्य विषय ही रस है। आठ उमंगों में विभक्त इस ग्रंथ में विभावादि का वर्णन के पश्चात् शृंगार रस को रसराज की पदवी दी गई है–

नवरस में सिंगार की पदवीराज बिसाल।
सो सिंगार रस के प्रभू है श्रीकृष्ण रसाल॥[89]

इसी ग्रंथ में ग्वाल कवि ने नायिका भेद के अंतर्गत पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी, उत्तमा, मध्यमा, अधमा, स्वकीया, परकीया, धीरा, दिव्या, अदिव्या, दिव्यादिव्या का भेदों सहित की चर्चा करने के पश्चात् सखी दूती दर्शन वर्णन भी किया है। साहित्यानंद कवि का अंतिम और प्रौढ़तम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। षोडश स्कन्धों में निबद्ध इस ग्रंथ में मंगलाचरण करने के पश्चात् प्रकरांतर से पिंगल निरूपण, रसनिरूपण, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण, काव्य-दोष तथा अलंकारों का विशद् विवेचन देखा जा सकता है। इस सर्वांग निरूपक ग्रंथ में नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, चन्द्रलोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसमंजरी, रसतरंगिणी, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, कुवलयानन्द, कामसूत्र, रतिरहस्य और आदि प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त ब्रजभाषा के केशव, बिहारी, मतिराम, भूषण, कुलपति, पद्माकर, जसवंत सिंह आदि कवि आचार्यों के लक्षण-लक्ष्य ग्रंथों का आश्रय लिया गया है। 'हम्मीर हठ' और 'विजयविनोद' वीररसात्मक रचनाएँ हैं। 'कुब्जाष्टक' में गोपियों के प्रति कुब्जा की आलम्भपूर्ण कटूक्तियां वर्णित हैं। कवि ने 'गुरु पचासा' की रचना नाभा नरेश भरपूरसिंह के लिए की थी। इस रचना में सिख धर्म के दस गुरुओं के यश का वर्णन 57 छंदों में किया गया है। 'इश्क लहर दरयाब' में विहरुल बयान की एक प्रेमकथा 29 दास्तानों तथा 1189 छंदों में वर्णित है। वस्तुतः यह काव्य कृति ग्वाल कवि की मौलिक उद्भावना न होकर उर्दू कवि 'मीर हसन' की प्रसिद्ध मरुनवी 'मिहक-ल-बयान की उर्दू फारसी मिश्रित हिंदी अनुवाद है।

ग्वाल का रीति-निरूपण

ग्वाल का रीति निरूपण अन्य रीतिकालीन सर्वांग निरूपक आचार्यों की अपेक्षा अत्यंत संक्षिप्त एवं सामान्य कोटि का है। वास्तव में उन्होंने न तो इस विवेचन को कुछ विस्तार ही दिया है और न ही कोई तर्कपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने गौडी, पांचाली, वैदर्भी तथा लाटी रीतियों और परुषा उपनागरिका तथा कोमला वृत्तियों का कोई विशेष महत्त्व प्रदान न करके इनका वर्णन चलता हुआ-सा किया है। गौडी रीति की वृत्ति परुषा, वैदर्भी रीति माधुर्य गुण व्यंजक वर्णों में, पांचाली रीति प्रसाद गुण व्यंजक वर्णों में लाटी रीति के वर्ण प्रसाद गुण संपन्न होते हैं। स्पष्ट है कि यह विवेचन हिंदी रीति शास्त्र को समृद्ध करने में कोई विशेष योग नहीं प्रदान कर रहा।

रसिकगोविंद

अब तक इनके नौ ग्रंथ प्रकाश में आए हैं—'रामायणसूचीनका', 'रसिकगोविंद आनंदघन', 'लछिमनचंद्रिका', 'अष्टदेशभाषा', 'पिंगल समयप्रबंध', 'कलियुग रासो', 'रसिकगोविंद' और 'मुगलरसमाधुरी'। इनमें रामायणसूचीनका में 33 दोहों में रामायण की कथा को अति संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। 'अष्टदेशभाषा' में ब्रज, पंजाबी आदि आठ बोलियों में राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का गान है। अष्टदेश भाषा के 85 पद्यों में राधाकृष्ण की ऋतुचर्या वर्णित है। 'कलिजुग रासो' में 16 कवित्तों के भीतर कलिकाल की बुराइयों का वर्णन करने के उपरांत कृष्ण से कृपा प्राप्त करने की आकांक्षा इस प्रकार व्यक्त की है—'कीजिए सहाय जू कृपाल श्रीगोविंदराय, कठिनकराल कलिकाल चलि आयो है।' मुगलरस माधुरी' में राधाकृष्ण के वृंदावन बिहार का वर्णन रोला छंद में किया गया है। 'रसिक गोविंद' और रसिक गोविंदानंदघन' काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। 'रसिक गोविन्द' अलंकार के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने वाली एक लघु कृति है। कवि रसिक गोविंद की सबसे विशाल रचना 'रसिक गोविंदानंदघन' है। इसमें रस, नायक-नायिका भेद, अलंकार, गुण, दोष आदि का निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लक्षण गद्य रूप में मिलते हैं तथा स्थान-स्थान पर संस्कृत के प्रमुख आचार्यों की उक्तियों को भी उ(त किया गया है। संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों को अनूदित करके भी रचना को प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया गया है। साहित्य-दर्पण में मुग्धा के एक उदाहरण को रसिकगोविंद ने अनुदित करके इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

आलस सो मंद मंद धरा पै धरति पाय,
भीतर तें बाहिर न आवै चित चाय कैं
रोकति दृगानि छिनछिन प्रति लाज साज,
बहुत हंसी की दीनी बानि बिसराय के।

बोलति वचन मृदु मधुर बनाय, उर
अंतर के भाव की गंभीरता जनायकै।
बातसखी सुंदर गोविंद कौ कहात तिन्हैं
सुंदरि बिलौकै बंक भृकुटी नचाय कै।[90]

विविधांग निरूपक आचार्य

इस श्रेणी में उन आचार्यों को रखा जाता है जिन्होंने समस्त काव्यांगों का विवेचन करने की अपेक्षा रस, छंद और अलंकार में से किन्हीं दो या तीनों का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। वैसे तो इस वर्ष में अनेक कवि आचार्यों की चर्चा की जा सकती है, किंतु इनमें सर्वाधिक महत्त्व अर्जित करने वाले रीतिकालीन कवि आचार्य मतिराम और पद्माकर हैं। अतः यहाँ संक्षेप में इन्हीं के कार्यक्षेत्र का उल्लेख किया जा रहा है–

मतिराम

इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं–'ललित ललाम', 'रसराज', 'फूल-मंजरी', 'छंदसार पिंगल', 'मतिराम सतसई', 'साहित्यसार', 'लक्षण शृंगार' और 'अलंकार पंचाशिका'। 'ललित ललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' अलंकार निरूपक ग्रंथ है। ललित ललाम के 401 छंदों में से 360 छंदों में अर्थालंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें वर्णित विभिन्न अलंकारों की संख्या तथा क्रम सामान्यतः कुवलयानंद के समान ही हैं किंतु संस्कृत में अर्थालंकारों के संबंध में जिस निश्चित दृष्टिकोण को अपनाया गया था, मतिराम ने उसकी उपेक्षा करके अर्थालंकारों के नाम में परिवर्तन उपस्थित कर दिया। 'प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा' का 'गुप्तोत्प्रेक्षा' 'कारणमाला' का 'हेतुमाला' तथा 'विशेष' को दो अर्थालंकारों–'विशेषक' और 'विशेष' में परिवर्तित करके उन्होंने हिंदी काव्यशास्त्र को समृद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने सभी अलंकारों एवं उनके उपभेदों के लक्षण प्रस्तुत करके सरस मधुर एवं मनोहर उदाहरणों को कवित्त एवं सवैयों के माध्यम से व्यक्त किया है। अलंकार पंचाशिका में 50 अलंकारों के लक्षण -उदाहरण वर्णित हैं। किंतु मतिराम का यह ग्रंथ ललित ललाम के समान प्रौढ़ता नहीं पा सका है।

'रसराज' में शृंगार रस और उसके आलंबन नायक-नायिका भेद का विस्तृत विवेचन किया गया है। दोहों, कवितों और सवैयों में गुंथी हुई यह कृति भानुदत्त की 'रसमंजरी', रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' और विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' पर आधारित है। इसमें आलंबन के भीतर दर्शन के स्वप्न, चित्रादि भेदों, उद्दीपनों, अनुभावों, सात्विक भावों,शृंगार के संयोग-वियोग नामक दो भेदों, संयोग के दस भावों और विप्रलंभ शृंगार के भेदों का वर्णन संस्कृत के विविध ग्रंथों के अनुरूप किया गया

है, किंतु इसमें ग्रंथकार की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि संस्कृत-ग्रंथों का आश्रय लेते हुए भी उन्होंने उसका अंधानुकरण नहीं किया है। इनका छंद विवेचन संबंधी प्रमुख ग्रंथ छंदसार संग्रह है। इसमें 147 वर्णिक छंदों, 55 मात्रिक छंदों तथा 35 सममात्रिक छंदों का निरूपण किया गया है। मतिराम के काव्य की विभिन्न विशेषताओं को उजागर करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं 'मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दांडम्बर से सर्वथा मुक्त है—केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिए अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना में ही प्रयुक्त हैं। रीतिग्रंथ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती हैं, कहीं-कहीं वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पाई जाती है। सारांश यह है कि मतिराम की सी रस-स्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है।'[91]

पद्माकर

पद्माकर रीतिकाल के अंतिम चरण के आचार्य कवि हैं। ये मूलतः सौंदर्य प्रियकवि हैं, इसलिए इनके ग्रंथों में शृंगार, नायक-नायिका भेद और ऋतुओं का प्रभावशाली वर्णन दृष्टिगोचर होता है। रीति-निरूपण से संबंधित इनकी दो रचनाएँ हैं—'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण'। जगद्विनोद में नायक-नायिका भेद का सरस वर्णन मिलता है। इस रचना में विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा गद्य का भी प्रयोग किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में वर्णित हैं तथा उदाहरणों को कवित्त, सवैयों में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। पद्माकर ने रसमंजरी, रसतरंगिणी, साहित्यदर्पण, रसिकप्रिया, सुधानिधि आदि ग्रंथों को आधर रूप में ग्रहण करके इस रचना का प्रणयन किया था। इनकी भाषा को प्रभावशाली बनाने का श्रेय बिंब-योजना को दिया जा सकता है। डॉ. महेन्द्र कुमार का मत है कि 'इस दिशा में इनकी सबसे बड़ी विशेषता बिंब योजना है जिसमें रेखाएँ और रंग ही अत्यंत स्पष्ट होकर नहीं आये, उनमें यथावश्यकता भावात्मकता, गति और स्थैर्य का सन्निवेश भी कुछ ऐसे कौशल के साथ हुआ है कि वे सहृदय के मन पर आत्मविभोर कर देने वाला आह्लादक प्रभाव छोड़ जाते हैं। भाषा भी बिंबों और उनकी रेखाओं के अनुरूप इतनी सधी हुई एवं सौष्ठव संपन्न है कि प्रत्येक शब्द की योजना देखते ही बनती है। इधर कवित्तों और सवैयों का प्रयोग भी विशेष प्रकार के गंभीर संगीत की सृष्टिकर रचनागत बिंब के अनुकूल वातावरण ही उत्पन्न नहीं करता, प्रत्येक रेखा के धर्म को भी व्यंजित करता है।'[92] इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि पद्माकर के काव्य में भले ही संस्कृत के आचार्यों की सी गंभीरता नहीं आ पाई, परंतु उनका

कवित्व श्रेष्ठ कोटि का है, इसी कारण वह अपने परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय बन पाया।

पद्माकर का दूसरा रीति निरूपक ग्रंथ 'पद्माभरण' है। इसमें इन्होंने अलंकार-रीति, उपमा से हेतु तक 100 मुख्य अर्थालंकारों, रसवदादि तथा प्रमाणादि 15 अलंकारों तथा संसृष्टि और संकर अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस ग्रंथ के मूलाधार 'कुवलयानंद' तथा 'भाषाभूषण' आदि प्रमुख संस्कृत ग्रंथ हैं। इस ग्रंथ में उन्होंने आचार्य कर्म और कवि कर्म का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इनकी अन्य प्रमुख रचनाएँ हैं—'हिम्मतबहादुर विरुदावली', 'प्रबोध पचासा', 'गंगालहरी' 'प्रतापसिंह विरुदावली' तथा 'कलिपच्चीसी'। किंतु ये रचनाएँ रीति-निरूपण शैली के अंतर्गत नहीं आतीं।

एकांग या विशिष्टांग निरूपक आचार्य

इस श्रेणी में केवल उन रीतिकालीन आचार्य कवियों की गणना की जाती है, जिन्होंने रस, अलंकार तथा छंद में से किसी एक विशिष्टांग का निरूपण अपनी समस्त कृतियों में किया है। इस वर्ग के प्रमुख आचार्य तोष हैं। इन्होंने रस को अपना मुख्य वर्ण्य-विषय स्वीकार कर उसी से संबंधित लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस कवि आचार्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

तोष

रस निरूपक आचार्यों में तोष का नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्होंने संस्कृत रीति निरूपक ग्रंथों की छाया ग्रहण करते हुए भी अपनी मौलिक दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है। इनके तीन ग्रंथों की चर्चा की जाती है 'सुधानिधि' 'नखशिख' तथा'विनयशतक'। इनमें से आज केवल 'सुधानिधि' ही एकमात्र प्राप्य ग्रंथ हैं।

सुधानिधि के 560 छंदों के भीतर नवरसों की चर्चा करते हुए विभाव, अनुभाव और स्थायी भाव का उल्लेख किया गया है। इसके उपरांत शृंगार रस के विस्तृत विवेचन मे नायक-नायिका भेद,नायक के सखाओं, विभिन्न प्रकार की दूतियों, चार प्रकार की सखियों, उद्दीपक पदार्थों, संयोग शृंगार, वियोग की पीड़ा, दस अपर भावों, मान, प्रवास, पूर्वराग, करुण नामक चार भेदों, काम की दसदशाओं, नायिकाओं के औदार्य, माधुर्य, प्रगल्भता तथा धीरता नायक के चार अलंकारों का वर्णन किया गया है। यद्यपि तोष ने साहित्यदर्पण, रसार्णवसुधाकर, रसमंजरी, रसतरंगिणी, अनंगरंग, रसिकप्रिया, बरवै नायिका भेद जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों को अपनी रचना का आधार बनाया था तथापि उनके लक्षण एवं उदाहरणों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा लक्षण या उदाहरण किस रचना का पद्यबद्ध अनुवाद है। 'सुधानिधि' की यही

विशेषता तोष की मौलिकता एवं प्रसिद्धि का आधार है। उन्होंने गंभीरतापूर्वक चिंतन करके रस संबंधी मान्यताओं को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। तोष की काव्यभाषा सरस, ललित एवं उक्तिवैचित्र्य से युक्त है। उन्होंने मूलतः दोहा, कवित्त, सवैया एवं छप्पय छंदों का ही प्रयोग किया है। यमक, अनुप्रास, रूपक,उपमा तथा उत्प्रेक्षा उनके प्रिय अलंकार रहे हैं। उनके श्रेष्ठ कवित्व का परिचय उनके एक पद से ही प्राप्त किया जा सकता है—

तो तन में रवि को प्रतिबिंब परे किरनैं सौ घनी सरसाती।
भीतर ही रहि जाति नहीं, अंखियां चकचौंधि है जाति हैं राती॥
बैठि रहौ बलि कोठरी में कहि तोष करौं बिनती बहु भांति।
सारसी नैन लै आरसी सो अंग काम कहा कढ़ि धाम में जाती॥[93]

तोष की काव्यगत विशेषताओं को इन शब्दों में सरलतापूर्वक समझा जा सकता है—तोष का कवित्व भी कम सराहनीय नहीं है। कल्पना की ऊँची उड़ान के परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं में से एक से बढ़कर एक आकर्षक एवं नवीन बिंबों की सृष्टि ही नहीं हुई है, विभिन्न अलंकारों द्वारा नियोजित विविधि प्रकार की रेखाओं ने चेतना का स्पर्श कर आह्लादित करने की क्षमता भी उनमें उत्पन्न कर दी है। किसी भी रचना को उठाकर देख जाइए, उसमें दूसरी की अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य सहज ही अनुभव हो जाएगा। इधर अभिव्यक्ति भी अपने आप में इतनी सहज, स्वच्छ एवं निश्छल रही है कि काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में रची हुई उनकी कविता की अकृत्रिमता पर आश्चर्य होता है—भाषा और छंद योजना का निर्दोष प्रयोग जिस प्रकार का स्वाभाविकता-संपृक्त प्रभाव छोड़ता है, वह चिंतामणि और मतिराम—जैसे सरल कलाकारकवियों की श्रेणी में उन्हें प्रतिष्ठित कर देता है।[94] इस वक्तव्य से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि तोष की रस-निरूपक दृष्टि के समान उनकी कवित्व दृष्टि भी उत्कृष्ट कोटि की है। रीतियुगीन प्रसिद्ध आचार्य कवियों के समान उन्होंने श्रृंगार रस का विधिवत् निरूपण करते हुए अपनी कवित्व-शक्ति का भी सुंदर प्रदर्शन किया है। किंतु अपने पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्य कवियों से भिन्न उन्होंने स्वच्छ उदाहरणों के द्वारा ही विषय को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। लक्षण तो उन्होंने केवल वहीं प्रस्तुत किए हैं जहाँ उदाहरणों से विषय स्पष्ट नहीं हो पाया। इसी में उनकी मौलिकता निहित है।

संदर्भ

1. सोमनाथ व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. पूरनचन्द टण्डन, पृ. 118
2. मतिराम : कवि और आचार्य, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 253
3. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 109

4. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 16
5. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 112-113
6. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 323
7. कविप्रिया, 4/4
8. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 233
9. वही, पृ. 234
10. (क) हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 33
(ख) हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 113
11. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 9
12. सूरजबंसी भोसला, लसत साह मकरंद।
महाराज दिगपाल जिमि, भाल सुभद सुभ चंद।।
—छंदविचार पिंगल (शि.सि.सं. पृ. 87से उद्धृत)
13. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 35
14. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 114
15. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 52
16. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 114
17. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 114
18. वही, पृ. 115
19. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 37
20. हिंदी साहित्य का उतर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 99
21. वही, पृ. 99
22. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 78
23. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ. 144
24. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 119
25. हिंदी साहित्य का उतर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 100
26. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 120
27. कविकुलकल्पतरु 2/14
28. वही, 2/8, 13, 14
29. काव्यप्रकाश, 9/80, 81 (वृत्ति)
30. हिंदी रीतिशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन, डॉ. शिवकुमार शुक्ल, पृ. 278
31. (क) बसत आगरे आगरे श्रुनियन की जहँ रास
विप्रमथुरिया मिश्र हैं हरिचरननु के दास।—रसरहस्य, अष्टम वृत्तांत,
(ख) कवि कुलपति के आगरे गुन आगरे निवास
जहँ दौलत दिल्लसि की विहरति चित्त हुलास।—संग्राम सार, भूमिका भाग
32. हिंदी साहित्य का उतर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 118
33. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 239
34. राजस्थान का संगल साहित्य, डॉ. मोतीलाल मेनारिया, पृ. 113

35. दिग्विजय भूषण, डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह, कवि परिचय, पृ. 17
36. कविता कौमुदी, रामनरेश त्रिपाठी, पृ. 236
37. राजर्षि अभिनन्दन ग्रंथ, अगरचन्द नाहटा, पृ. 369
38. हिंदी साहित्य का उतर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 118
39. संग्रामसार, प्रथम परिच्छेद
40. संग्रामसार, प्रथम परिच्छेद, पृ. 18
41. आचार्य कुलपति मिश्र : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, पृ. 95
42. (क) कूरमकुल मण्डन राम सम रामसिंह रस सदन भुव।
    सुख बहुल सभा मण्डन रचिय विजय महल जयसिंह सुर।।—रसरहस्य 1/8
    (ख) सौ पुनि राम कुमार कौ आयसु उर में राखि।
    मम्मट-मत को सारू सब बरनत भाषा भाखि।।—वही 1/16
43. रस रहस्य 1/14
44. वही 8/221
45. हिंदी साहित्य का उतर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 119
46. दुर्गाभक्ति चन्द्रिका 1/2,3,4
47. आचार्य कुलपति मिश्र : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. विष्णुदत्त शर्मा राकेश, पृ. 110-111
48. रस-रहस्य, 7/12
49. आचार्य कुलपति मिश्र : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, राकेश, पृ. 339-440
50. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 146
51. देव और उनकी कविता, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 17
52. वही, पृ. 20-27
53. वही, पृ. 42
54. वही, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 43
55. वही, पृ. 44
56. वही, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 54
57. वही, पृ. 57
58. वही, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 71
59. वही, पृ. 61
60. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 132
61. प्रकृति पुरुष शृंगार में नौ रस कौ संचार,
    जैसे मठ आकाश में घटत अकास, प्रकास।—देव और उनकी कविता, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 62
62. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 133
63. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 628
64. सोमनाथ ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ. 888
65. वही, पृ. 765, 815, 7, 320
66. सोमनाथ : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. पूरनचन्द टण्डन, पृ. 56
67. रसपीयूषनिधि, सोमनाथ ग्रंथावली (प्रथम खण्ड), पृ. 123

68. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 38
69. सोमनाथ : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. पूरनचन्द टण्डन, पृ. 70
70. अनुमान है कि केवल एक ही पत्र जीर्ण होकर ग्रंथ से विलग हो चुका है, जिसमें रसपीयूषनिधि के अनुसार नायिका-भेद की अंतिम सामग्री उत्तमा, मध्यमा अधमा नायिका और दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्या नायिकाएँ निरूपित की गई होगी।
—हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 39
71. रसपीयूषनिधि 21/28
72. हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 629
73. वही, पृ. 629
74. हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ. 140
75. सत्रह सै इक्यानवे, नभ शुदि छठि बुधवार।
अखर देश प्रतापगढ़, भयो ग्रन्थ अवतार।।—रस सारांश, पृ. 586
76. वही, पृ. 5
77. रस सारांश, 5
78. काव्य निर्णय 1/2-4
79. काव्यसिनर्नयहि जो, समुझि कर हिगे कंठ।
सदा बसैगी भारती, ता रसना उपकंठ।। — काव्यनिर्णय 1/9
80. श्रृंगार निर्णय 3,4
81. वही, 6,7
82. हिंदी साहित्य का उतर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 140-141
83. काव्य निर्णय 19/44
84. नखशिख छंद 8
85. महाकवि ग्वाल : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. भगवानसहाय पचौरी, पृ. 161, 163
86. वही, पृ. 162
87. कारन कह्यौ विभाव है, रस थिति बिन कारन नांहि।
थितिन भाव के मिलत ही, रस ही होत सुचाहि।—रसिकानन्द, छंद 159
88. महाकवि ग्वाल : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. भगवानसहाय पचौरी, पृ. 195
89. वही, पृ. 214
90. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 320-321
91. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 252
92. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 341
93. वही, पृ. 296
94. वही, पृ. 296

पंचम अध्याय

रीतिकाल के परवर्ती कवि और आचार्य

रीतिकाल के लिए हिंदी साहित्य में स्वीकृत काल संवत् 1700 से 1900 तक का है। तत्पश्चात् आधुनिक युग का प्रारंभ संवत् 1925 से माना गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में काल-विभाजन पर विचार करते समय लिखा है कि विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता और प्रसिद्धि कालविशेष के नामकरण का प्रमुख आधार है। रीतिकाल के संबंध में उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है, उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला .... विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए। रीतिबद्ध ग्रंथों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर आगे चलकर शायद विभाग का आधार मिल जाये पर अभी तक मुझे नहीं मिला है। यह इतिहास 'हिंदी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी साहित्य का विकास' के नाम से सन् 1929 के जनवरी महीने में निकल चुका था, पुस्तकाकार संस्करण में बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं। उन्होंने रीतिकालीन साहित्य के रीतिग्रंथकार कवि और अन्य कवि—ये दो ही विभाग किए हैं, इसे ही रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त नाम से तीन विभागों में आगे के साहित्येतिहासों में विभाजित किया है।

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार—'संवत् 1900 के लगभग शृंगारकाल की कड़ी के गर्भ से आधुनिक काल की कड़ी घूमी और संवत् 1925 तक आते-आते वह घूमकर आगे चली आई, संवत् 1975 तक उसने अपने-आप को एकदम पृथक् कर लिया। अतः संवत् 1900 से 1975 तक का काल अवसानकाल या उपसंहार काल है। इसके लिए उन्होंने यह तर्क दिया कि जिस प्रकार संवत् 1600 से 1700 तक शृंगार का प्रस्तावना काल या उपक्रम काल है, उसी तरह संवत् 1900 से 1975 तक का काल अवसान काल या उपसंहार काल है।'[1] स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आचार्य शुक्ल से थोड़ा आगे बढ़कर रीतिकाल के अवसान काल को 1900 से 1975 तक की मान्यता दी है। साहित्य के किसी भी कालखंड में उसकी पूर्ववर्ती

चेतना एकदम से लुप्त नहीं हो जाती, वह राख में दबी चिनगारी की भाँति धीमे-धीमे सुलगती रहती है। यही कारण था कि भक्तिकाल का अवसान जो 1625 से 1700 के मध्य माना जा सकता है, उसमें भी शृंगारी रचनाओं का लेखन प्रारंभ हो चुका था किंतु बहुलता भक्ति संबंधी रचनाओं की होने के कारण वह कालखंड भक्तिकाल के ही नाम से अनुमोदित रहा।

संवत् 1700 से 1900 तक के कालखंड का साहित्य अपनी युगीन परिस्थितियों से प्रभावित रहा है। इस युग में अलंकरण की प्रवृत्ति के प्राधान्य के कारण मिश्रबंधु इसे 'अलंकृतकाल' कहते हैं और शृंगारिक रचनाओं के प्राचुर्य के कारण आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे 'शृंगारकाल' कहते हैं। इस युग के काव्य द्वारा एक विशेष मार्ग का अनुसरण किये जाने के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसे रीतिकाल की संज्ञा देते हैं और डॉ॰ नगेंद्र तथा डॉ॰ भगीरथ मिश्र भी इस नाम का समर्थन करते हैं। डॉ॰ भगीरथ मिश्र का तर्क है कि 'अलंकरण की प्रधान प्रवृत्ति के कारण इसका अलंकृतकाल नाम जहाँ अपना औचित्य रखता है, वहीं शृंगारिक रचना की प्रवृत्ति के कारण इसे शृंगारकाल कहा जा सकता है। परंतु उस युग के समस्त काव्य को ध्यानपूर्वक देखने पर लगता है कि न तो अलंकरण ही स्वच्छंद है न शृंगारवर्णन ही, वरन् ये दोनों एक परिपाटी पर चलते है, रीति से बँधे। अलंकरण के विपरीत उस युग में निरलंकृत भक्ति व रसकाव्य भी कम नहीं है और शृंगार के विपरीत वीर, नीति और भक्तिकाव्य बहुत प्रचुर मात्रा में मिलता है। पर यह समग्र काव्य अपनी-अपनी परिपाटी का पालन करते हुए लिखा गया है .... इसलिए मेरे विचार से इसे रीतियुग नाम देना ही उचित है।'[2]

रीतिकाल के परवर्ती कालखंड में दो तरह के कवि पाये जाते हैं। एक तो वे जिन्होंने अपना एकमात्र संबंध प्राचीन काव्यभाषा (ब्रजभाषा) से बनाये रखा और दूसरे वर्ग के कवियों ने हिंदी साहित्य के पुनरुत्थान में योग देते हुए भी पुरानी परिपाटी से अपना संबंध जोड़े रखा । रीतिकाल के परवर्ती कवियों को शुक्ल जी ने आधुनिककाल की 'प्राचीन काव्यधारा' में रखा है। उन्होंने रीतिकाल की अंतिम सीमा संवत् 1900 तक मानी है किंतु कोई प्रवृत्ति न एकबारगी उत्पन्न होती है और न एक ही दिन लुप्त हो जाती है। कई दशक तक संक्रमणकाल की स्थिति रहती है। संवत् 1900 में रीतिकाल के समाप्ति की घोषणा इतिहासकारों ने भले ही कर दी हो, परंतु पुरानी प्रवृत्ति की रचनायें छिटपुट अगले दो दशकों तक चलती रहीं। संवत् 1900 से 1925 तक के कालखंड को आचार्य शुक्ल ने काव्य की पुरानी धारा नाम दिया है। इस कालखंड पर प्रायः इतिहासकारों ने अलग से ध्यान नहीं दिया है। इस युग पर विशेष शोधकर्ता डॉ. श्यामानंद ने अपने शोधग्रंथ 'रीतिकालीन कवि और काव्य' में इसे अंधकार युग कहा है जो अत्युक्तिपूर्ण है। हाँ, यह अवश्य है कि अन्य कालखण्डों

की तुलना में इसकी उपेक्षा हो गई। इन्होंने आचार्य शुक्ल द्वारा गिनाये गए महत्त्वपूर्ण कवियों के अलावा कुछ गौण कवियों के यथा—गणेशानंद शर्मा, बैजनाथ द्विवेदी, गुरुबख्श लाल, परमानंद दास, महाराजा राजेंद्रकिशोर सिंह, गणेशप्रसाद, फर्रुखाबादी, बिरंजी कुँवरि, गंगाप्रसाद व्यास, नंदनपाठक मनराज, लक्ष्मीप्रसाद, ब्रजजीवन, खुमान सिंह कायस्थ तथा अनुनैन का भी नाम लिया है।

आचार्य शुक्ल ने ब्रजभाषा कविता की उस परंपरा के कवियों का विवरण दिया है जो भक्तिभाव के भजन, राजवंशों के चरितकाव्य, अलंकार और नायिकाभेद के ग्रंथों के अलावा मुक्त शृंगार और वीर रस के सवैये और छंदों की रचनाएँ करते थे। ब्रजभाषा की प्राचीन परंपरा गुजरात से बिहार और कुमायूँ गढ़वाल से दक्षिण भारत तक पैफली थी। गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्रकार भोलाराम ब्रजभाषा के अच्छे कवि भी थे। इन्होंने गढ़ राजवंश में गढ़वाल के 52 राजाओं का वर्णन दोहा चौपाइयों में किया है। इनका जन्म संवत् 1817 और मृत्यु संवत् 1890 है अर्थात् ये रीतिकाल के अंतिम दशक के कवि हैं और उत्तरकालीन रीतिकवियों में गिने जा सकते हैं। तात्पर्य यह कि इस कालखंड को कोई अलग संज्ञा नहीं दी जा सकती, यह विविध प्रकार के विषयों और शैलियों में लिखने वाले ब्रजभाषा के फुटकर कवियों का कालखंड है। इनमें कुछ लक्षणग्रंथकार भी हैं और कुछ रीतिकवि तथा अन्य प्रकार के कवि भी हैं इसलिए इस कालखंड को रीतिकाल में समाहित नहीं किया जा सकता है और इसे रीतिकाल के परवर्ती कवियों का समय कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनका न कोई सामान्य लक्षण है, न कोई विशेष प्रवृत्ति। एक समानता अवश्य है कि सबके सब प्रायः ब्रजभाषा के कवि हैं, इसलिए काव्यभाषा की दृष्टि से यह कालखंड खड़ी बोली और ब्रजभाषा के बीच रस्साकशी का संक्रमणकाल है। इस काल के प्रमुख ब्रजभाषा कवियों में शुक्ल जी ने सेवक, रघुराज सिंह, सरदार, बाबा रघुनाथ दास रामसनेही, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मण सिंह, लछिराम, नवनीत चौबे के अलावा भारतेंदु और उनके मंडल के कुछ कवियों का नाम दिया है किंतु भारतेंदु मंडल के कई कवियों में से अधिकतर कवियों का रचनाकाल सं. 1925 के पश्चात् पड़ता है इसलिए उनके विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

इस काल में मुक्तक रचनाओं का बाहुल्य था किंतु प्रबंध शैली में लिखी गई भक्ति रचनाएँ भी मिलती हैं। बक्शी हंसराज कृत 'मिहराज चरित' और 'सनेह सागर' मुकुन्ददास कृत 'वीतक' आदि अनेक ग्रंथ महाराजा विश्वनाथ सिंह कृत 'रामायण' इस काल में लिखे गए कुछ उल्लेखनीय प्रबंधकाव्य हैं। इस काल में ऐतिहासिक चरितकाव्य, शृंगार और वीर रस के कवित्तों, दोहों, सवैयों की रचनाएँ खूब हुई। इस काल के रचनाकारों ने ब्रजभाषा को अपनी भाषा चुना। यह ब्रजभाषा काव्य की परंपरा गुजरात से लेकर बिहार तक और कुमायूँ से लेकर गढ़वाल तक, दक्षिण भारत

की सीमा तक बराबर चलती आई है। विषय की दृष्टि से इन कवियों ने शृंगार वीर और भक्ति के अतिरिक्त प्राचीन काव्यग्रंथों की टीकाएँ तथा समस्यापूर्ति जैसे रीतिकालीन प्रमुख काव्यरूपों को भी अपने लेखन से स्पर्श किया। टीकाकारों में नारायण, नंदन पाठक, व्रजजीवन, गंगाप्रसाद व्यास सरदार तथा समस्यापूर्तिकारों में सरदार और नारायण का नाम स्मरणीय है।

इस प्रकार की विविधता का कारण स्वाभाविक है। वस्तुतः यह काल ही विविध प्रवृत्तियों का था। यह काल संक्रमणकाल था। प्राचीन प्रवृत्तियाँ क्रमशः लुप्त हो रही थीं और आधुनिक युग की नवीन प्रवृत्तियों का धीरे-धीरे आविर्भाव हो रहा था। साहित्य भले ही मूलतः आत्मानुभूति पर निर्भर करता हो किंतु वह युग-निरपेक्ष नहीं रहता था। इसलिए संवत् 1900-1925 की कालगत राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का परिचय प्रस्तुत करना यहाँ असंगत न होगा।

दिल्ली की गद्दी पर अंतिम नामधारी सम्राट बहादुरशाह जफर को 1857 में अंग्रेज़ों द्वारा कैद कर रंगून भेज दिया गया जहाँ उसे मौत के घाट उतार दिया गया। इसके पूर्व के तथाकथित सम्राट लालकिले और उसके आसपास के ही सम्राट थे। रस्सी जल गई थी लेकिन ऐंठन नहीं गई थी। वे शाहजहाँ और जहाँगीर का सपना देखते और नकल करते थे। प्रदर्शनप्रियता, विलासिता, अकर्मण्यता आदि दुर्गणों के कारण साम्राज्य के सामन्त मनसबदार सब जगह-जगह स्वतंत्र साम्राज्य खड़ा हो गया था और ईस्ट इंडिया कंपनी के दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ संचालक समूचे भारत पर गिद्ध दृष्टि लगाये हुए थे। पलासी के युद्ध के बाद ही से उन्होंने व्यापारियों का चोंगा उतार कर अपनी वास्तविक साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को आगे बढ़ा दिया था और एक के बाद दूसरे राजा-नवाब को नाना प्रकार की चालबाजियों और कूटनीतियों से हटाते जा रहे थे और अपना साम्राज्य विस्तार करते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में साधारण सामंत, राजे-रजवाड़े और नवाब भी प्रजा के शोषण पर ऐशो आराम में लगे हुए थे और बड़ी आसानी से अंग्रेज समस्त भारत में विजय की ओर बढ़ रहे थे। भगवतीचरण वर्मा ने अपनी व्यंग्यात्मक कहानी 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' में लिखा है कि अंग्रेज़ों को कहीं भी बड़े अवरोध का सामना नहीं करना पड़ा और उनके साम्राज्य का तंबू आसानी से तनता गया और दिल्ली तक पैफल गया और गदर के बाद मुगलवंश का टिमटिमाता हुआ 'दिया' बुझ गया।

सच ही कहा गया है—'राजा कालस्य कारण' अर्थात् काल का कारण राजा होता है। तो जैसे राजे-रज़वाड़े, सम्राट थे, प्रजा भी वैसे ही काहिल होती जा रही थी। उसे हिंदू रजवाड़े भी लूटते थे क्योंकि छोटी-छोटी रियासतें थीं, बाहर वाली रियासत के राजा और प्रजा को सताना, बहुविध अत्याचार करना मामूली बात थी। प्रजा आये दिन के लूट-खसोट से ऊब चुकी थी। लुटेरे चाहे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, चाहे अंग्रेज

ही हों, प्रजा के लिए समान रूप से आतंककारी थे। इसलिए जनसामान्य मंथरा की मनःस्थिति में पहुँच चुका था—कोऊ नृप होय ....। इसलिए भी अंग्रेज़ों का संगठित रूप से जनविरोध नहीं हुआ और 1857 का विप्लव सिपाही विद्रोह बन गया। 1857 के गदर के महत्त्व को हम कम करके नहीं आंकना चाहते, उसे हम भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम कहते हैं जो अनुचित नहीं है, किंतु यह भी सच है कि वह संगठित हिंदू मुसलमानों की मिली-जुली अदम्य स्वातंत्र्य भावना का परिपक्व परिणाम नहीं था।

आर्थिक स्थिति इससे भी ज़्यादा शोचनीय थी, आये दिन अकाल पड़ रहे थे। नाना प्रकार के करों के बोझ से जनता पिसी जा रही थी। उद्योग धंधे चौपट हो रहे थे। भारत का कच्चा माल अत्यंत सस्ते मूल्य पर इंग्लैण्ड के कल-कारखानों में जाता था और वहाँ से तैयारी माल के रूप में पुनः भारत आता था और महंगे दामों पर बेचा जा रहा था। इसलिए भारतेंदु के समय में ही विदेशी के बहिष्कार का आंदोलन प्रारंभ हो गया था और गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस का प्रमुख चिह्न ही चर्खा हो गया। कभी भारत अपने सूती कपड़ों के लिए विश्वविख्यात था। संसार में भारत के बने हुए कपड़ों की बड़ी माँग थी। लेकिन बाद में चलकर कपास की खेती, सूत कातना, कपड़े बुनना जिनके द्वारा तमाम लोगों की रोजी चलती थी, बंद कर दिया गया। अच्छे कारीगरों के हाथ काट लिए गए और विदेशी कपड़ों से देशी बाज़ार पट गए। भोजन के बाद सबसे बड़ी आवश्यकता वस्त्र है। वस्त्र के क्षेत्र में हम पूरे पराधीन हो गए। अकालों के कारण भोजन की कमी हो गई और नाना प्रकार के सामान, लोहे के हथियार, औजार इंग्लैण्ड से आने लगे। इस तरह से देश का तमाम धन विदेश जाने लगा, तभी तो भारतेंदु ने कहा 'पै धन विदेश चलि जात यहै है ख्वारी।' जनता पूरी अशिक्षित थी। गरीबों के साथ-साथ अंधविश्वास, रूढ़िप्रियता, गतानुगतिकता जैसी बहुत सी दुर्भावनाएं व्याप्त थीं। लड़कियों की शिक्षा तो नहीं के बराबर थी। गौरी कन्या का विवाह करना पिता अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता था, उसी मात्रा में विधवाओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। ऐसी अशिक्षित महिलाओं के कारण अंधविश्वास, रूढ़ियों को पनपने का अच्छा मौका मिलता था। चतुर्वर्ण अपना कर्तव्य भूल चुका था न ब्राह्मण पढ़ रहा था, न क्षत्रिय जनता की रक्षा कर रहा था। ब्राह्मणों ने यजमानी को पेशा बना रखा था। क्षत्रिय जनता का शोषण करके ऐय्याशी में लगे थे। इसलिए देशी विदेशी आक्रमणकारियों के आने पर जनता खुश ही होती थी। ऐसे ही लोगों को ध्यान में रखकर गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा था—सरबस खाय भोग करि नाना। समरभूमि भा दुरलभ प्राना।' इसलिए जनता राजाओं के युद्ध में कोई हिस्सा मन से नहीं बँटाती थी।

वणिज्य व्यवसाय की स्थिति भी बड़ी दयनीय थी। स्वदेशी उद्योग धंधे समाप्त प्रायः हो गए थे। सड़कें असुरक्षित थीं। अव्यवस्था और गरीबी का दुष्परिणाम था कि लोग झुण्ड बनाकर सड़कों पर लूट खसोट किया करते थे इसलिए सार्थवाह व्यापारियों

के समूह भयभीत थे। ग्रामीण अर्थव्यवस्था चौपट हो गई थी। ग्राम अब दैनिक आवश्यकता की चीजें नमक, सलाई तक के लिए आत्मनिर्भर नहीं रह गए थे। आये दिन होने वाली छोटी-मोटी झड़पों के कारण खेतीबाड़ी भी चौपट होती जा रही थी, कभी-कभी गाँव के गाँव जला दिये जाते थे। जनता के ऊपर सामंत नाना प्रकार के कर लगाते थे। इस तरह से जनसामान्य की आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय थी।

धार्मिक क्षेत्र में भी बड़ी अव्यवस्था थी। हिंदुओं को एक तरफ अंधविश्वास, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, भूतप्रेत, झाड़-फूंक, जादू-मंतर जैसी तमाम बीमारियों ने कृशित कर रखा था, दूसरी तरपफ जनता की आस्था के आधार राम-कृष्ण तथा दूसरे देवी-देवताओं के विरोध में आर्यसमाज, बंगाल में ब्रह्मसमाज जैसे समाज जनता को दिग्भ्रमित कर रहे थे। जनता सोच नहीं पाती थी कि उसे किस समाज में वास्तविक धर्म की प्राप्ति होगी। लोग मानव-धर्म भूलते जा रहे थे। भाईचारा, परस्पर सहयोग सहानुभूति, माता-पिता गुरुजनों के प्रति आदर भाव, अपरिग्रह दया, करुणा, मैत्री, प्रेम जैसे सद्गुण लुप्त होते जा रहे थे। निम्न वर्ग के प्रति उच्च वर्ग का तिरस्कार उनके प्रति अपमानजनक व्यवहार उन्हें कभी मुसलमान, कभी ईसाई बनने के लिए प्रेरित करता था। ईसाई धर्म प्रचार संबंधित एक्ट 1840 में पास होने के बाद प्रचार कार्य तेजी से बढ़ गया। जगह-जगह ईसाई धर्म प्रचार स्कूल खुल गए। वे हिंदू धर्म की धज्जियाँ उड़ा रहे थे। ऐसी स्थिति में एक तरफ जहाँ अशिक्षित ग्रामीण नाना प्रकार के अंधविश्वासों में जकड़े हुए थे, उस थोड़े तथाकथित प्रगतिशील आधुनिक सभ्यता में रंगे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे युवक स्वयं ही हिंदू धर्म की निंदा में प्रवृत्त हो रहे थे और विरुद्ध आचरण करने लगे थे। ऐसे विविधाग्रस्त संक्रमणकालीन समाजको लक्ष्य करके भारतेंदु ने 'दुईरंगी' कविता लिखी थी जिसकी दो पंक्तियाँ हैं—'इ तो गधा को चना चढ़ावैं। इ होइ जाये दयानंदी हो दुइरंगी।' कहने का मतलब है कि दो प्रवृत्तियाँ चल रही थीं—एक पुरानी और एक आधुनिक। ऐसे द्विरंगी युग या समाज में जो कला, साहित्य, संगीत रचा जा रहा था, वह उससे अप्रभावित नहीं रह सकता था। चित्रकला राजपूत, कांगड़ा, मुगल आदि विभिन्न शैलियों में बंट गई थी। पुराने हस्तलेखों में नाना शैलियों के चित्र उपलब्ध होते हैं, जिससे चित्रकला के नानात्व का बोध होता है। संगीताकला पूरी तरह दरबारी कला हो गई थी और विलासी आश्रयदाता शास्त्रीय संगीत के बजाय कदर पिया की ठुमरियाँ और शोरी के टप्पे में मजा लेने लगे। श्रोताओं की सस्ती अभिरुचि के कारण संगीत बाजारू हो गया था और गंभीर कलात्मक अभिरुचि बाधित थी। इस समूचे परिवेश का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। हमारी कालावधि में साहित्य की दो धाराएँ अलग-अलग दिखाई पड़ती हैं—काव्य के क्षेत्र में प्राचीन काव्यधारा तथा पद्य के क्षेत्र में आधुनिक विचारधारा। गद्य में समाज सुधार स्त्री-शिक्षा, स्वदेशी आंदोलन, विदेशी का बहिष्कार,

स्वतंत्रता की पुकार, नाना कुरीतियों को हटाने की और अंधविश्वासों से लड़ने की ललकार जहाँ खड़ी बोली में दिखाई पड़ती है, वहीं काव्य की पुरानी धारा प्यारी-प्यारी ब्रजभाषा में कामिनियों का शृंगार, उनके नाना भेद, उनके हावभाव उनके नखशिख के पैमाइश में लगी हुई थी। अपवादस्वरूप दो एक कवि वीर रस की कविताएँ भी लिख लेते थे। शृंगार ने भक्ति को भी अपने लपेट में ले लिया था और राधाकृष्ण सामान्य नायक-नायिका हो गए थे। चाहे चैतन्य संप्रदाय हो, चाहे वल्लभ संप्रदाय हो, चाहे सखी संप्रदाय हो, सबमें हमारे अवतारी पुरुषों को उनके गरिमामय स्थान से खींचकर शृंगार के पंक में पटक दिया गया। और तो और मर्यादा पुरुषोत्तम राम और सीता भी उसी रंग में रंग दिये गए। इसमें शक नहीं कि कुछ कवियों ने नीति भक्ति प्रेम के सच्चे उद्‌गार भी अपनी कविता में किए हैं किंतु उनकी संख्या अत्यल्प है जो आगे के कवियों के इतिवृत्त से स्पष्ट हो जायेगा।

इस काल के कवियों में कुछ कवि शृंगारी हैं और कुछ ने लक्षण ग्रंथ लिखे हैं किंतु उन्हें आचार्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। उन लोगों ने अलंकार, रस, नायक-नायिका भेद- इन सबकी विवेचना उतनी वैदुष्यपूर्ण ढंग से नहीं की जैसा कि संस्कृत के आचार्यों ने किया। ये संस्कृत के पूर्ववर्ती ग्रंथों से थोड़ी बहुत चीजें लेकर दो-चार पंक्तियों में लक्षण उदाहरण दे दिया करते थे। जिनके आश्रय में ये लोग रहते थे, न तो उन्हें शास्त्रीय विमर्श सुनने का अवसर था, न रुचि थी और न इन कवियों में इतनी योग्यता थी, इसलिए लक्षणग्रंथों के नाम पर जो ग्रंथ इस काल में लिखे गए, उनमें कोई गहराई नहीं किंतु कुछ समय तक परंपरा का निर्वाह होता रहा। इन्हीं के कारण रीतिकालीन परवर्ती कवियों का शीर्षक सार्थक है क्योंकि फुटकल कवि रीतिमुक्त प्रेम की कविताएँ लिख रहे थे इसलिए इनका विवरण रीति परंपरा के कवि और फुटकल कवियों के रूप में आगे दिया जायेगा।

सेवक कवि असनी वाले ठाकुर कवि के पौत्र थे आचार्य शुक्ल। इनका जन्म संवत् 1872 और मृत्यु संवत् 1938 मानते हैं। वाग्विलास, बरवै नख-शिख, बरवै नायिका भेद पीपा प्रकाश, ज्योतिष प्रकाश और काव्यप्रकाश का उल्था सेवक कृत रचनाएँ मानी जाती हैं। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने सेवक कृत एक छंद ग्रंथ की भी चर्चा की है किंतु 'वाग्विलास' और 'बरवै-नखशिखा' को छोड़कर इनकी शेष कृतियाँ उपलब्ध नहीं है जैसा कि हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य शुक्ल ने भी उल्लेख किया है। विभिन्न इतिहासकारों ने यत्र-तत्र इन अनुपलब्ध रचनाओं का उल्लेख मात्र किया है किंतु ज्ञात होता है कि ये रचनाएँ लंबे समय से अनुपलब्ध थीं क्योंकि मिश्र बंधुओं ने भी लिखा है—'इनमें से 'वाग्विलास' और 'बरवै नखशिख' हमारे पास प्रस्तुत हैं।'[3]

राजा रत्नसिंह के पुत्र हरिशंकर सिंह सेवक कवि के आश्रयदाता थे। वे काशी

के धनाढ्य लोगों में से एक थे। उन्होंने अपने मनबहलाव के लिए फूलों-फलों का एक बड़ा सा बगीचा लगवाया था। उसी बगीचे का बड़ा सरस वर्णन सेवक कवि ने अपने 'वाग्विलास' नामक ग्रंथ में किया है। इस ग्रंथ में परंपरागत ढंग से मंगलाचरण, आश्रयदाता के शौर्य का वर्णन करने के पश्चात् नायिका-नायक भेद, सखी दूती, षटऋतु, अनुभाव और वियोग की दस दशाओं का वर्णन किया है। महत्त्व की बात तो यह है कि सेवक ने नायिका भेद की भाँति ही विस्तारपूर्वक नायक भेद भी कहा है और उसमें भी लगभग उतने ही भेद लिखे हैं जितने कि नायिका भेद में।[4] कहा जाता है कवि ने इस ग्रंथ में 'काव्यप्रभाकर' से प्रभाव ग्रहण किया है।[5] लगता है कि कवि का ध्यान मुख्य रूप से लक्षण ग्रंथ के निर्माण की ओर रहा है। इसलिए इन्हें परवर्ती आचार्य कवि-कोटि का कहा जा सकता है।

वाग्विलास की जीर्ण-शीर्ण प्राप्त प्रतियों एवं खोज रिपोर्टों में उसके रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। खोज रिपोर्ट (1923-25, भाग-2, विवरण सं. 383, पृ. 1347-48) में सेवक कृत 'वाग्विलास' का विवरण दिया गया है जिसमें रचनातिथि का उल्लेख तो नहीं है, लिपिकाल संवत् 1921 वि. (सन् 1864 ई.) दिया हुआ है। इससे इतना तो अवश्य पता चलता है कि संवत् 1921 से पूर्व ही इसकी रचना हुई होगी।[6]

सेवक कवि का दूसरा ग्रंथ 'बरवै नखशिख सौंदर्य' का वर्णन किया गया है। पुस्तक में कुल 15 पृष्ठ हैं और 98 दोहे हैं। नखशिख वर्णन के अतिरिक्त सुगंध वर्णन तथा अंत में सर्वांग वर्णन भी है।

इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त पं. नलित विलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास दर्शन' में सेवक विरचित कुछ स्फुट पदों की प्रथम पंक्ति की चर्चा की है—

पंक्ति-उद्धरण	पृष्ठ	पंक्ति	नम्बर
भाये महानैन मनभाये मैन कुंभकार	51	8	1
नैन बिसासिन के संग गो	39	21	9
उघरे पर देखि परंत्रिबली	40	1	10
उघरे पर पौन प्रसंगन सों	267	7	198
बाला कोउ सेवक विशाला इति घर माँझ	253	14	140
वनवासी किये शुक पीठि निवासी	152	17	19
दृगभोर से है कै चकोर भये	90	14	13
चन्दद्युति वृंद को निचोरि के बनायो कैधौ	230	16	44
चिनगी चमकै बिच अंचल सों	232	18	53
मौलसिरी रासतें न मालती हुलासतें	249	14	123

उपर्युक्त पदांश भी नखशिख-सौंदर्य-वर्णन संबंधी सेवक की उत्कृष्ट प्रतिभा के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।[7]

रीतिकालोत्तर कवियों में महाराजा रघुराज सिंह का नाम सेवक कवि के ठीक पश्चात् इतिहासकारों ने लिया है। ये रीवाँ राज्य के महाराज थे। इनके पिता का नाम महाराज विश्वनाथ सिंह था। आचार्य शुक्ल ने महाराज रघुराज सिंह का जन्म संवत् 1880 में तथा मृत्यु संवत् 1936 मानी है। महाराजा रघुराज सिंह के विद्यागुरु श्री रामानुज़दास तथा दीक्षागुरु स्वामी मुकुंदाचार्य थे। रघुराज सिंह को हिंदी, संस्कृत के अलावा प्राचीन धर्मग्रंथों और संगीत का विशेष ज्ञान था। इन्होंने भक्ति और शृंगार संबंधी अनेक ग्रंथ रचे। इनका रामस्वयंवर (संवत् 1926) नामक प्रबंधकाव्य पर्याप्त लोकप्रिय हुआ जिसके अनेक छंद सीता राम के विवाह से संबंधित हैं। इनके अतिरिक्त 'सुंदर-शतक' (1904) पत्रिका (1907), रुक्मिणी परिणय (1906), आनन्दाम्बुनिधि (1910), श्रीमद्भागवत माहात्म्य (1911) भक्तिविलास, रहस्यपंचाध्यायी, भक्तमाल (1926) रघुराज विलास, विनय प्रकाश आदि ग्रंथों की इन्होंने रचना की है। मुख्यतया कवि शृंगार और भक्ति में आसक्त है, किंतु प्रबंध-काव्यों और मुक्तक रचनाओं में अन्य रसों को भी स्थान दिया गया है। उनकी भक्तिपरक रचनाओं पर सूर, तुलसी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। 'आनंदाम्बुनिधि' में श्रीमद्भावगत के बारह स्कंधों का विविध छंदों में पद्यबद्ध अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। इस संबंध में श्री जीतनसिंह ने लिखा है—'श्रीमान ने इसका पद्यात्मक अनुवाद सराहनीय किया है। भागवत के प्रतिश्लोकों को पढ़ते जाइये और उसी के अनुसार तथा उसी भाव के हिंदी पद्य उससे मिलाते जाइये।'[8] यह अनुवाद इतना उत्कृष्ट हुआ कि शिवसिंह सेंगर ने प्रशंसा में लिखा—'हमने फारसी भाषा इत्यादि में बहुत से उल्था भागवत के देखे हैं, पर ऐसा कोई उल्था नहीं हुआ।'[9] इस ग्रंथ की तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं—एक काशी नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस हस्तलिखित ग्रंथ का उल्लेख सन् 1903 की खोज रिपोर्ट में हुआ है। यह प्रति पूर्ण है इसमें कुल 698 पृष्ठ और 28350 श्लोक हैं। दूसरी प्रति राजा अवधेश सिंह (कालाकांकर प्रतापगढ़) के रमेश पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इस हस्तलिखित प्रति का उल्लेख सन् 1926-28 की खोज रिपोर्ट में हुआ है। यह भी पूर्ण प्रति है तथा इसमें कुल 999 पृष्ठ और 53384 छंद है। इसका लिपिकाल संवत् 1918 दिया हुआ है। तीसरी प्रति वेंकटेश्वर यंत्रालय बम्बई से संवत् 1957 में मुद्रित और प्रकाशित हुई है जिसमें 828 पृष्ठ हैं। उल्लेखनीय है कि इस प्रति में प्रत्येक स्कन्ध के आरंभ में चित्रों द्वारा संबद्ध स्कंध की कथा स्पष्ट कर दी गई है। इनकी तीसरी रचना 'रामरसिकावली' की एक पूर्ण प्रति काशी नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है, जिसमें कुल 413 पृष्ठ और 18775 श्लोक हैं। इसकी दूसरी प्रति जो वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से मुद्रित है, आर्य भाषा पुस्तकालय नागरी प्रचारिणी सभा में

सुरक्षित है जिसमें कुल 1158 पृष्ठ हैं। इस ग्रंथ में विभिन्न युगों के भक्तमाल को आधार बनाया है। इस ग्रंथ में दोहा, चौपाई, सवैया, सोरठा, छप्पय आदि का बहुतायत प्रयोग है। युगीन सांस्कृतिक ह्रास का संकेत देने वाला इनका प्रमुख ग्रंथ रघुराजविलास की चर्चा किये बिना कवि के काव्यत्व का सम्यक् निदर्शन नहीं हो सकता। जिसमें राम और कृष्ण दोनों के प्रति समान रूप से भक्ति भाव का प्रदर्शन करते हुए भी राम और सीता के विलासी चित्र भी कवि ने खींचे हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस ग्रंथ के सभी पद संगीत की दृष्टि से विभिन्न रागों में बंधे हुए हैं, जो कवि के राजोचित संगीत प्रेम के सूचक हैं।

काव्य की प्राचीन धारा के साथ कदम बढ़ाने वाले कवियों में सरदार कवि का नाम उल्लेखनीय है। ये हिंदी के प्रसिद्ध कवि हरिजन के पुत्र थे और काशीराज ईश्वरी नारायण सिंह के दरबारी कवियों में एक थे। इनका रचना काल 1902 से 1940 तक माना गया है। इन्होंने कविप्रिया, रसिकप्रिया, सूर के दृष्टिकूट और बिहारी सतसई की बहुत अच्छी टीकायें लिखी हैं। इनके स्वरचित ग्रंथों में शृंगार संग्रह, रामलीला प्रकाश, साहित्य सुधांकर, राम रत्नाकर, साहित्य सरसी, हनुमत भूषण, तुलसी भूषण, वाग्विलास, षटऋतु आदि उल्लेखनीय हैं। 'शृंगार-संग्रह' में 125 प्राचीन कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। साहित्य सुधाकर में काव्य लक्षण, शब्द, अर्थ ध्वनि, लक्षण-आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव ध्वनि निरूपण अलंकार, नायिका भेद तथा नव रस आदि का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं—पहली प्रति काशी नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है तथा दूसरी असनी के पं. कन्हैयालाल महापात्र के यहाँ।

रीतिकाल के परवर्ती काव्य में बाबा रघुनाथदास रामस्नेही का उल्लेख आवश्यक है। चूँकि विभिन्न इतिहास ग्रंथों तथा अन्वेषकों में रघुनाथदास नाम के कई कवियों के विवरण प्रस्तुत किये हैं जिनका विस्तृत उल्लेख डॉ. श्यामानंद प्रसाद ने अपने शोध ग्रंथ रीतिकालोत्तर कवि और काव्य में प्रस्तुत किया है -हम आचार्य शुक्ल के द्वारा स्वीकृत उस कवि का उल्लेख करेंगे जिसे उन्होंने अयोध्या का एक बड़ा साधु और अपने समय का बड़ा महात्मा बताया है। संवत् 1911 में इन्होंने विश्राम सागर नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें उन्होंने अपने को देवादास का शिष्य कहा है। भगवती प्रसाद सिंह ने तुलसीकृत मानस के बाद अत्यधिक लोकप्रिय रामभक्ति साहित्य इसे ही माना है।[10] यह ग्रंथ इतिहासायन, कृष्णायन और रामायण नामक तीन खंडों में विभक्त है। इतिहासायन खंड में कृष्णदत्त, वाल्मीकि, गणगणिका उद्धार, यमदूत आदि अनेक इतिहास सम्मत धार्मिक कथायें पद्यबद्ध हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कृष्णायन में कृष्ण चरित तथा रामायण खंड में सात कांडों में राम का चरित वर्णन प्रस्तुत है। डॉ. श्यामानंद प्रसाद ने अपने विश्राम सागर के अतिरिक्त अन्य चार

प्रामाणिक ग्रंथों का उल्लेख अपने शोध-ग्रंथ में किया है जिनका नाम है कृष्णावली, भक्तिमालकोमहात्म, ज्ञान ककहरा, और हरिनाम सुमिरनी। नारायण कवि का उल्लेख पं. नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डॉ. श्यामानंद प्रसाद ने किया है जबकि शुक्ल जी ने प्राचीन काव्यधारा के कवियों के उल्लेख के क्रम में इनका नाम नहीं लिया है। नारायण कवि सरदार कवि के शिष्य थे और जाति से बंदीजन (भाट) थे। नारायण कवि की कोई स्वतंत्र रचना तो प्राप्त नहीं हे पर सरदार कवि के विभिन्न टीका-ग्रंथों और काव्य संग्रहों में इनके स्फुट पद मिलते हैं। 'कविवचन सुधा' नामक पत्रिका में भी इनके कुछ पद प्रकाशित हैं। विषय और वर्णन शैली दोनों की दृष्टि से ये अपनी पूर्ववर्ती काव्य परंपरा कापालन करते दिखाई देते हैं। नखशिख सौंदर्य वर्णन से संबंधित इनका एक पद द्रष्टव्य है -

मृगमदगार रस रुचिर सिंगार सार कज्जल कतार सुकुलार सटकार हैं।
उपमा विचार या नरायन उचार मुनि तर्कतनिहार छबिदार औ उदार हैं॥
सुखद सिकार धूमधार निरबार तम पुंजन के भार किर्धोपन्नग कुमार हैं।
भौरन के हार स्याम ताके परिवार चार कालिंदी के बार बाल छूटे तेरे बार हैं॥

नारायण कवि के बाद नाम आता है घनारंग का जिनका मूल नाम घना मालिक था। इनके पिता का नाम श्री सुहावन दूबे था। इनके संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए डॉ. श्यामानंद प्रसाद का शोधग्रंथ 'रीतिकालोत्तर कवि और काव्य' देखना चाहिए। घनारंग का मात्र एक ग्रंथ 'कृष्णरामायण' उपलब्ध है जिसे उनके भतीजे संगीताचार्य बच्चू मलिक (प्रकाश कवि) ने संपादित कर सन् 1894 ई. को हरिप्रकाश यंत्रालय, बनारस से प्रकाशित कराया था। इस कृति के बारे में डॉ. प्रसाद लिखते हैं–राम-काव्यधारा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में घनारंग-कृत 'कृष्णरामायण' भी उल्लेख्य है। अपने आश्रयदाता डुमराँव नरेश महेश्वर बख्श सिंह के अनुरोध पर घनारंग ने इस रामकथा की रचना की थी। 'कृष्ण-रामायण' की भूमिका में कवि के भ्रातृज संगीताचार्य बच्चू मलिक (प्रकाश कवि) ने लिखा है–महाराजा साहब रामोपासक थे, इनकी रामायण विषयक कविता पर एक रोज प्रसन्न हो बोले कि मलिक जी, तुलसी कृत रामायण के सदृश सातों काण्ड रामायण बने तो बहुत अच्छा हो। इतना सुनकर ग्रंथकर्ता ने श्रीकृष्ण के प्रति यशोदा कथन में समग्र रामायण तथा ब्रजविलास लिख डाला। इसकी रचना संवत् 1918 वि. में हुई थी। कवि ने स्वयं कहा है–

सम्वत् ओनइस सै अट्ठारह। माघमास बित्वो दिन बारह।
दिन दिनेश औनखत् रोहिनी। हरि अवतारहिं सदा सोहिनी॥[11]

इस ग्रंथ में सात काण्ड हैं। शिव पार्वती को राम का चरित सुनाते हैं। बीच में कृष्ण कथा का प्रसंग भी आ जाता है। देवताओं के आग्रह पर कृष्ण का अवतार होता है और माता यशोदा बालक कृष्ण को राम के चरित का वर्णन कहती सुनाती हैं।

बालक कृष्ण को सुनाये जाने के कारण ही संभवतः इस ग्रंथ का नाम 'कृष्ण रामायण' पड़ा। इसके ग्रंथ में अंत में ब्रजविलास नाम आठवाँ कांड भी जोड़ दिया गया है जिसमें कृष्ण का जन्म, कंस के भय से वसुदेव द्वारा कृष्ण को गोकुल पहुँचाया जाना और गोकुल ने नन्द की नवजात कन्या को उठा लाना, कृष्ण की बाललीलाएँ, राक्षसवध जैसे प्रसंग हैं। 'कृष्ण रामायण' प्रबंधकाव्य है। घनारंग के कुछ एक स्फुट पद 'हिंदी साहित्य और बिहार' नामक पुस्तक के द्वितीय खंड में भी संग्रहीत हैं।

रीतिकालोत्तर कवि अथवा शुक्ल जी के शब्दों में आधुनिक काल की पुरानी काव्यधारा के कवियों में राजा लक्ष्मणसिंह, लछिराम (ब्रह्मभट्ट) गोविंद गिल्लाभाई, नवनीत चौबे, भारतेंदु हरिश्चंद्र, पं. अंबिकादत्त व्यास, पं. प्रतापनारायण मिश्र चौधरी, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह का नाम स्मरणीय है। इन कवियों में कुछ ने सिर्फ प्राचीन काव्य परंपरा के अनुसार ब्रजभाषा में रचना करते हुए रीतिकालीन प्रवाह को बनाये रखा, साथ ही आधुनिक साहित्य की सर्वविध विधाओं को पुरस्कृत किया। लछिराम भट्ट संवत् 1898 में बस्ती जिला में पैदा हुए, अपने समय में ये अनेक राजा-महाराजाओं द्वारा सम्मानित हुए और सम्मान करने वाले प्रायः प्रत्येक राजा पर इन्होंने रचनाएँ की, जैसे मानसिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, प्रेमरत्नाकर, लक्ष्मीश्वर रत्नाकर, रावणेश्वर कल्पतरु, कमलानंद कल्पतरु आदि। ब्रजभाषा की पुरानी परंपरा में रचना करने वालों में ये प्रसिद्ध हैं।

गोविंद गिल्लाभाई कवि और आचार्य दोनों श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ये भावनगर के सिहोर नामक स्थान पर संवत् 1905 में जन्मे थे। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—नीति विनोद, शृंगार सरोजिनी, षट्ऋतु, पावस पयोनिधि, समस्या पूर्ति प्रदीप, वक्रोक्ति विनोद, श्लेष चंद्रिका, प्रारब्ध पचासा, प्रवीन सागर। श्यामानंद प्रसाद ने जिन गौण कवियों का उल्लेख रीतिकालोत्तर कवियों की चर्चा के क्रम में किया है, उनमें गणेशानंद शर्मा, वैजनाथ द्विवेदी, गुरु बख्शलाल, परमानंददास, गणेश प्रसाद, फर्रुखाबादी, बिरंजी कुँअरी, नंदन पाठक, गंगाप्रसाद व्यास, लक्ष्मी प्रसाद, ब्रजजीवन, मनराज, खुमान सिंह कायस्थ और अनुनैन की चर्चा की है, किंतु उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कहा है कि चूँकि इनके जीवन वृत्त के बारे में विस्तृत और संतोषप्रद सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। अतः उनका विशेष विवरण नहीं दिया जा सका है।

गणेशानंद शर्मा का सर्वप्रथम उल्लेख द्वारकाप्रसाद गुप्त ने अपनी कृति 'गया के लेखक और कवि' में किया है। इनका जन्म संवत् 1890 और निधन संवत् 1940 में हुआ था। ये पुरानी परिपाटी के कवि थे। इनका रचनाकाल संवत् 1912 माना गया है। इनके लिखे दो ग्रंथों की सूचना मिलती है जिनका नाम ऋतु वर्णन और नायिका-नायक तत्त्व है। दूसरे कवि बैजनाथ द्विवेदी के संबंध में 'हिंदी साहित्य और बिहार' के संपादक ने बताया है कि इनका जन्म संवत् 1894 में हुआ था, किंतु अन्य

जगहों पर मिले प्रमाणों के आधार पर अभी भी इनका जन्म संवत् शंकास्पद ही माना जा रहा है। इन्होंने 'श्रीसीतारामा भरणमंजरी' नामक एक अलंकार ग्रंथ लिखा। साथ ही 'वृत्तनिदोषकदम्ब' नामक रीतिग्रंथ की रचना भी की और ये दोनों ही रचनाएँ इन्हें रीतिकाल के परवर्ती आचार्य की कोटि में रखने के लिए पर्याप्त हैं। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त नखशिख, रामरहस्य, वाम विलास, उद्दीपन शृंगार मंजरी, अनुभाव उल्लास, पंचदेवता वंदन चालीसा आदि अन्य कुछ ग्रंथों की भी चर्चा 'हिंदी साहित्य और बिहार' नामक पुस्तक में हुई है। परमानंददास के बारे में हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण प्रथम खंड (काशी, नागरी प्रचारिणी सभा) पृ. 554 में इन्हें पंजाब के निकट दौदा ग्राम का निवासी तथा संवत् 1935 के लगभग वर्तमान बतलाया गया है। हिंदी साहित्य और बिहार नामक पुस्तक में संपादक महोदय के अनुसार 'आपने सन् 1855 ई. में अपनी पहली रचना बारह मासा लिखी थी उस समय आप कम से कम 40-45 वर्ष के रहे होंगे। अतः आपका जन्म काल सन् 1810 से 15 ईस्वी के लगभग होगा।'[12] परमानंददास के दो ग्रंथों की चर्चा अधिक मिलती है। वो है बारहमासा और कबीर भानुप्रकाश। 'बारहमासा' पुस्तक में कुल 24 पृष्ठ हैं। इस पुस्तक में प्रिय वियोग के कारण विरहिणी नायिका की पीड़ा का मासवाद वर्णन है। गणेशप्रसाद फर्रुखाबादी का उल्लेख मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' के तृतीय भाग में मिलता है जिसमें उन्होंने गणेशप्रसाद को संवत् 1930 में वर्तमान माना है। इनकी पाँच कृतियों के उल्लेख मिलते हैं किसाने चमन, बारहमासा, ऋतुवर्णन, शिख-नख और छंद लावनी। ग्रंथों के नाम से ही ज़ाहिर होता है इनमें शृंगार रस के वर्णन का प्राधान्य है। इस काल की महिला लेखिका बिरंजी कुँअरि का उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा क्योंकि उस काल की महिला कवयित्रीयों का उतना योगदान नहीं रहा है। यद्यपि इनके मात्र एक ग्रंथ का उल्लेख खोज रिपोर्ट में हुआ है जिसकी रचना संवत् 1905 में मानी गई है। यह 'सती विलास' नामक ग्रंथ सती स्त्रियों के चारित्रिक उत्कर्ष और पातिव्रत्य धर्म की महिमा को रेखांकित करता है। इसी काल के नंदन पाठक की 'मानस शंकावलि', गंगाप्रसाद व्यास की 'विनयपत्रिका तिलक' (तुलसी कृत विनय पत्रिका की टीका), मनराज कृत कुछेक स्फुट पद, लक्ष्मीप्रसाद कृत शृंगार कुंडली और 'नायिका भेद' आदि भी रीतिकाल के परवर्ती चरण की कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

यहाँ तक तो चर्चा हुई उन कवियों की जिन्होंने हिंदी की पूर्ववर्ती काव्य परंपरा का निर्वाह अपनी रचनाओं में परंपरागत ढंग से किया है। इनके बाद हिंदी साहित्य में पुरानी का हाथ थामे नयी की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति जिन कवियों में दिखाई पड़ी, उनमें सर्वप्रथम नाम भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र का लेना अनुपयुक्त न होगा। भारतेंदु हरिश्चंद्र जिन्हें आज हिंदी खड़ी बोली गद्य के निर्माता के रूप में याद किया जाता है वे रीतिकाल की ब्रजभाषा को सुधारने का काम करते हुएं उसे समृद्ध करने में अपना पूरा

योग दे रहे थे। भारतेंदु के समय में ब्रजभाषा में शब्दों की तोड़ मरोड़ शिल्प का सौष्ठव माना जाता था किंतु यह स्थिति जनसाधारण को ब्रजभाषा से दूर कर रही थी इसलिए उन्होंने बोलचाल की ब्रजभाषा का प्रयोग कर अनेक सवैये लिखे। भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बहुत गहरा पड़ा। उनमें भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। आगे चलकर उन्होंने गद्य में जो क्रांतिकारी सुधार किये, उस पर भारतेंदु की उस मौलिक सोच की स्पष्ट छाप थी। भारतेंदु के बाद अम्बिकादत्त व्यास का नाम भी इस कोटि के रचनाकारों में शुक्ल जी ने लिया है ये कवित्त सवैया की प्रचलित शैली में काव्य रचना करने वाले ब्रजभाषा के सफल कवि थे। इन्होंने समस्यापूर्ति जैसे साहित्य विधा को समृद्ध बनाया, इनके कवि रूप की सबसे बड़ी देन इनका 'बिहारी बिहार' नामक ग्रंथ है। इसमें बिहारी सतसई के दोहों के आधार पर रचित इनकी कुंडलियाँ संकलित हैं। इनकी पुरानी नयी परिपाटी की फुटकर रचनाएँ समसामयिक पत्रों पीयूष प्रवाह समस्यापूर्ति प्रकाश आदि में प्रकाशित मिलती है।

प्रतापनारायण मिश्र समस्यापूर्ति और पुराने ढंग की शृंगारी रचनाएँ अच्छी करते थे। संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेज़ी और बंगला सब पर उनका अधिकार था। ब्रजभाषा में सवैयों और घनाक्षरी की रचना उन्होंने खूब की थी, जिसका मूल स्वर भक्ति और शृंगार था। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भारतेंदु मंडल के प्रतिष्ठित लेखक और कवि थे। इन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का शुभारंभ कविरूप में किया था। ब्रजभाषा में कवित्त सवैया लिखने की परंपरागत पद्धति उन्हें बहुत पसंद थी। आधुनिक युग के द्वार पर खड़े होकर उन्होंने अपना संबंध काव्य रचना की पुरानी पद्धति से बनाये रखा। इस दृष्टि से उनकी एक अति प्रसिद्ध रचना उल्लेख्य है—

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिये तेहि त्यागि तपाइए ना।
घन प्रेम बढ़ाय कै प्रेम अहो, बिथा बारि वृथा बरसाइए ना॥
बिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना॥

ब्रजभाषा के सरस स्फुट पदों की रचना के अतिरिक्त इन्होंने कजली, होली, लावनी आदि की शैली में बहुत-सी लोक गीतात्मक कविताएँ लिखी हैं।

ठाकुर जगमोहन सिंह ने ब्रजभाषा में अनेक सवैये लिखे। उनकी शृंगारी कविताएँ प्रेम सम्पत्तिलता, श्यामालता और श्यामा सरोजिनी में संगृहीत हैं। ब्रजभाषा के कवित्त और सवैया छंदों में आपने कालिदास के मेघदूत का बहुत सुंदर अनुवाद किया है। इस पुरानी धारा के भीतर लाला सीताराम के पद्यानुवादों को भी ध्यान में रखना चाहिए जो कविता में अपना उपनाम भूप रखते थे और दोहा चौपाइयों में इन्होंने रघुवंश का और घनाक्षरी में मेघदूत का अनुवाद किया है। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ब्रजभाषा काव्य के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते हैं। शुक्ल जी के अनुसार

'ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियों में रत्नाकर जी का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इनका जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ल 6 संवत् 1923 और मृत्यु आषाढ़ कृष्ण 3 संवत् 1989 को हरिद्वार में हुई। भारतेंदु के पीछे संवत् 1946 से ये ब्रजभाषा में कविता करने लगे थे ..... इनकी कविता बड़े-बड़े पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। पुराने कवियों में भी इनकी सी सूझ और सूक्ति वैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई थी। ये साहित्य तथा ब्रजभाषा काव्य के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते थे।'[13] शुक्ल जी ने राय देवी प्रसाद पूर्ण, श्री वियोगी हरि, श्री दुलारे लाल जी भार्गव का नाम भी पुरानी परिपाटी के कवियों में लिया है, ऐसा करते समय शुक्ल जी ने उनके जन्म काल को आधार न मानकर उनकी भाषा को आधार माना है अर्थात् उनकी भाषा प्राचीन कवियों की भाषा से मिलती थी।

डॉ. वेदप्रकाश गर्ग ने अपने सद्यःप्रकाशित शोध ग्रंथ में रसिक सुंदर नाम के भक्त कवि का उल्लेख किया है जिनका समय विक्रम की 19वीं शती का उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है। डॉ. गोविलकर ने अपने शोध-प्रबंध 'रसिक सुंदर और उनका हिंदी काव्य' में रसिक सुंदर के जीवन वृत्त तथा उनकी रचनाओं का शोधपरक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डॉ. वेदप्रकाश गर्ग ने इनका जन्म संवत् 1864 के लगभग माना है। उन्हीं के शब्दों में 'कवि का वास्तविक नाम सुंदरलाल था और सुंदर, सुंदर सखी, एवं रसिक सुंदर उनकी विभिन्न नाम छापे हैं किंतु उनका सर्वाधिक प्रिय नाम रसिक सुंदर था। उनके पिता का नाम सुखलाल था और वे जाति से श्रीवास्तव, कायस्थ थे। उनका निवास स्थान जयपुर था। ये निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित थे और सर्वेश्वर शरण देवाचार्य उनके दीक्षा गुरु थे। उनका परिवार समृद्ध एवं वैभव संपन्न था। ..... रसिक सुंदर अध्यवसायी व्यक्ति थे। उन्हें संस्कृत ब्रजभाषा एवं फारसी का अच्छा ज्ञान था। वे अपने भाई सहित जयपुर राजदरबार में ऊँचे पदों पर नियुक्त थे।'[14]

गर्ग जी ने रसिक जी के ग्रंथों के बारे में परिचय देते हुए लिखा है 'रसिक सुंदर जी के प्राप्य 26 ग्रंथों में अनेक विद्वानों, भक्तों तथा अन्य महान् व्यक्तियों के संबंध का एवं साहचर्य का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें पं. गंगा प्रसाद, पं. रामप्रताप मिश्र, बलदेव सिंह, कछवाहा, फौजासिंह चौहान, होडूराम पुजारी तथा ऐनसाहब के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से ऐन साहब के संबंध में कवि ने ऐन पचीसी नामक रचना का सर्जन किया है और यही कवि की प्रारंभिक रचना है जिसका रचनाकाल संवत् 1887 है। .... ऐन साहब के गुणगान विषयक इस रचना की हस्तलिखित प्रति प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान जोधपुर में सुरक्षित है।'[15]

इस काल विशेष में काव्य रूप भाषा के साथ छंद भी परंपरानुमोदित ही प्रयुक्त

हुए हैं। दोहा, कवित्त और सवैया रीति काल की शृंगारी रचनाओं के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माने गये थे जो आलोच्य परवर्ती कालखंड में भी प्रयुक्त होते रहे। बरवै छंद में भी रचनाएँ हुईं और सेवक कवि की नख शिख पुस्तक इस दृष्टि से अविस्मरणीय है। बाबा रघुनाथ दास राम सनेही का 'विश्राम सागर' छंदों के वैविध्य का एक नमूना है जिसमें रोला छप्पय, गीतिका, तोमर, हरिगीतिका, चौबोल, भुजंग प्रयात, सोरठा, कुकुंभी, अरिल्ल, तोटक, चंचरीक, नराच्य, कमल, महिखर, कड़षा आदि छंदों का प्रयोग है। रीतिकाल की तुलना में इस परवर्ती काल में छंदों का व्यापक विस्तार हुआ। डॉ. श्यामानंद प्रसाद ने अपने शोध-ग्रंथ के परिशिष्ट में उन कतिपय लेखकों का उल्लेख किया है जो मुख्यतः रीतिकाल में पले बढ़े किंतु रचनाएँ परवर्ती काल तक करते आये हैं। ऐसे रचनाकारों में कवि पं. चंद्रशेखर वाजपेयी, बाबा दीनदयाल गिरि, पजनेस कवि, गिरिधर दास, द्विजदेव कवि, लछिराम कवि आदि का उल्लेख किया है।

चंद्रशेखर वाजपेयी का जन्म पौष शुक्ल 10, संवत् 1855 में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. मनीराम वाजपेयी था। वह स्वयं कुशल कवि थे। कहा जाता है कि काव्योपासना इनके वंश परंपरा से चली आती थी।[16] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में—'मौजवाँबाद कान्यकुब्ज (धन्नी के) वाजपेयी का प्रमुख स्थान है। वाजपेयियों के चार वंश हीरा, बीसा, धन्नी और तारा असनी के वाजपेयी कहलाते हैं। असनी के निकट ही मौजवाँबाद है। यह धन्नी के वाजपेयियों का स्थान है।'[17] असनी निवासी करनेश महापात्र इनके भाषा काव्य गुरु थे। चंद्रशेखर कवि का देहान्त संवत् 1932 में हुआ।

चंद्रशेखर कवि के बनाये नौ ग्रंथ प्राप्त होते हैं—'हम्मीरहठ', 'रसिक-विनोद', 'विवेक-विलास', 'नख-शिख', 'हरि भक्ति-विलास', 'वृंदावनशतक', 'गुरु पंचाशिका', 'ज्योतिष का ताजक' तथा 'माधवी वसंत'। 'हम्मीर हठ' की रचना संवत् 1902 में हुई। यह ग्रंथ साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार—'इनकी कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिए हम्मीरहठ ही पर्याप्त है।'[18] 'हम्मीर हठ' का प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा से बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के संपादकत्व में हुआ है।

747 छंदों में विरचित 'रसिक-विनोद' उत्तम रीतिग्रंथ है। भारतजीवन प्रेस, काशी से रत्नाकर जी के संपादकत्व में ही इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ था, किंतु उसकी मुद्रित प्रतियाँ संप्रति अप्राप्य है। इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति अप्राप्य हैं। इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति काशी नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस ग्रंथ में नायक-नायिका भेद तथा नौ रसों का लक्षण सोदाहरण दिया गया है। यह ग्रंथ चंद्रशेखर कवि को रीतिकाल के परवर्ती आचार्य की कोटि में रखता है। आचार्यत्व एवं कवित्व-दोनों ही दृष्टि से यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त नख-शिख

और 'हरि भक्ति विलास' भी चंद्रशेखर वाजपेयी के ख्याति का आधार बना। ये रीति काल के परवर्ती दौर में रचना करते थे किंतु इन्हें प्रसिद्धि 'हम्मीर हठ' के कारण वीर काव्य प्रणेता के रूप में मिली न कि रीति ग्रंथकार के रूप में। इसी काल विशेष में बाबा दीनदयाल गिरि ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा ख्याति अर्जित की थी। दृष्टांत तरंगिणी, विश्वनाथ नवरत्न, अनुराग बाग तो इनकी रीतिकाव्य की रचनाएँ हैं। रीतिकालोत्तर काल में इन्होंने अन्योक्तिमाला, वैराग्य दिनेश और अयोक्तिकल्पद्रुम नामक रचना की। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के प्रथम खंड में अन्योक्ति माला की हस्तलिखित तीन प्रतियों का उल्लेख है। वैराग्य दिनेश ज्ञान और वैराग्य संबंधी रचना में ज्ञान वैराग्य के साथ ऋतुओं के सौंदर्य का भी चित्रण है। इसके प्रथम प्रकाश में भाषा, अलंकार, छंद, अभिव्यंजना शैली, षट्ऋतु आदि के वर्णन मिलते हैं। कुछ एक अंश में नीति विषयक कविताएँ भी मिलती हैं। कवित्त की दृष्टि से यह एक उत्तम ग्रंथ है। इनकी इस रचना पर कबीर का प्रभाव झलकता है। इस बारे में डॉ. राम सरूप शास्त्री जी का कहना है 'कबीर का प्रभाव तो उन पद्यों में अधिक दिखाई देता है जिनमें गिरि जी ने शान्त तथा शृंगार का मिश्रण करते हुए मायके का मोह छोड़कर ससुराल जाने, पति से अनन्य प्रेम करने और पातिव्रत के पालन की शिक्षा दी है और बिहारी का प्रभाव भ्रमर आदि की अन्योक्ति पर।'[19]

पजनेस कवि का जन्म काल मिश्र बंधुओं के अनुसार संवत् 1872 है। आलोच्य कालीन प्रेम और शृंगार के कवियों में पजनेस कवि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा, शैली और अलंकार योजना की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों के काफी निकट हैं। इनके दो ग्रंथों की प्रतियाँ प्राप्त होती हैं जिनका नाम है 'पजनेस पचासा' और 'पजनेस प्रकाश', किन्तु अन्य तीन 'खेच्छार षोडशी', 'नख शिख' और 'मधु प्रिया' नामक कृतियों का मात्र उल्लेख यत्र-त्त्र मिल जाते हैं। इसी समयावधि में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता श्री गोपालचंद्र जो गिरिधर नाम से रचना करते थे आते हैं। इनका जन्म संवत् 1890 में हुआ। भारतेंदु बाबू के दौहित्र बाबू ब्रजरत्नदास की 18 रचनाओं की सूची उनके संक्षिप्त विवरण के साथ दी है। जरासन्धवध, भारतीभूषण, भाषा व्याकरण, रस-रत्नाकर, ग्रीष्म वर्णन, मत्स्य कथामृत, कच्छप कथामृत, वाराह कथामृत, नृसिंह कथामृत, वामन कथामृत, परशुराम कथामृत, रामकथामृत, बलरामकथाभृत, बुद्धकथाभृत, कलकि कथामृत और नहुषनाटक इसके अतिरिक्त गर्ग संहिता और एकादशी महात्म का भी नाम लिया है। गिरिधरदास की कुछ रचनाएँ आचार्यत्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जो कुछ उनके कवि रूप को प्रकट करती हैं। अलंकार विषयक भारतीभूषण ग्रंथ इनके आचार्यत्व को प्रमाणित करता है। जरासंध वध में अनुप्रास और यमक के उत्कृष्ट विधान की आचार्य शुक्ल भी प्रशंसा करते हैं।

यूँ तो इन रचनाकारों के बारे में विस्तार से जानने के लिए इनसे संबंधित ग्रंथों का पर्यावलोकन अनिवार्य है किंतु अनावश्यक विस्तार न देते हुए संक्षेप में उनका उल्लेख इस बात का ध्यान रख कर किया गया है कि रीतिकाव्य का अंत एकाएक नहीं हो पाया वह अपनी सीमित कालखंड से बाहर निकलकर आगे भी कुछ कवियों के द्वारा अपने स्वरूप को सम्मुख लाने में समर्थ रहा था।

संदर्भ

1. रीतिकालोत्तर कवि और काव्य, डॉ. श्यामानंद प्रसाद, पृ. 1-2
2. हिंदी रीति साहित्य, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 22-23
3. मिश्रबंधु विनोद, भाग-3, पृ. 1041
4. वही, पृ. 1040
5. आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 232
6. रीतिकालोत्तर कवि और काव्य, डॉ. श्यामानंद प्रसाद, पृ. 85
7. वही, पृ. 90
8. 'सरस्वती', जनवरी 1905, भाग-6, संख्या 1, पृ. 5
9. शिवसिंह सरोज, पृ. 485
10. रीतिकालोत्तर कवि और काव्य, डॉ. श्यामानंद प्रसाद, पृ. 164
11. वही, पृ. 184-185
12. हिंदी साहित्य और विहार, द्वितीय खंड, पृ. 104
13. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 316
14. इिंदी साहित्य का इतिहास समस्याएँ और समाधान, डॉ. वेदप्रकाश गर्ग, पृ. 224
15. वही, पृ. 225-226
16. जगन्नाथदास 'रत्नाकर' संपादित हम्मीर हठ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 6
17. हिंदी साहित्य का अतीत, भाग-2, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 18
18. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 389
19. हिन्दी में नीति काव्य का विकास, डॉ. रामस्वरूप शास्त्री, पृ. 571

षष्ठ अध्याय

रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त काव्य और कवि

हिंदी साहित्य के इतिहास में रीति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उत्तर मध्यकाल के नामकरण के क्रम में किया। आचार्य शुक्ल ने इस युग विशेष का नामकरण तथा सीमा निर्धारण रचना प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखकर किया। इस काल के काव्य की प्रमुख काव्यधारा का विकास कविता की रीति के आधार पर हुआ। आचार्य शुक्ल ने इसकी समय सीमा संवत् 1700 से 1900 तक मानी है। शाहजहाँ के शासन की समाप्ति और औरंगजेब के शासन के प्रारंभ से लेकर प्रथम स्वाधीनता संग्राम 1857 ई. तक यह काल माना जा सकता है। इस काल में मुख्यतः शृंगार रस प्रधान रचनाएँ हुईं और वे रचनाएँ प्रायः रीतिबद्ध श्रेणी की थीं। इसके अतिरिक्त इस काल में भक्तिकालीन काव्य धाराओं जैसे—संतकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामभक्ति काव्य, कृष्ण भक्ति काव्य, वीर काव्य तथा नीति उपदेश परक रचनाएँ भी लिखी गईं। कई कवियों ने टीका तथा अनुवाद साहित्य का भी सृजन किया। संगीत शास्त्र का भी सृजन हुआ साथ ही साथ राजदरबारों के मनोरंजन के लिए समस्यापूर्ति परक स्फुट काव्य भी लिखे गये। काव्य की यह प्रवृत्ति संवत् 1900 तक अनवरत साहित्य में मिलती रही, किंतु इसका मतलब यह नहीं कि संवत् 1900 के बाद रीतिकालीन प्रवृत्ति की रचनाएँ एकाएक बंद हो गईं और रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ कमजोर पड़ गईं। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार 'संवत् 1900 के लगभग शृंगार काल की कड़ी के गर्भ से आधुनिक काल की घड़ी घूमी और संवत् 1950 तक आते आते वह घूमकर आगे चली गई। संवत् 1975 तक उसने अपने को एकदम पृथक कर लिया। अतः संवत् 1900 से 1975 तक का काल अवसान काल या उपसंहार काल है।'[1]

रीतिकाल समृद्धि और विलासिता का काल है। इस काल में विलासिता का प्राधान्य और भक्ति तथा वैराग्य का क्रमशः अनादर प्रारंभ हुआ। नबाव, जागीरदार, राजा, महाराजा, सामंत सभी का उद्देश्य समृद्धि और विलासपूर्ण जीवनयापन तक ही सीमित होकर रह गया। उनकी मानसिकता का प्रभाव काव्य पर भी पड़ा क्योंकि उनमें से कुछ तो स्वयं कवि थे और कुछ कवियों के संरक्षक। इस प्रकार इस काव्य में

सांसारिक सुखों के योग पर ज़ोर दिया गया किंतु जीवन की क्षणभंगुरता को एकदम से भुलाकर नहीं बल्कि इस दृष्टि से कि जीवन का जितना समय सुख और आराम से बीत सके बिता लेना श्रेयस्कर है। 'सजावट शृंगार की एक अदम्य लिप्सा इस युग के साहित्य में प्रतिबिंबित है। उपासना के लिए जिन राम और कृष्ण का चरित्र भक्ति युग में अत्युत्कृष्ट रूप में चित्रित हुआ उनमें भी शृंगारिकता का आरोप कर शृंगारिक स्वरूप के उद्‌घाटन में प्रतिभा को लगाया गया। लोकैषणा का सीमित और योग्य रूप इस काल के यथार्थवादी धरातल का संकेत करता है पर यह यथार्थवाद सामाजिक क्रांति के बीज बोने वाले आधुनिक यथार्थवाद से भिन्न था। वह कला और कारीगरी का यथार्थ है चिंतना, ठेस, असंतोष की चिंगारी बिखेरने वाला यथार्थ नहीं। इस काल की कलात्मकं उपलब्धियों में एकरसता है विविधता नहीं।'[2]

रीतिकालीन विविध विषयक काव्य

इस युग में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दो श्रेणी के काव्य प्रणेता हुए। रीतिबद्ध कवि लक्षण ग्रंथों का निर्माण करते थे और रीति मुक्त कवि परंपरा से चली आ रही रीतिग्रंथ रचना से अलग हटकर शृंगारपरक मुक्तकों अथवा शृंगारेत्तर विषयों की रीति विहीन रचनाएँ करते थे। रीतिबद्ध कवियों ने तो जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मात्र लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया परंतु रीति मुक्त कवियों ने शृंगार के अतिरिक्त नीति उपदेशपरक, भक्ति और वीर काव्य भी लिखे। जिन वीर काव्यों का इस समय सृजन हुआ उनमें से कुछ के नाम हैं ' शिवा बावनी', 'द्रोण पर्व', 'संग्राम सार', 'जंगनामा', 'महाभारत' (सबल सिंह चौहान कृत), 'विजय मुक्तावली', 'नैषध चरित्र', 'रामाश्वमेध' आदि। भक्ति रचनाओं में चिंतामणि कृत रामायण, सुखदेव मिश्र कृत युगल रस माधुरी, नागरी दास कृत भक्ति मग दीपिका, जनक रासकिशोरी रमण कृत रामरस तरंगिणी और सीताराम सिद्धांत मुक्तावली, गिरधर दास कृत वामन कथामृत आदि प्रमुख हैं। डॉ. मनोहरलाल गौड़ ने इस काल के नीतिकार कवियों तथा उनकी रचनाओं की सूची इस प्रकार दी है—

कवि	रचनाएँ
कुलपति देव मिश्र	मुक्ति तरंगिणी
वृंद	वृंद सतसई
देव	नीति शतक
तोषनिधि	विनय शतक
वैताल	पुफटकल पद्य
गुरु गोविंद सिंह	सुनीति प्रकाश, बुद्धि सागर
महाराज विश्वनाथ सिंह	उत्तमनीति-चंद्रिका

गिरधर कविराज	फुटकल पद्य
सम्मन	फुटकल पद्य
घाघ	फुटकल पद्य
खुमान	नीति विधान
बाबा दीनदयाल गिरि	दृष्टांत तरंगिणी

रीतिकाल के पूर्व भक्तिकाल के अंतिम चरण की रचनाओं में रीतिकालीन तत्त्व दिखने लगे थे। रीति कवियों के मन में अतिशय शृंगारिक कविताएँ लिखने पर झिझक भी उत्पन्न होती थी, फिर भी जहाँ भक्त कवि राधाकृष्ण की आराधना में तन मन से डूबे हुए थे, वहीं रीति कवि राधाकृष्ण के स्मरण के बहाने शृंगारिक भावों की युगानुरूप अभिव्यक्ति करते जा रहे थे। प्रायः सभी रीति कवियों ने समय-समय पर भक्तिपरक उद्‌गार प्रकट किये हैं किंतु भक्त कवियों के नैतिक अवरोध को दूर कर दिया जाए तो भी भगवद्‌भक्ति संबंधी शृंगारिक भावनाओं को निर्बाध भाव से लौकिक शृंगार में परिणत किया जाने लगा। यद्यपि रीतिकालीन कवियों का मुख्य वर्ण्य विषय नायिका भेद, नख-शिख वर्णन अलंकार आदि का लक्षण उदाहरण देकर प्रस्तुत करना रहा है। फिर भी इस माध्यम से उन्होंने शृंगार का प्रतिपादन किया है। हिंदी में रीति साहित्य के विकास के अनेक कारण हैं एक कारण तो संस्कृत में रीति की विशाल परंपरा रही है, जिस समय भाष्य साहित्य का प्रारंभ हुआ उस समय भी संस्कृत में लक्षण या अलंकार ग्रंथों की रचना लिखी जा रही थी। दूसरा कारण भाष्य कवियों को प्राप्त राज्याश्रय है। अकबर ने सबसे पहले हिंदी कवियों को दरबार में आश्रय देकर हिंदी काव्य को प्रोत्साहन दिया और आगे चलकर राजपूताना रियासतों, ओरछा, नागपुर आदि में भाष्य कवियों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और इन्हीं हिन्दू और मुसलमान दोनों दरबारों में प्रतिष्ठा मिली। इनकी कृतियों को सराहा, नवाजा गया। ऐसी स्थिति में अपनी छोटी सी कविता से अपने आश्रयदाताओं की शृंगार लिप्सा को उद्दीप्त करने और प्रचुर पुरस्कार प्राप्त करने की दृष्टि से वे सद्य प्रयत्न किया करते थे। इसके लिए वे यदि वे प्रबंध विद्या अपनाते तो उन्हें सुनने का धीरज न तो आश्रय दाताओं के पास था और न सभासदों को ही, ऐसी स्थिति में मुक्तकों को अपनाना कवियों को श्रेयस्कर लगा। इस प्रकार के काव्य रूप लघु रसात्मक खण्ड दृश्यों के चित्रण में अधिक सपफल होते हैं।'[3]

रीतिकाल में ऐसे काव्य भी लिखे गये जो शास्त्रीय बंधन या परिपाटी से मुक्त थे। वस्तुतः रीति काव्य कविता का एक शुद्ध कलापथ था। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य शिल्प और काव्य सौष्ठव के विवेचन के लिए जो सिद्धांत और लक्षण विकसित किये थे उन्हीं के आधार पर लक्षणों सहित अथवा लक्षण रहित जो काव्य रचना की गई उसे रीति काव्य कहा गया। रीतिबद्ध काव्यशास्त्र–काव्य है और उसके लेखक

प्रायः आचार्य कवि हैं, परंतु जिन्होंने लक्षण बताये बिना मुख्य रूप से अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, नायिका भेद, षट ऋतु, बारहमासा आदि के वर्णन को लेकर अपना काव्य प्रस्तुत किया, उन्हें भी हम परंपरा का काव्य कहते हैं।

यद्यपि रीतिकाल में रीतिबद्ध रचनाओं की अधिकता रही फिर भी इस काल में रीति मुक्त काव्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया। इस प्रकार काव्य लिखने के अनेक कारण थे। पहला कारण तो यह था कि अनेक कवि शास्त्रीय परंपरा में बंध कर काव्य रचना करना अपनी प्रतिभा का हनन समझते थे। उनके मन मेंअपनी कवि प्रतिभा को बाँधने के विरुद्ध एक विद्रोह भावना थी। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की भावना योरप में क्लासिकल या शास्त्रीय परंपरा के विरोध में पनपी और जिसके परिणामस्वरूप योरप का स्वच्छंदतावादी काव्य प्रकट हुआ।'[4] इस प्रकार की भावना को लेकर रचना करने वाले कवि मुख्यतः प्रेम और शृंगार के कवि हैं इन कवियों के मन में शास्त्रीय काव्य परंपरा तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना थी। अतएव इन्होंने दोनों ही प्रकार के बंधनों को तोड़कर प्रेम और शृंगार की रचनाएँ कीं और इस तरह रीतिमुक्त काव्य का नामकरण इन्हीं की रचनाओं के आधार पर हुआ माना जा सकता है।

पहले कहा जा चुका है कि यह युग मुख्यतः शृंगार प्रधान था। इसका सीधा प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। इस काल की रचनाएँ युगीन परिवेश का दर्पण बन गयी। इस युग के कवि प्रायः राज्याश्रित थे। भारत में जनसामान्य की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो चुकी थी। अतः जनसाधारण के बीच रहने वाले उन कवियों का राजदरबारों की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक था। जहाँ न केवल उन्हें आर्थिक संबल भी मिलता था। उस युग में अपने आश्रयदाता के विरुद्ध सोचा ही नहीं जा सकता था। 'वह एकतंत्र शासन शक्ति और दण्ड के बूते पर चलता था और जनता भय और आतंक से पूर्ण थी .... ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति को ही प्रसन्न करने से काम पूरा हो जाता था।'[5]

रीतिकालीन कवियों ने अपनी आँखों से दरबार और हरम की शृंगार लोलुपता और तत्संबंधी प्रयासों को देखा था। आश्रयदाताओं को उनके शृंगारिक पिपासा को शांत करने की दृष्टि से लिखे गये काव्य द्वारा प्रसन्न करना इन कवियों को खूब आता था। उन्होंने लक्षण और लक्ष्य दोनों माध्यम से यह कार्य द्वारा किया। विषय की दृष्टि से ऐसी रचनाएँ चार तरह की हैं—रस विषयक, अलंकार विषयक, विविध काव्यांग विषयक और पिंगल निरूपक। ऐसे ग्रंथों के रचयिताओं को विद्वानों ने रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी में रखा है। इन रीतिबद्ध कवियों ने ऐसी रचनाएँ भी की हैं जिनमें लक्षण बद्ध रूप में शास्त्रीय पक्ष में विचार नहीं किया गया है। इन ग्रंथों में केवल उदाहरण अथवा लक्ष्य वाले अंश को ही प्राथमिकता दी गई है किंतु इसमें संदेह नहीं कि इन उदाहरणों की रचना करते समय कवियों का ध्यान उनके लक्षण वाले अंश पर

अवश्य ही रहा होगा। इस कोटि में बिहारी सतसई, मतिराम सतसई, रसनिधि कृत रतन हजारा, रामसहाय कृत रामसतसई आदि के नाम सर्वाधिक उल्लेख्य हैं। चाहे रीतिबद्ध काव्य प्रणेता रहे हों चाहे रीति सिद्ध रहें हो या चाहे रीति मुक्त काव्य प्रणेता, सभी ने शृंगार को ही चुना। जो कि तत्कालीन परिवेश की प्रमुख माँग थी।

रीतिकाव्य का वर्गीकरण

रीतिकालीन काव्य को काव्य प्रवृत्ति एवं रचना-पद्धति के आधार पर स्पष्ट रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—1. रीतिबद्ध काव्य, 2. रीतिसिद्ध काव्य तथा 3. रीतिमुक्त काव्य। इनमें से रीतिमुक्त कवियों के संबंध में तो कोई विवाद नहीं है, किंतु रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि रीतिबद्ध कवि रीतिसिद्ध भी थे और रीतिसिद्ध कवि रीतिबद्ध भी थे। अतः इन्हें दो पृथक्-पृथक् वर्गों में रखना उपयुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त डॉ॰ नगेन्द्र लक्षण उद्धारणों से युक्त ग्रंथों को रीतिबद्ध कहने के पक्ष में नहीं हैं। वे रीतिबद्ध कवियों को रीतिकार या आचार्य कवि के नाम से संबोधित करते हैं क्योंकि इनका उद्देश्य काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए रीतिग्रंथों का प्रणयन करना था। यहाँ हम रीतिकाव्य का विवेचन उपर्युक्त तीन वर्गों के आधार पर कर रहे हैं।

रीतिबद्ध काव्य

रीतिबद्ध कवियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—शास्त्र कवि और काव्य कवि। चिंतामणि, केशव, जसवंत सिंह, तोष, मतिराम, भूषण, कुलपति, सुखदेव, देव, सूरति मिश्र, कुमार मणि, श्रीपति, सोमनाथ, गोविंद, रसलीन, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर, प्रतापसाहि, बेनी प्रवीन, आदि लक्षण लक्ष्यबद्ध ग्रंथों के निर्माता होने के कारण रीति शास्त्रीय कवि हैं और बिहारी आदि लक्ष्य ग्रंथों के निर्माता होने के कारण रीति काव्य कवि। अनेक कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने दोनों प्रकार की रचनाएँ की। उदाहरण के लिए कुलपति ने 'रस रहस्य' के साथ ही नख शिख की भी रचना की। इसी तरह देव ने भी एक तरफ शब्द रसायन, सुख सागर तरंग आदि ग्रंथों के साथ ही देव शतक जैसी रचना भी की। आचार्यों ने लक्षण ग्रंथों के क्रम में रस विषयक अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें शृंगार रस के आलंबन के रूप में नायक-नायिका के भेदों का विस्तृत विवेचन है। कुछ ग्रंथों में शृंगारेतर रसों को भी स्थान मिला है किंतु अत्यल्प मात्रा में। 'सुधा रस निधि' (तोष) 'रसराज' (मतिराम), 'रसविलास' तथा 'सुखसागर तरंग' (देव) 'रस सारांश' तथा 'शृंगार निर्णय' (भिखारीदास) 'नव रस तरंग' (बेनी प्रवीन), 'जगद्विनोद' (पद्माकर), 'रस प्रबोध' (रसलीन) 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (प्रतापसाहि) आदि प्रमुख रस निरूपक ग्रंथ हैं। अलंकार ग्रंथों में 'शिवराज

भूषण' (भूषण), 'भारत भूषण' (गिरिधरदास) 'रसिक मोहन' (रघुनाथ), 'अलंकार पंचाशिका' (मतिराम) 'अलंकार चंद्रोदय' (रसिक कवि) 'कर्णाभरण' (गोविंद कवि) 'पद्माभरण (पद्माकर) आदि का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। पिंगल निरूपक (छंद शास्त्रीय) ग्रंथों में केशवदास का 'छंद माल', नंद किशोर का 'पिंगल प्रकाश', मतिराम का 'छंद सार', माखन का 'श्रीनाग पिंगल छंद विलास', दशरथ का 'वृत्त विचार' और हरिदेव का छंद पयोनिधि' प्रमुख है।

केशव

रीतिकाल के प्रमुख आचार्य और कवि केशवदास ने संवत् 1648 में रसिक प्रिया की रचना की।[6] यह ग्रंथ मुख्यतः श्रृंगाररस से संबद्ध है। इसमें 16 प्रकाश हैं। प्रथम तेरह प्रकाशों में श्रृंगार रस का सांगोपांग निरूपण है। चौदहवें प्रकाश में श्रृंगारेतर रसों का, पंद्रहवें प्रकाश में कौशिकी आदि चार वृत्तियों का और अंतिम प्रकाश में अनरस नाम से पाँच रस दोषों का निरूपण किया गया है। इसमें चार प्रकार की नायिकाएँ बतलाई गई है—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी। हरिहर रचित श्रृंगार दीपिका में भी इन भेदों का निरूपण है। उदाहरणों की दृष्टि से इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि ये सभी राधा कृष्ण को ही आलंबन मानकर निर्मित किये गये हैं। ग्रंथ के आरंभ में नवरस में ब्रजराज नृत्य लिखकर आचार्य ने ग्रंथ के मूल उपाधि तत्त्वों की मानों घोषणा कर दी है। इस प्रक्रिया से दो बातें सिद्ध हो सकती हैं। एक यह कि केशव ने रूप गोस्वामी आदि भक्त आचार्यों का अनुमोदन करते हुए राधाकृष्ण के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। दूसरी यह कि इन्हें श्रृंगार रस को सब रसों का नायक माना है सर्वोपरि रस इसलिए भी मानना अभीष्ट है कि इसमें अन्य रस प्रकारांतर से अंतर्भूत हो जाते हैं।[7]

केशव का छंद संबंधी ग्रंथ है छंदमाला। इस पुस्तक में उदाहरण रामचंद्रिका से ग्रहीत है। ऐसा लगता है मानो इन्होंने रामचंद्रिका में विविध छंदों का प्रयोग छंद शास्त्र के उदाहरणस्वरूप ही लिए हैं। रीतिकाल के अंतर्गत आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं कवित्व की दृष्टि से केशव का स्थान श्लाघ्य है। मध्यकालीन साहित्य के अंतर्गत उन्हें प्रथम कवि माना जा सकता है जिन्होंने ब्रजभाषा के अंतर्गत मुक्तक काव्य के साथ प्रबंध काव्य की रचना का भी सूत्रपात किया। प्रबंधकाव्य में उनकी रामचंद्रिका अत्यंत प्रसिद्ध है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की जीवन गाथा वर्णित है। परंतु आज के विद्वान इसके महाकाव्यत्व को नकारते हैं और अपनी बात के समर्थन में तर्क देते हैं कि इसमें कथा का प्रवाह बाधित हुआ है और प्रसंगों का विस्तार और संकोच कवि ने स्वेच्छा से किया है। चरित्र चित्रण और भाषा शैली की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अव्यवस्थित है पिफर भी इसके महत्त्व को अस्वीकारना ठीक नहीं। भले ही स्थान-स्थान

पर किया गया छंद परिवर्तन इसके प्रवाह में व्यवधान पैदा करता हो, पर यह कवि की निजी काव्यशैली है काव्यदोष कम। 'रामचंद्रिका' के अतिरिक्त 'विज्ञान गीता', 'वीर सिंह देव चरित', 'जहाँगीर जस चंद्रिका' और 'रतन बावनी' इन चार प्रबंध काव्यों की भी रचना इन्होंने की है। जिसमें वीर रस की निर्वाहिका होने के कारण 'रतन बावनी' को विशेष आदर मिलता आया है।

चिंतामणि

रीतिबद्ध आचार्यों में दूसरा प्रमुख नाम चिंतामणि का आता है जो बहुत दिनों तक नागपुर में सूर्यवंशी भोंसला राजा मकरंद शाह के यहाँ रहे और उनके आदेश पर पिंगल नामक ग्रंथ रचा। इनके बनाये पाँच ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—'काव्य विवेक', 'कविकुलकल्पतरु' 'काव्य प्रकाश', 'रसमंजरी' और 'पिंगल और रामायण'। इनमें से प्रथम पाँच ग्रंथों का उल्लेख ठाकुर शिवसिंह ने किया है और अंतिम ग्रंथ का उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट में मिलता है। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास है किंतु दुर्भाग्यवश आज मात्र दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। पहला सर्वांग निरूपक 'कविकुल कल्पतरु' और दूसरा छंद शास्त्र से संबद्ध 'पिंगल और रामायण'। चिंतामणि सिद्धांततः रसवादी आचार्य हैं इसलिए इनकी कविता में रस विशेषतः शृंगार का सम्यक् आलोड़न हैं इसलिए इनकी कविता में रस विशेषतः शृंगार का सम्यक् आलोड्न है। इनकी रचना में न तो केशव की कठिनता है न बिहारी की सी लालित्य योजना, जिसके कारण इनकी रचनाएँ मतिराम के ज़्यादा निकट पहुँचती हुई जान पड़ती हैं। अपनी अनुभूतियों को सीधे सादे ढंग से व्यक्त कर देना इनका प्रमुख गुण है। महाराज रामसिंह के दरबारी कवि कुलपति मिश्र ने 'द्रोण पर्व', 'मुक्ति तरंगिणी', 'नख-शिख', 'संग्राम सार' और 'रस रहस्य' नामक पाँच ग्रंथों की रचना की, जिसमें से प्रथम चार तो साहित्य ग्रंथ हैं और पाँचवां काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। 'रस रहस्य' में शास्त्रीय सिद्धांतों को दोहा, सोरठा में प्रतिपादित किया गया है और उदाहरणों को कवित्त सवैया में। इस ग्रंथ के निर्माण में काव्य प्रकाश को आधार बनाया गया है और काव्य शास्त्र के गंभीर प्रसंगों की विस्तृत विवेचना इस ग्रंथ में मिलती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथ के काव्य लक्षणों पर आक्षेप प्रस्तुत किये हैं यह इनके गंभीर आचार्यत्व का परिचायक है। इन्होंने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'जग से अद्‌भुत सुख लोकोत्तर चमत्कार यह लक्षण काव्य का कहा है।'[8]

देव

देवदत्त अर्थात् देव कवि ने 18 ग्रंथों की रचना की है। 'भाव विलास',

'अष्टयाम', 'भवानी विलास', 'प्रेम तरंग', 'कुशल विलास', 'जाति विलास', 'देव चरित', 'रस विलास', 'प्रेम चंद्रिका', 'सुजान विनोद' या 'रसानंद लहरी', 'शब्द रसायन' या काव्य रसायन, 'सुख सागर तरंग', 'राग रत्नाकर', जगद्दर्शन पचीसी', 'आत्मदर्शन पचीसी', 'तत्वदर्शन पचीसी', 'प्रेम पचीसी' और 'देवमाया प्रपंच' (नाटक) इनके उपलब्ध ग्रंथ हैं। 'प्रेम चंद्रिका', 'राग रत्नाकर', 'देव शतक' के चारों भाग, 'देव चरित' और 'देवमाया प्रपंच' को छोड़कर शेष ग्रंथ काव्यशास्त्र से संबंधित ग्रंथ हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इनके प्राप्त प्रकाशित अप्रकाशित ग्रंथों की अद्यतन सूची 'हिंदी साहित्य के अतीत' नामक पुस्तक में दी है।[9] देव की रचनाओं का मुख्य प्रतिपाद्य श्रृंगार है। इसके अतिरिक्त तत्त्व चिंतन संबंधी रचनाएँ भी उन्होंने की हैं। उनकी रचनाओं में प्रेम का आवेग उनकी रस चेतना की गंभीरता का द्योतक है।

कल्पना वैभव का प्राचुर्य देव की रचनाओं में मिलता है। उनकी कल्पना शब्दों में मूर्तित होकर मनमस्तिष्क को सम्यक् संतुष्टि देने वाली है। भावानुरूप शब्दावली का प्रयोग उनकी विशेषता है।''[10] भावावेग की अभिव्यक्ति के समय वे प्रायः भावात्मक शब्दावली का प्रयोग करते हैं, जिससे सहृदय को उसकी अनुभूति अनायास ही हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा अपेक्षाकृत सदोष है, उसमें शब्दों को तोड़ मरोड़ और व्याकरण रूपों की अव्यवस्था है पर ऐसा उन्हें अपनी रचनाओं की सौंदर्य वृद्धि के लिए ही करना पड़ा—पुनरुक्ति, अनुप्रास आदि भाषा प्रसाधनों की योजना तथा छंद में लय के आग्रह को वे उपेक्षित नहीं कर सके। फिर भी काव्यगुणों को देखते हुए उनके ये दोष उपेक्षणीय हैं।

भिखारी दास और ग्वाल कवि का नाम लिए बगैर रीतिबद्ध शास्त्रीय आचार्यों की चर्चा अधूरी रह जायेगी। दास के सात ग्रंथ 'रस सारांश', 'काव्य निर्णय', 'श्रृंगार निर्णय', छंदार्णव पिंगल', 'शब्द नाम प्रकाश' 'विष्णु पुराण भाषा' तथा 'शतरंज शतिका' उल्लेख्य है। काव्य प्रकाश के आधार पर रस ध्वनि सिद्धांत की स्थापना इनका वैशिष्ट्य है। ध्यातव्य है कि ध्वनि के होने पर भी इनके काव्य में क्लिष्टता नहीं आने पायी है। शब्दावली संस्कृतनिष्ठ है और जहाँ कहीं भी आवश्यक लगा है अरबी, पंफारसी के शब्द भी निस्संकोच ले लिए गए हैं। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से ब्रजभाषा के कवियों में इनका प्रमुख स्थान है। ग्वाल कवि रीतिकाल के अंतिम चरण के कवि ठहराए गए हैं। इनके रचे नौ ग्रंथ माने जाते हैं—'रसिकानंद', 'कृष्ण जू को नखशिख', 'रसरंग', 'हम्मीर हठ', 'दूषण दर्पण', 'गोपी पच्चीसी', 'राधा माधव मिलन', 'राधा अष्टम', 'अलंकार भ्रम भंजन'। यद्यपि ग्वाल का काव्य भाव और उसकी अभिव्यक्ति की दृष्टि से उपादेय है, किंतु रीतिकाल के पूर्ववर्ती कवियों जैसा प्रतिभाज्य वैशिष्ट्य इनमें कम है।

इनके अतिरिक्त पदुमन दास, जनराज, जगतसिंह, चंद्रदास, यशवंत सिंह, कृष्ण

कवि, मतिराम, श्रीपति, सोमनाथ, सूरति मिश्र, कुमार मणि शास्त्री, प्रतापसाहि, बेनी प्रवीन, नंद किशोर चेतन, हरिदेव, मान कवि, गिरिधर दास आदि आचार्य कवि उल्लेखनीय हैं।

रीतिसिद्ध काव्य

रीतिसिद्ध काव्य के कवि वे हैं, जिन्होंने रीति-परंपरा में बंधकर लक्षण बताने वाले ग्रंथ तो नहीं लिखे परंतु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस परंपरा की मान्यताओं को ध्यान रखते हुए काव्य सृजन के क्षणों में उनका भरपूर उपयोग किया। रीति शास्त्र के ज्ञाता होकर भी ये रीति शास्त्र के रचयिता नहीं हैं। इस वर्ग के कवियों को शिक्षक या आचार्य बनने का मोह नहीं था, कवि होने में ही ये अपना सम्मान समझते थे। इस प्रकार रीतिबद्ध कवियों और रीतिसिद्ध कवियों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। रीतिबद्ध कवियों ने काव्यांगों के लक्षणों को प्रस्तुत करते हुए उनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जबकि रीतिसिद्ध कवियों ने लक्षण ग्रंथों से प्रेरणा लेते हुए काव्य-रचनाओं का सृजन किया है। रीतिबद्ध काव्य कवियों की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि वे कवित्व के लोभ में चमत्कारातिशयपूर्ण उक्तियाँ बाँधने में लीन रहते हैं, इस बात का उन्हें भय नहीं रहता कि यह उक्ति लक्षण विशेष के अनुकूल होगी या नहीं। लक्षण के घेरे में बंधे रहने वाले आचार्य कवियों में यह बात नहीं मिलती। जहाँ इन कवियों ने चमत्कार को अपनाया है और मार्मिक उक्तियाँ की हैं वहाँ लक्षण पीछे छूट गया है। रसाभिव्यक्ति के लिए स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्य-रचना भी रीतिबद्ध कवियों की विशेषता है। जीवन और जगत् के बाह्य एवं आभ्यंतर तल से अनुकूल सामग्री चयन कर कवित्व के पूर्ण परिपाक के साथ सरस उक्तियों की रचना करने की कला इन कवियों को सिद्ध थी। यदि लक्षण-रचना का दायित्व इन पर होता तो कदाचित् रस की ऐसी धारा ये प्रवाहित न कर पाते।[11] यहाँ रीतिबद्ध काव्य-कवियों से अभिप्राय रीतिसिद्ध कवि हैं। रीतिबद्ध कवियों ने संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों को अपना आधार बनाकर हिंदी में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण किया तथा रीतिसिद्ध कवियों ने संस्कृत की काव्यशास्त्रीय पद्धति को केवल पृष्ठभूमि में रखकर रससिक्त काव्य-रचनाओं का प्रणयन किया। रीतिबद्ध कवि आचार्यों के काव्य-ग्रंथों में कला पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया है, जबकि रीतिसिद्ध काव्य में कला एवं भावुकता का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। इन कवियों ने कला पक्ष के साथ भाव-पक्ष को भी समान रूप से महत्त्व प्रदान कर विलक्षण काव्य की सृष्टि की। अपनी इसी विशेषता के पफलस्वरूप रीतिसिद्ध कवियों का काव्य अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

प्रमुख रीतिसिद्ध कवि

रीतिसिद्ध कवियों की संख्या 13 मानी गई है। 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' के षष्ठ भाग में 10 कवियों की ही चर्चा की गई है, जो इस प्रकार हैं– 1. बिहारी, 2. बेनी, 3. कृष्ण कवि, 4. रस निधि 5. वृषशुभु, 6. नेवाज, 7. हठी जी, 8. रामसहाय दास 9 पजनेस तथा 10 द्विजदेव। किंतु डॉ. भगीरथ मिश्र आदि इतिहासकारों ने सेनापति, वृंद तथा विक्रम को भी इसी परंपरा की श्रेणी में रखा है।[12] कुछ कवियों का संक्षिप्त साहित्यिक परिचय इस प्रकार है–

सेनापति

इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'कवित्त रत्नाकर' है। कुछ इतिहासकारों ने 'काव्यकल्पद्रुम' को इनकी दूसरी कृति कहा है, किंतु यह रचना उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान 'कवित्त रत्नाकर' और 'काव्यकल्पद्रुम' को एक ही रचना स्वीकार करते हैं। 'कवित्त रत्नाकर में मूलत पाँच तरंगें और तीन सौ चौरानवे छंद हैं, जिनमें श्रृंगार, षडऋतु, रामायण और रामरसायन का विशद् वर्णन मिलता है। इसकी प्रथम तरंग में श्लेष अलंकार का सौंदर्य पराकाष्ठा पर दिखाई देता है। 'सेनापति का प्रिय अलंकार श्लेष है, इसीलिए इन्होंने पूरी-की- पूरी तरंग श्लेष अलंकार का चमत्कार दिखाने के लिए रची है। इनके ये श्लेष बड़े ही रोचक हैं–श्लेष की योजना में इनकी समता करने वाला केशव को छोड़कर अन्य कोई कवि नहीं है। सभंग-पद-श्लेष और अभंद पद-श्लेष दोनों का चमत्कार इसमें मिलता है।'[13] कवित्त रत्नाकर की दूसरी तरंग में श्रृंगार वर्णन के अंतर्गत नख-शिख सौंदर्य, उद्दीपन भाव, वयःसंधि के विविध चित्र अपने सौंदर्य की छटा बिखेर रहे हैं। तीसरी तरंग में ऋतु वर्णन का उत्कृष्ट रूप द्रष्टव्य है। 'सेनापति की अप्रतिम सफलता उनके उत्कृष्ट ऋतु वर्णन में है जिसमें यद्यपि शब्द और अर्थ का चमत्कार भरा पड़ा है, परंतु वर्णित ऋतु का सहज और यथार्थ उनके छंदों में बड़ा खरा उतरता है। प्रत्येक ऋतु में उठने वाले लोकमानस के सहज भाव भी ऋतु-वर्णन के छंदों में तरंगति हो उठते हैं।'[14] इसी रचना की चौथी और पांचवीं तरंग में राम के चरित्र और रामभक्ति भावना का वर्णन करते समय श्रृंगार, वीर, शान्त और भक्ति रस का सन्निवेश स्वयं हो गया है।

सेनापति का ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार था। उन्होंने लयबद्ध छंदों की सृष्टि करके अपने काव्य में ध्वनि-सौंदर्य के लालित्य-युक्त चित्रों की अद्भुत छटा उत्पन्न कर दी। ध्वनि के माध्यम से शब्दों में चमत्कार उत्पन्न करने में तो वे कुशलहस्त थे ही, उक्ति-वैचित्र्य में भी उनकी प्रतिभा एवं सूझ-बूझ को देखा जा सकता है।

बिहारी

बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी साहित्यिक ख्याति का मूल आधार इनकी अन्यतम रचना 'बिहारी-सतसई' है। यह 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'अमरुक शतक' आदि ग्रंथों की प्रेरणा से निर्मित एक विविध रत्नमाला है, जिसकी आभा के सामने आज भी कोई मुक्त काव्य ठहर नहीं पाता। मुक्तक परंपरा में बिहारी का स्थान शीर्ष पर है।[15] उन्होंने अपने दोहों में ग़ागर में सागर भर कर शृंगार रस के विलक्षण चित्र प्रस्तुत किए हैं। बिहारी मूलतः शृंगारी कवि हैं। शृंगार वर्णन में भी उनकी रुचि वियोगवर्णन की अपेक्षा संयोग वर्णन में अधिक रमी है। संयोग पक्ष की ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जो बिहारी की दृष्टि से बची हो। उन्होंने जीवन की विभिन्न स्थितियों का निरीक्षण अत्यंत पैनी दृष्टि से किया था, यही कारण है कि उनके युवा-वृत्तियों से युक्त चित्र मानस-पटल पर अमिट छाप अंकित करने में पूर्णतः समर्थ हैं। उन्होंने शारीरिक चेष्टाओं, विभिन्न कार्यकलापों, रूप सौंदर्य का चित्रण केवल भावुकता-वश नहीं किया अपितु इसमें उन्होंने जीवन के विभिन्न अनुभवों का उद्घाटन भी सहज रूप से कर दिया है। विप्रलंभ शृंगार के चार भेदों—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा—के भी विभिन्न चित्र 'बिहारी सतसई' में उपलब्ध होते हैं। इसमें मानव-मन की सूक्ष्म दशाओं का मनोहारी रूप दृष्टिगोचर होता है। विरह-वर्णन में बिहारी अतिशयोक्तिपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप ऊहात्मक शैली में चित्रित विभिन्न चित्र औचित्य की सीमा को लांघ कर बाहर निकल गए हैं। विरह संतप्त नायिका की दशा का एक चित्र द्रष्टव्य है -

इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ।
सीरे जतनन सिसिर ऋतु, सहि बिरहिन तन ताप।
बसिबै को ग्रीषम दिनन, पर्‌यो परोसिन पाप ॥[16]

संभवतः इसी प्रकार के चित्रों को देखते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आंका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष में समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बेटू देख घंटों 'वाह-वाह' किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लया या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूंजती रहे।'[17] किंतु कुछ दोहों को दृष्टि में रखकर किसी साहित्यकार का मूल्यांकन करना उचित प्रतीत नहीं होता। सतसई में मात्र शृंगारिक

भाव से प्रेरित अनौचित्यपूर्ण दोहे ही व्याप्त नहीं है, वरन् जीवन के प्रौढ़ अनुभवों से सिक्त प्रभावशाली दोहे अपनी उत्कृष्टता की झलक देते हुए अधिक दिखाई देते हैं। चूँकि बिहारी राजाश्रय में रहने वाले कवि थे, अतः दरबारी वातावरण एवं शासक की रुचि के अनुकूल चित्र प्रस्तुत करना उनके लिए अनिवार्य भी था। उन्होंने यदि संयोग शृंगार के बहुमुखी चित्र प्रस्तुत करके शासकों को प्रसन्न किया था तो वहीं अपने दोहों के माध्यम से विलास में डूबे शासक को उपदेश देकर सतर्क भी किया था। इस संदर्भ में उनका निम्न दोहा तो अत्यधिक प्रसिद्ध है -

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली, कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाल ॥[18]

ब्रजभाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। भाव के अनुरूप शब्द को मोड़ने, तोड़ने, चमकाने, सँवारने में वे कुशलहस्त थे। साहित्यिक ब्रजभाषा का अत्यंत प्रौढ़ एवं शुद्ध रूप सबसे पहले इन्हीं की भाषा में इतने निखार के साथ दिखाई देता है। इनकी ब्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ अरबी, फारसी के इजाफा, ताफता, बिलषी, कुतुबनुमा, रोज़ इत्यादि शब्दों का भी बहुलता से प्रयोग हुआ है। यद्यपि बिहारी रीतिबद्ध कवि नहीं थे पिफर भी वे काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों से पूर्णः परिचित थे। सतसई में उन्होंने अलंकार, रस, भाव, नायिकाभेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि को दृष्टि में रखकर ही सुंदर दोहों की रचना की है। बिहारी ने मात्र एक ग्रंथ की रचना करके ही कवियों की लंबी कतार में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। यह बात साहित्य क्षेत्र में इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा करती है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं में परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। गुणक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं है।'[19]

रसनिधि

रसनिधि की प्रसिद्धि का कारण इनकी रचना 'रतनहजारा' है, जो बिहारी सतसई की पद्धति पर लिखी गई है। इस रचना के वर्ण्य विषय और अभिव्यंजना शैली पर बिहारी की शृंगार भावना की छलक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। 'रतनहजारा' के अतिरिक्त इनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं—विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, रसनिधि सार, गीतिसंग्रह, अरिल्ल तथा हिंडोला आदि। रसनिधि मूलतः शृंगारी कवि थे। 'फारसी शायरी की शैली तथा सूपफी परंपरा से प्रभावित होकर इन्होंने रीति परंपरा के अनुरूप शृंगार के विविध चित्र प्रस्तुत किए। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में 'रसनिधि प्रेमी स्वभाव के रसिक कवि थे। शृंगार वर्णन ही इनका मुख्य विषय था। इन्होंने रीतिबद्ध लक्षणग्रंथ न लिखकर फारसी शायरी की शैली पर इश्क की विविध भावनाओं

और चेष्टाओं का विस्तार किया है। मौलिक प्रतिभा का अभाव होने पर भी शृंगारी कविता के लिए इनके मन में पर्याप्त उत्साह था और शृंगारी कवि को जिस मस्ती और मन की तरंग की आवश्यकता होती है वह आपके पास प्रचुर मात्रा में थी।[20] रसनिधि पर वैष्णव भक्ति का भी प्रभाव था, जिसके फलस्वरूप उनके काव्य में आत्म-तत्त्व की व्यापकता लक्षित होती है। रूप वर्णन, अलंकारों के विविध प्रयोग एवं शृंगारिक प्रवृत्ति की दृष्टि से इनकी तुलना बिहारी और मतिराम से की जाती है।[21] इस प्रकार कहा जा सकता है कि रसनिधि की काव्य रचनाएँ रीतियुगीन प्रवृत्तियों का ही आगार है।

वृंद

वृंद कवि की छः रचनाएँ रीतिसिद्ध काव्य के अंतर्गत आती हैं। ये रचनाएँ हैं—बारहमासा, भावपंचाशिका, नयन पचीसी, पवन-पचीसी, शृंगार शिक्षा तथा यमक सतसई। 'बारहमासा' में बारह महीनों का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'भावपंचाशिका' शृंगार के विविध भावों से संबंधित प्रमुख रचना है। नायिका भेद के आधार पर आभूषणों से युक्त नायिकाओं का चित्रण 'शृंगार शिक्षा' का वर्ण्य विषय हैं। 'नयन पचीसी' में नयनों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए नखशिख, राग-रंग और विरह के चित्रों को प्रस्तुत करने में कवि की वृत्ति अधिक रमी है। 'पवन पचीसी' में पच्चीस छप्पय छंदों के अंतर्गत वसंत, ग्रीष्म वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। 'यमक सतसई' में 715 छंद हैं, जिनमें यमक अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किए बिना उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

बेनी

इनके कुछ फुटकर कवित्त सवैये मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्होंने नखशिख और षट्ऋतु विषय शृंगारिक काव्य की रचना की थी। इनकी मनोवृत्ति आलंकारिका, ललित एवं उक्ति वैचित्र्यपूर्ण भाषा की ओर अधिक थी। उक्ति चमत्कार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

करि की चुराई चाल सिंह की चुराई लक,
सति को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिफर पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन,
दसन अनार हाँसी गूजरी गंभीर की।
कहै कवि 'बेनि बेनि त्याल की चुराइ लीनी,
रती रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तो कन्हैया जू को चित्त हू चुराइ लीनो
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की।[22]

इन्होंने शृंगार के अतिरिक्त भक्ति एवं नीति संबंधी भी कुछ छंदों की रचना की थी।

भक्त शिरोमणि तुलसीदास की प्रशंसा करने के साथ राधा-कृष्ण की वंदना संबंधी भी कुछ छंद प्राप्त होते हैं। इनकी भाषा में मुहावरों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है।

इन कवियों के अतिरिक्त नृप शम्भु की 'बुधभूषण', 'नायिका भेद' 'नख शिख' और 'सात दशक'[23], नेवाज की 'शकुन्तला नाटक'[24], कृष्ण कवि की 'बिहारी सतसई की टीका' और 'विदुर-प्रजागर'[25], हठी जी की 'श्रीराधा सुधाशतक'[26], विक्रमादित्य की 'विक्रम सतसई' और 'ब्रजलीला'[27], रामसहाय की 'राम सतसई, वाणी भूषण, वृत्ततरंगिणीं और ककहरा'[28] तथा पजनेस की पजनेस प्रकाश[29] रीतिसिद्ध काव्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनमें रीति परंपरा का अनुसरण करते हुए मुख्य रूप से शृंगार रस का ही विवेचन किया गया है।

रीतिमुक्त काव्य

रीतिकाल में रीतिबद्ध कवियों और रीतिसिद्ध कवियों से भिन्न अनेक ऐसे कवि भी हुए हैं, जिन्होंने न तो केशव,मतिराम की तरह काव्यांगों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए हैं और न ही सेनापति, बिहारी की तरह काव्यशास्त्रीय परंपरा को पृष्ठभूमि में रखकर काव्य रचना की है। विषय और प्रस्तुतिकरण की नवीनता के कारण ये कवि 'रीतिमुक्त' कवियों के नाम से विख्यात हुए। इस परंपरा के कवि रीति-परंपरा के साहित्यिक बंधनों एवं रूढ़ियों से पूर्णतः मुक्त होकर अपने प्रेम की पीर, वेदना, पीड़ा को स्वच्छंद रूप से अभिव्यक्त करते थे। साथ ही इन्होंने भक्ति, नीति तथा वीर रस प्रधान कविताओं की रचना करके भी अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिचय दिया। इन कवियों की प्रेम भावना उदार, गहरी एवं व्यापक है। प्रेमी के प्रेम की एकनिष्ठता तथा अनन्यता को उजागर करना ही इन कवियों का मूल उद्देश्य था। लेकिन यह धारा रीतिबद्ध काव्यधारा से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं थी। दोनों वर्गों के कवियों के समक्ष परंपरा से चली आ रही एक पुष्ट काव्य पद्धति थी, जिसे विस्मृत कर पूर्णतः उससे मुक्त हो जाना संभव नहीं था। रीतिबद्ध कवियों के समान रीतिमुक्त कवि भी सामंतीय वातावरण में रहकर अपना जीवनयापन कर रहे थे। मतिराम, बिहारी आदि के समान घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि राज्याश्रित कवि थे। दोनों धाराओं के कवियों ने राधा-कृष्ण को अपने काव्य के नायक-नायिका के रूप में ग्रहण कर अपने भावों को अभिव्यक्त किया। रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त कवियों ने चाहे परंपरा में बंधकर और चाहे परंपरा से विच्छिन्न होकर नायक-भेद, नख-शिख वर्णन, बारहमासा तथा ऋतु-वर्णन से संबंधित पद्यों की रचना की तथा अभिव्यक्ति के लिए

कवित्त-सवैया शैली का ही अनुकरण किया था।

इन समानताओं के होते हुए भी रीतिमुक्त काव्य भावगत एवं कलागत दोनों दृष्टियों से रीतिबद्ध काव्य से भिन्न है। इनकी विशिष्टता इस बात में है कि इन्होंने एक ओर तो साहित्यिक परंपराओं का विद्रोह किया तथा दूसरी ओर काव्य में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करके क्रांतिकारी दृष्टिकोण को अपनाया। इन कवियों का उद्देश्य रीति-ग्रंथों का निर्माण करना नहीं था अपितु अपने हृदय के भावों को सहज रूप से अभिव्यक्त करने के लिए इन्होंने आत्माभिव्यक्ति की पद्धति को ग्रहण किया। यही कारण है कि इनकी काव्य-रचनाओं में भावों का सहज एवं स्वाभाविक उन्मेष तथा रस का उन्मुक्त प्रवाह दृष्टिगत होता है। रीतिबद्ध कवियों के समान इन कवियों का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण माँसल एवं शरीरी नहीं है, वरन् इन कवियों की धारणा थी कि प्रेम के मार्ग में किसी चतुराई, छलकपट या बौद्धिकता की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि प्रेम का मार्ग तो अत्यंत सरल होता है। इसीलिए कहा भी गया है—अति सूधो सनेह को मारण है जहाँ नेकु सयानपन बाँक नहीं। ये कवि प्रेम के मार्ग में लोकलाज या रूढ़िगत बंधनों की चिंता नहीं करते थे। इसका एक कारण यह लगता है कि इनका काव्य वैयक्तिक अनुभूतियों से युक्त था। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इन्होंने प्रेम के अनुदात्त स्वरूप को अपनाकर उच्छृंखल कीड़ाओं का चित्रण किया हो। इन्होंने प्रेम के स्वच्छंद रूप को ग्रहण करते हुए भी उसका चित्रण उदाता की सीमा में ही किया है।

रीतिमुक्त कवियों का प्रेम व्यथा से युक्त था, इसीलिए इन्होंने 'संयोग शृंगार की अपेक्षा वियोग पक्ष की मार्मिक अभिव्यक्तियां अधिक मनोयोग के साथ प्रस्तुत की हैं। इस धारा के कवि अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी-न-किसी से प्रेमाहत हुए थे, अतः इन्हें अपनी प्रेम-व्यथा का वर्णन करने में मुक्ति जैसा अनुभव हुआ होगा। हिंदी की लौकिक काव्य परंपरा में यह शैली नवीन है। फारसी का प्रभाव इसमें कारण हो सकता है, क्योंकि वहाँ प्रेम-व्यंजना प्रायः उत्तम पुरुष की भाषा में की जाती है।[30] इन कवियों का हृदय व्यक्तिगत विरहाग्नि में पिघल कर सोने की भाँति उज्ज्वल हो गया था। अतएव इनके काव्य में कहीं प्राणों की व्यथा है तो कहीं प्रेम की तड़प, कहीं हृदय की व्याकुलता है तो कहीं नेत्रों की विवशता, कहीं निराशा है तो कहीं वेदना, कहीं करुणापूर्ण उपालम्भ है तो कहीं दैन्य-निवेदन। रीतिमुक्त कवियों की प्रेम संबंधी धारणा रीतिबद्ध कवियों से भिन्न है। इनके प्रेम में उदात्तता है, रीतिबद्ध कवियों जैसी ऐन्द्रिय वासना नहीं। प्रेमी वियोग की व्यथा सहकर भी प्रिय की कुशल-कामना करता है; उसके लिए त्याग करता है और अंतिम श्वास तक उसी का स्मरण करता रहता है। प्रिय नहीं प्राप्त होता तो भी प्रेमी के प्राण प्रिय का संदेश लेकर बाहर निकलना चाहते हैं। वेदना को प्रेमी अपना भाग्य समझता है, मौन होकर उसे सह लेता

है—किसी से कहता नहीं। घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर सभी इस विषय में एक-सी धारणा लिये हुए हैं। प्रेम की अनन्यता के भाव इन कवियों ने बड़ी दृढ़ता और मार्मिकता के साथ बार-बार व्यक्त किए हैं। यह प्रेम भावनात्मक है।[31]

प्रेम की पीर को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त इन्होंने भक्ति एवं नीति संबंधी पद्यों की रचना भी की थी। कुछ विद्वानों का मत है कि व्यक्तिगत जीवन में प्रेम में विफल हो जाने के फलस्वरूप इन कवियों का ध्यान कृष्ण भक्ति की ओर उन्मुख हो गया था। वैसे तो समस्त रीतिकालीन कवियों के संदर्भ में कहा जाता है कि आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई, न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है। किंतु केवल राधा-कृष्ण का नाम-मात्र लेने से ही कोई भक्त कवि नहीं बन जाता और न ही कोई रचना भक्ति-प्रधान हो जाती है। लेकिन इतना अवश्य है कि रसखान तथा घनानंद भक्ति संप्रदाय में दीक्षित अवश्य थे, किंतु फिर भी वे सुजान को विस्मृत नहीं कर पाए थे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद इस संदर्भ में कहते हैं कि 'इनकी रचना के प्रायः तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में इनकी रुचि रीतिबद्ध रचना की ओर दिखाई देती है, जिसमें इनकी ऐसी रचनाएँ आती हैं जिनमें इन्होंने काव्यक्षेत्र में अपनी वाणी की परख या जाँच की है। दूसरे खण्ड में इन्होंने रीतिबद्ध रचना का परित्याग कर दिया है और स्वच्छंद रूप से प्रेम के पवित्र क्षेत्र में पदार्पण किया है। तीसरे खण्ड में इनकी रचनाएँ भक्तिपरक हो गई हैं।'[32]

रीतिमुक्त कवि कला की सजावट पर ध्यान देने की अपेक्षा भाव-पक्ष को संवारने के पक्ष में थे। रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध कवियों के समान न तो इनकी भाषा में अंग-भंग की प्रवृत्ति है और न ही प्रादेशिक पुट। लोकोक्तियों, मुहावरों एवं उक्ति वैचित्र्य से सजी-संवरी ब्रजभाषा ही इनकी काव्य-भाषा की विशिष्टता है। मुक्तक शैली का प्राधान्य होने पर भी फुटकर रूप से कुछ प्रबंध-रचनाएँ उपलब्ध हो जाती है। रीतिमुक्त काव्य में अलंकार का प्रयोग अत्यंत सहज रूप में हुआ है। आलोच्य वर्ग के कवियों ने पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। बल्कि हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों के उद्घाटन में ये स्वयंमेव काव्य के सहायक बन गए हैं। समग्रतः रीतिमुक्त कवियों की विशिष्टता उनकी स्वच्छंदता में है, सहज वेदनाभिव्यक्ति में है, रूढ़ियों के तिरस्कार में है, प्रेम की तन्मयता एवं गहनता में है।

प्रमुख रीतिमुक्त कवि

अनुभूति और भावना को आधार बनाकर स्वच्छंद रूप से काव्य रचना करने वाले कवियों में घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर तथा द्विजदेव आदि कवियों का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। इन रीतिमुक्त कवियों का साहित्यिक परिचय इस प्रकार हैं :

घनानंद

रीतिकाल के समस्त कवियों में से घनानंद की गणना रसमूर्ति कवियों की श्रेणी में की जाती है। भावात्मकता, वक्रता, लाक्षणिकता, आत्माभिव्यक्ति, मार्मिकता, स्वच्छंदता आदि सभी रीतिमुक्त काव्य की विशेषताएँ घनानंद के काव्य में अपने चरम वैभव के साथ व्याप्त हैं। इनकी प्रतिष्ठा का मूल आधार 'सुजानहित' है, जो उनकी स्वभुक्त प्रेमगाथा है। कुल मिलाकर इनकी 31 रचनाएँ हैं[33], जिनमें प्रेम और भक्ति का सागर हिलोरे लेता हुआ दिखाई देता है। चूँकि इन्होंने प्रेम की पीर को स्वयं भोगा था, अंतः इनके वर्णनों में हार्दिकता पीड़ा, संयोग में वियोग और वियोग में संयोग की अनुभूतियों का परिपाक सुंदर ढंग से हुआ है। वास्तव में घनानंद विरह के कवि हैं। इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत है कि यद्यपि इन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है पर वियोग की अंतर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है। इसी से इनके वियोग संबंधी पद्य ही प्रसिद्ध हैं। वियोग वर्णन भी अधिकतर अंतर्वृत्ति निरूपक है, बाह्यार्थ निरूपक नहीं। घनानंद ने न तो बिहारी की तरह विरह-ताप को बाहरी मान से मापा है, न बाहरी ऊदल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर है—बाहर से वह वियोग प्रशांत और गंभीर है, न उनमें करवटें बदलना है, न सैज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी 'मौन मधि पुकार' है।[34] इस प्रकार इनकी विरह-वेदना स्वाभाविक एवं अकृत्रिम है। इन्होंने प्रेम का शास्त्रीय पद्धतियों में बंधकर निरूपण नहीं किया। शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना रखते हुए इनका प्रेम लौकिक रीति से आरंभ होकर राधा-कृष्ण की भक्ति में अपना विस्तार पाता है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि ये भक्त कवि थे। घनानंद मूलतः श्रृंगारी कवि थे। इनका प्रेम परंपरागत रीतिकालीन वासनात्मक प्रेम से पूर्णतः भिन्न था। उनके प्रेम में एकपक्षीयता अधिक है, यही कारण है कि प्रेम की सात्विकता से जुड़कर इन्होंने प्रतिदान की कामना कभी नहीं की। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिंदी के अन्य श्रृंगारी कवि में नहीं। इस दशा का पहला स्वरूप है हृदय या प्रेम का आधिपत्य और बुद्धि का अधीन पद, जैसा कि घनानंद ने कहा है—'रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी है करि दासी।'[35]

घनानंद के प्रेम काव्य का आलंबन उनकी प्रेमिका 'सुजान' है। जिसके बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ मानसिक सौंदर्य का चित्रण भी घनानंद ने अत्यंत तन्मयता से किया है। उसके नख-शिख सौंदर्य का उद्घाटन करते हुए ये वर्णन कहीं भी कृत्रिम या चमत्कारिक नहीं हुए हैं। उन्होंने सुजान की शोभा, लावण्य, सुकुमारता तथा स्वभाव का भी चित्रण प्रभावशाली ढंग से किया है। किंतु प्रेमिका की उपेक्षा पाकर घनानंद राधा-कृष्ण की भक्ति और उन्मुख हुए। मानसिक रूप से लौकिक जीवन से विमुख होकर इन्होंने धन-दौलत, ऐश्वर्य आदि की कटु शब्दों में आलोचना की।

घनानंद की काव्य रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रौढ़ एवं विकसित रूप दिखाई देता है। ब्रजभाषा की मधुरता, लालित्य, व्यंजकता और भाववक्रता आदि सभी विशेषताएँ घनानंद के काव्य में अपने पूर्ण वैभव एवं सौंदर्य के साथ प्रस्फुटित हुई हैं। घनानंद की काव्य-भाषा की विशिष्टता को उजागर करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं बंधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे।[36] इनकी भाषा में संस्कृत के शब्दों के अतिरिक्त तद्भव, पफारसी और पूर्वी भाषाओं के शब्दों का अद्भुत मेल दृष्टिगोचर होता है। छंदपूर्ति तथा आवश्यकता पड़ने पर नए शब्दों को गढ़ने में भी ये कुशलहस्त थे। घनानंद की भाषा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी लाक्षणिकता है। डॉ. मनोहरलाल गौड़ के शब्दों में, लक्षणा में शब्दों का ऐसा चातुर्यपूर्ण प्रयोग होता है कि वाक्य में एक का धर्म दूसरे में आरोपित हो जाता है। इससे भाषा की शक्ति दुहरी हो जाती है और चित्रात्मकता बढ़ जाती है। घनानंद ने इस दिशा में काव्य-सौंदर्य ही नहीं, भाषा की क्षमता के भी नये आयाम खोले।[37] इस प्रकार कहा जा सकता है कि घनानंद का काव्य भाव पक्ष एवं कला पक्ष की दृष्टि से रीतिमुक्त काव्य की श्रेणी में अक्षुण्ण स्थान का अधिकारी है।

आलम

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने दो 'आलम' कवियों का उल्लेख किया है। एक अकबर के समकालीन हैं, उन्होंने 'माधवानल कामकन्दला' की रचना की थी। दूसरे रीतिमुक्त काव्य के प्रमुख कवि हैं, जिनकी रचना 'आलमकेलि' है। किंतु पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि विद्वान इन दोनों कवियों को एक ही मानते हैं। वस्तुतः आज रीतिमुक्त काव्य परंपरा में जिस आलम कवि का उल्लेख किया जाता है, उनकी चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—माधवानल-कामकंदला, स्याम स्नेही और सुदामाचरित प्रबंध काव्य हैं तथा 'आलमकेलि' मुक्तक काव्य संग्रह है। इनके छंदों में स्थान-स्थान पर रीति-परंपरा के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं जैसे इन्होंने नायिका भेद आदि का निरूपण किया है। किंतु मात्र कुछ कवित्त सवैयों के आधार पर इन्हें रीतिबद्ध कवि नहीं कहा जा सकता। इनके कावय में घनानंद जैसी स्वच्छंदता तो दृष्टिगत नहीं होती परंतु इनकी प्रेमानुभूति व्यक्तिगत होने के कारण घनानंद की भाँति मार्मिक एवं स्वाभाविक अवश्य है। इनका काव्य स्थूल वस्तुप्रधान नहीं है, भाव-प्रधान है। संयोग हो या

वियोग, कवि विषादमग्न रहता है, वियोग तो वैसा ही मार्मिक और आंतरिक है जैसा घनानंद का। आलम वियोग से बिके से, थके से एवं जीवन का दांव हारे हुए से लगते हैं। इस प्रसंग में उनका एक सवैया बड़ा प्रसिद्ध है–

जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सौं करीं बहु बात सु ता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करै।
'आलम' चैन से कुंजन में करी केलि वहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करै॥[38]

आलम के काव्य में फारसी प्रेम-पद्धति के प्रभाव के फलस्वरूप अभिलाषा और वेदना की प्रधानता अधिक है। उन्होंने रीति शास्त्रीय परंपरा से मुक्त होकर आंतरिक अनुभूति का सहज उद्घाटन किया है। मन की पीड़ा एवं व्यथा की अनेक अंतर्दशाओं का मार्मिक चित्रण इनके काव्य की अभिन्न विशेषता है। इनके काव्य में प्रेमोल्लास का एक अभिनव स्वर मुखरित हुआ है तथा उसकी अभिव्यंजना पद्धति निःसंदेह उच्च-कोटि की है।

ठाकुर

इनके दो काव्य संग्रह उपलब्ध होते हैं–'ठाकुर ठसक' और 'ठाकुर शतक'। रीतिमुक्त काव्य की विशेषताओं के सुंदर उदाहरण ठाकुर की रचनाओं में देखे जा सकते हैं। इन्हें मात्र कवि शिक्षा के लिए काव्य सृजन करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता था और न ही वे कृत्रिम एवं रूढ़ियों में आबद्ध काव्य-रचना के पक्ष में थे। वे भाषा के कृत्रिम उपकरणों के सर्वथा विरोधी थे। यही कारण है कि इनकी काव्य-भाषा बोलचाल की चलती-फिरती भाषा है, जो अलंकारों आदि के अस्वाभाविक प्रयोग से पूर्णतः मुक्त है। हृदय की निश्छल अनुभूति यद्यपि व्यक्तिगत है परंतु काव्य में अभिव्यक्त होकर वह सार्वजनिन बन गई है। ठाकुर के काव्य में भक्ति-परक छंदों का भी बाहुल्य है। उसके अंतर्गत उन्होंने लीलावर्णन नहीं किया, अपितु उनकी परमेश्वर संबंधी धारणा ऐसी सर्वसाधारण है जो राम कृष्ण आदि की सीमाओं से परे एक अप्रतर्क्य शक्ति के रूप में लोक-मानस में बैठी रहती है। सर्वसाधारण के मन में ईश्वर की विलक्षण महिमा का ही विश्वास रहता है, ठाकुर इसी के कवि हैं।[39] लोकोक्तियों एवं मुहावरों के सौंदर्य से गढ़ी हुई इनकी भाषा में रीति-मार्गीय कवियों जैसी कृत्रिमता एवं भारीपन नहीं है।

बोधा

इनकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ हैं–'विरहवारीश' और 'इश्कनामा'। इन रचनाओं में 'प्रेम की पीर' की सुंदर अभिव्यंजना लक्षित होती है। किंतु कहीं-कहीं बाजारू ढंग का

प्रेम भी इनके काव्य में देखा जा सकता है। इन्होंने रीतिबद्ध कवियों से सर्वथा भिन्न प्रेम भाव का उल्लासमय चित्रण भी किया है। 'विरहावारीश' माधवानल कामकन्दला की प्रसिद्ध प्रेमकथा पर आधृत प्रबंध रचना है तथा 'इश्कनामा' सूफी प्रभाव से युक्त घटनाओं के विस्तार से युक्त मुक्तक काव्य संग्रह है। प्रेम-मार्ग से संबंधित इनका यह सवैया अत्यधिक ख्याति प्राप्त है–

अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनौ है।
सुई वेहते द्वार सकीन वहाँ परतीति को टांडौ लदावनौ है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु न चढ़ि टापै न चित्त डरावनौ है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनौ है।[40]

बोधा को भावों को कृत्रिम उपकरण से सजाने-संवारने का मोह नहीं था। उन्होंने जिस प्रकार अनुभव किया, उसे वैसा ही व्यक्त कर दिया। रीतिमुक्त काव्य के सभी कवियों की अपेक्षा बोधा में भाषा की स्वाभाविकता अधिक दिखाई देती है। घनानंद ने अपनी भाषा में लक्षणाओं को अधिक विस्तार दिया है तो ठाकुर ने लोकोक्तियों एवं मुहावरों से भाषा को चमत्कृत किया था। इसके विपरीत बोधा की भाषा इन सब उपकरणों से मुक्त स्वाभाविक भाषा है।

द्विजदेव

इनका एकमात्र उपलब्ध काव्यसंग्रह 'शृंगारलतिका सौरभ' है। इसमें तैंतीस पद्यों के अंतर्गत वसंत के वैभव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। द्विजदेव की गणना रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी में भी की जाती है, किंतु वस्तुतः ये रीतिमुक्त कवि ही थे। इन्होंने शृंगार के संयोग पक्ष के साथ-साथ वियोग पक्ष का भी मार्मिक अंकन किया है। उन्होंने शृंगार के रीतिग्रस्त वर्णनों के साथ-साथ हृदय की अनेक अंतर्दशाओं का मार्मिक उद्घाटन किया है, जिससे वे घनानंद की दिशा में बढ़ते प्रतीत होते हैं। रोष, क्षोभ, दैन्य, अधैर्य, धृति, स्मृति, उद्वेग, जड़ता आदि कितने ही भावों की सपफल व्यंजना उन्होंने की है। ऐसा वे वियोग के प्रसंग में ही कर पाये हैं, संयोग वर्णन तो परंपराग्रस्त ही है। इससे भी अधिक उल्लेखनीय विशेषता प्रकृति-वर्णन की है। उनका प्रकृति-प्रेम स्वच्छंद है।[41] घनानंद, ठाकुर, आलम की परंपरा का अनुसरण करते हुए इन्होंने मुहावरों, लोकोक्तियों, लक्षणा एवं अलंकारों से युक्त ब्रजभाषा को ही अभिव्यंजना-शैली का आधार बनाया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर तथा द्विजदेव के काव्य में रीति मुक्त काव्य प्रकृतियों का सपफल निर्वाह हुआ है। स्वच्छंद एवं संयत प्रेम के चित्रण के कारण यह काव्य-धारा अधिक प्रभावशाली बन गई है।

रीतिमुक्त भक्ति, नीति तथा वीर काव्य

रीतिमुक्त भक्ति संप्रदाय के रचनाकारों में दादू, रज्जब, सुंदरदास, तुलसीदास, ध्यानदास, जगजीवनदास, मोहनदास, रामजीदास, नरीदास, खेमदास, दास पीपा जी, प्रेमदास, सेवादास, दरियावजी, लालदास, धरनीदास, अक्षर अनन्य प्रमुख हैं। वीर काव्य के रचनाकारों में आचार्य केशव, महाराजा मानसिंह, जटमल, न्यामक खाँ, किशोरदास भाट, दत्त कवि, भूषण, श्रीगोविंद, नीलकंठ आदि का नाम लिया जाता है। नीति काव्य रचयिताओं में जसराज, सुखदेव, वृंद, धर्मसिंह, खेमराज, रघुराम, गोपाल चानक, चाचा हित वृंदावन दास, स्यामदास, मन रंगलाल, गुपाल कवि, मानिक दास आदि उल्लेखनीय हैं। इस काव्यधारा के कवियों को विरासत में जो बिंब परंपरा मिली उसके मुख्यतः दो रूप थे, भक्तिकालीन बिंब परंपरा और भक्तिकालीन स्वच्छंद काव्यधारा की बिंब परंपरा।

वीरकाव्य की रीतिमुक्त कवियों का प्रधान लक्ष्य था। जैसा कि सभी जानते हैं, साहित्य में प्रधान रसों से संबंधित रचनाएँ हर काल में रची जाती रहीं। हाँ, कभी कम कभी ज़्यादा का परिमाण मिलता है। आदिकाल तो वीरगाथा काल के नाम से जाना गया जिसमें वीरतापूर्ण कार्यों की सराहना करते हुए प्रशस्ति काव्यों का प्रबंध शैली में लेखन होता था। भक्तिकाल में भी वीरत्व की सराहना की जाती रही और अपने चरित नायकों में वीरत्व के जो भी स्थल मिले उन्हें ओजस्वी ढंग से सराहा गया, भले ही प्राचुर्य भक्ति भाव का रहा हो। रीतिकाल में भी वीर काव्य रचे गए। रीतिबद्ध कवियों ने भी वीरकाव्य रचे, जिनमें केशव, चिंतामणि, देव, श्रीपति भट्ट, कुलपति मिश्र, प्रतापसाहि, सोमनाथ, सुखदेव, ग्वाल, कृष्ण भट्ट, पद्माकर, शंभुनाथ मिश्र, शिवनाथ, चंद्रशेखर वाजपेयी, मतिराम, उदयनाथ कवींद्र, कालिदास त्रिवेदी, भूषण, श्रीधर मुरलीधर, गोविंद रवि, दूलह, दत्त कवि, भान कवि, बिहारी लाल और निवाज वारीस का नाम स्मरणीय है।

रीतिमुक्त कवियों में ऋषभदास जैन, बनवारी, दुरसा आढ़ा, लालचंद जैन, गंभीर राय, रामकवि, जयराम पिंडे, जगतसिंह रत्नाकर, काशीराम जग्गा जी खिड़िया, किशोरदास भाट, श्री गोविंद, गंगेश, सोनकवि, नीलकंठ, श्रीपति भट्ट, कुंभकर्ण, महापात्र जैतसिंह, आदर हंसराम, सेनापति, वृंद, रामकवि, उदयनाथ कविंद्र, दूलह, हीर कवि, अमृत राइ, सुंदर, लाल कवि, हरिकेश द्विज, देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट, नाथ कवि, शाह जू पंडित, महताब, तीर्थराज, पहाड़ खां आड़ा, सदन पतिराम, हुलासी, प्राणनाथ उल्लेखनीय हैं। इतरेतर सैकड़ों कवियों ने इस काल में रीतिमुक्त शैली में वीर काव्य रचे।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 392
2. हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, पृ. 619
3. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 215
4. वही, सप्तम भाग, पृ. 3
5. हिन्दी रीति साहित्य, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 13-14
6. संवत् सोरह सै बरस बीते अड़तालिस।
कातिक सुढी तिथि सप्तमी वार बरन रजनीश।—र. पि. 11
7. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 231
8. वही, पृ. 243
9. हिंदी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 167
10. वही, पृ. 258
11. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 382
12. वही, पृ. 359
13. वही, पृ. 360
14. वही, पृ. 361
15. वही, पृ. 396
16. वही, पृ. 396
17. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ. 250-251
18. वही, पृ. 274
19. वही, पृ. 274
20. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 404
21. वही, पृ. 363
22. वही, पृ. 369
23. वही, पृ. 365
24. वही, पृ. 366
25. वही, पृ. 367
26. वही, पृ. 367
27. वही, पृ. 367
28. वही, पृ. 368
29. वही, पृ. 368
30. वही, पृ. 378
31. वही, पृ. 379
32. हिंदी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, प्रो. शिवकुमार शर्मा, पृ. 375
33. 1. सुजानहित, 2. कृपाकंद निबंध, 3. वियोग बेलि 4. यमुनायश, 5. प्रीतिपावा 6. प्रेमपत्रिका 7. प्रेमसरोवर 8. व्रज विलास 9. रस बसन्ती 10 अनुभवचंद्रिका 11. रंगबधाई

12 प्रेमपद्धति 13 व्रसभानुपरसुषमा, 14. गोकुलगीत 15 नाममाधुरी 16 गिरिपूजन 17 विचारसार 18 दामघटा, 10 भावना पप्रकाश 20 कृष्णकौमुदी 21. धाम चमत्कार 22 प्रिय प्रसाद 23 वृंदावन मुद्रा 24 ब्रजस्वरूप 25 गोकुल चरित्र, 26. प्रेम पहेली 27 रसनायश, 28 गोकुल विनोद 29 ब्रजप्रसाद 30 मुरलिकामोद तथा 31 ब्रज व्यवहार

34. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ. 338-339
35. वही, पृ. 338
36. वही, पृ. 339
37. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 374
38. वही, पृ. 375
39. वही, पृ. 376
40. वही, पृ. 377
41. वही, पृ. 377

सप्तम अध्याय

रीतिविज्ञान : शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान साहित्य समीक्षा के नवीनतम शाखा है। साहित्य में अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से हुआ करती है। अतः इसका समुचित विवेचन भाषा के विवेचन से ही संभव है। यह साहित्यिक भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग का व्याकरण है। शैलीवैज्ञानिक समीक्षकों का यह मानना है कि जहाँ दर्शन और समाजशास्त्र साहित्य के परधर्म हैं, वहीं भाषाविज्ञान स्वधर्म। चूँकि साहित्य मुख्यतः और मूलतः भाषिक कला है अतः समीक्षा का वास्तविक स्वरूप भाषिक समीक्षा में ही उपलब्ध होता है। प्राचीन काव्यशास्त्र में शैली पक्ष पर काफी कहा गया परंतु शैलीविज्ञान में कुछ मौलिक नवीनता भी है। यह साहित्य की भाषापरक आलोचना है, इस रूप में यह साहित्य के अध्ययन की नई दृष्टि है। इसलिए कुछ विरोधी इसे साहित्य की भाषिक चीरपफाड़ या शुष्क गणितीय व्याख्या भी कहते हैं। इस पर समाजनिरपेक्षता का आरोप भी लगाया जाता है किंतु चूँकि भाषा समाज सापेक्ष और शैलीविज्ञान भाषायी प्रयोग कला की समीक्षा, अतः यह समाज निरपेक्ष कैसे मानी जा सकती है।

शैली अंग्रेज़ी शब्द 'स्टाइल' का हिंदी पर्याय है। 'स्टाइल' शब्द अवेस्ता में 'स्तएर' (Stera = पर्वत शिखर), ग्रीक में 'स्ताइलोस' (Stylas = स्तम्भ) तथा लैटिन में 'स्टाइलुस' (Stilus) आदि रूपों में मिलता है। लैटिन शब्द 'स्ताइलुस' पत्थर, हड्डी या धातु से बनी हुई कलम के लिए होता था जिससे मोमचढ़ी टिक्कियों पर लिखा जाता था। अर्थविस्तार के माध्यम से धीरे-धीरे इसका प्रयोग लेखन के 'प्रकार' तथा 'प्रयोगविधि' तक के लिए होने लगा। चित्रकला में कलम शब्द का प्रयोग शैली के लिए होता है।

शैली शब्द के मूल में 'शील' शब्द है। शाकटायन के उणादि सूत्र (4.38) में इसे 'शी' (शीङ्शयने) धातु में लक् प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना गया है। पाणिनि के 'धातुपाठ' में प्राप्त 'शील' धातु से भी इसका संबंध माना गया है किंतु डॉ. भोलानाथ तिवारी इसे विशेष सार्थक नहीं मानते। उनके अनुसार—'यों-'शील' के संस्कृत में मूलधातु होने की बहुत संभावना मुझे नहीं लगती। 'धातुपाठ' में 'शील' दो धातुएं हैं।

एक तो भ्वादिगण में आती है, जिसका अर्थ एकाग्र होना (समाधि) है। दूसरी चुरादिगण में आती है जिसका अर्थ अभ्यास होना (उपधारणं अभ्यासासः) है। मेरे विचार में जिस -'शील' शब्द की इस प्रसंग में चर्चा की जा रही है, वह इस चुरादिगणीय धातु 'शील' के ही अपेक्षाकृत अधिक निकट ज्ञात होता है।'[1]

यास्क ने परुच्छेप ऋषि के प्रयोग का विश्लेषण पुनरुक्ति के अभ्यास के अर्थ में किया है—'अभ्यासे भूयां समर्थ मन्यन्ते। यथा—आहो दर्शनीया—2 इति। तत् परुच्छेपस्य शीलं।' यहाँ शील शब्द शैली का पूर्वरूप है। ग्यारहवीं शताब्दी के कय्यपू—'शीले स्वभावे भवा वृत्तिः शैली' कहकर शैली को स्वभाव से होने वाली वृत्ति मानते हैं।

शैली में वैयक्तिक विशेषता का प्राधान्य होता है। फ्रेंच लेखक ब्यूको की प्रसिद्ध उक्ति 'शैली स्वयं मनुष्य है' (Style is the man himself) से यह स्पष्ट है कि शैली लेखक के व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या पफलश्रुति है। इस विषय पर मतभेद हो सकते हैं किंतु इतना अवश्य है कि शैली का मनुष्य के साथ घनिष्ठ संबंध है। शेरन 'कलात्मक अभिव्यक्ति में व्यक्तित्व की विद्यमानता को शैली' मानते हैं। स्विफ्ट 'उपयुक्त सीन पर उपयुक्त शब्दों के प्रयोग' को शैली मानते हैं। मरी के शब्दों में—'शैली भाषा की उस विशेषता का नाम है जो किसी के भाव अथवा विचार को ठीक-ठीक व्यक्त करती है।' शैली विषयवस्तु के अंतस् को उद्घाटित करने का रचना सिद्धांत है। भाषिक आधार पर शैली चयन है, शब्दों का तथा वाक्य में इसका क्रमण है। शैली विचलन है, शैली भाषिक वैशिष्ट्य है, शैली विचार की प्रतिलिपि है। डॉ. जान्सन के शब्दों में—'हर व्यक्ति की अपनी निजी शैली होती है।' मिडिल्टन मरी ने अनेक परिभाषाओं का सारांश देते हुए शैली के तीन अर्थ स्थिर किए हैं— 1. व्यक्तिगत वैशिष्ट्य 2. विषय प्रतिपादन की प्रविधि 3. साहित्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि। प्रसिद्ध लेखक शॉपनहॉवर ने शैली को मन की बाह्य आकृति कहा है। वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने भी स्वभाव को शैली का प्रेरक तत्त्व माना है। शैली व्यक्ति के मंतव्य को व्यक्त करने की विशेष तकनीक या रीति है। विशिष्ट लेखक अपने विशिष्ट अर्थ या अभिप्राय को एक विशेष ढंग से व्यक्त करता है। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार शैली भाषिक अभिव्यक्ति का वह विशिष्ट ढंग है जो प्रयोक्ता के व्यक्तित्व तथा विषय से संबद्ध होता है तथा जो विचलन चयन, सुसंयोजन, समानान्तरण एवं अप्रस्तुतविधान आदि सामान्य अभिव्यक्ति के लिए असुलभ उपकरणों पर आद्धृत होता है। चूँकि शैली एक कलात्मक अभिव्यक्ति है, इसलिए वह साहित्य से संबद्ध है और साहित्य की चरम उपलब्धि है। वह रचना सौष्ठव की पर्याय है क्योंकि रचना सौष्ठव ही काव्य-कला है।

भारतीय काव्यशास्त्र में चार शब्द ऐसे मिलते हैं जो एकार्थबोधक लगते हैं। ये

शब्द हैं—रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति और शैली। भारतीय समीक्षा सिद्धांत के आचार्य वामन ने रीति शब्द का प्रयोग वस्तुनिष्ठ अर्थ में किया है। 'रीति' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य वामन कहते हैं—'विशिष्ट पद रचना रीतिः।' 'विशिष्ट' शब्द को स्पष्ट करते हुए आचार्य वामन कहते हैं—'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् गुणयुक्त होना ही विशेष है। वामन ने काव्य के दो रूपों को मान्यता दी है—रीति और अर्थगुण संपदा। वामन के अनुसार अर्थगुण संपदा रीति का आश्रय पाकर चमक उठती है या आस्वाद्य होती है। डॉ॰ नगेन्द्र ने वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्त्व के संबंध में सामान्यतः चार सिद्धांतों का उल्लेख किया है-[2]

1. काव्य का मूल तत्त्व वस्तु (भाव विचार) और रीति उसके आश्रित है। रीति वस्तु की वाहिका या अनुवर्तिनी होती है। जैसी वस्तु होगी, वैसी ही रीति होगी।

2. वस्तु और रीति अभिन्न हैं और वे व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करती हैं।

3. रीति या अभिव्यंजना ही काव्य का मूल तत्त्व है। वस्तु का रीति से कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

4. वस्तु और रीति दोनों का काव्य में समान अस्तित्व है। अतः चौथा सिद्धांत इनके समन्वय को महत्त्वपूर्ण मानता है।

डॉ॰ नगेन्द्र ने इन चार सिद्धांतों की कसौटी पर वामन का मूल्यांकन करते हुए डॉ॰ जगदीशप्रसाद कौशिक लिखते हैं—'जहाँ तक पहले सिद्धांत का प्रश्न है, वामन रीति को मूल तत्त्व मानते हैं न कि वस्तु को जो पहले सिद्धांत के अनुसार काव्य का मूल तत्त्व है। आत्माभिव्यंजनावादियों और अभिव्यंजनावादियों के अंतर्गत भी वामन नहीं आते क्योंकि वे न तो वस्तु और रीति को अभिन्न मानते है और न ही रीति को सर्वेसर्वा मानते हैं। आपके अनुसार रीति प्रमुख तत्त्व है किंतु सर्वेसर्वा नहीं है। वामन पूर्णतया समन्वयवादी भी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि वामन का मंतव्य एक स्वतंत्र मंतव्य है जो रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी अर्थगुण संपदा को उसके लिए अनिवार्य मानते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वामन वस्तु तत्त्व की सत्ता तो स्वीकार करते हैं किंतु वे उसे रीति के ही आश्रित मानते हैं क्योंकि रीति के बिना अर्थगुण संपदा आस्वाद्य नहीं हो सकती।'[3]

रीति शब्द 'रीुगतौ' धातु से बना है जिसका अर्थ सामान्य रूप से प्रणाली, पद्धति, मार्ग या पंथ होता है। वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुंतक रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार कवि कर्म कौशल की चारुता एवं उसके द्वारा प्रतिपादित उक्ति ही वक्रोक्ति है। इसकी व्याख्या करते हुए कुंतक ने लिखा है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। कैसी शैली? वैदग्ध्यपूर्ण शैली। वैदग्ध्य का क्या अर्थ है? कवि कर्म कौशल। कवि कर्म कौशल कैसा? उसकी शोभा। जब एक ही विषय पर साहित्य सृजन दो कवि करते हैं

तो उनके उत्कर्षापकर्ष का हेतु विषय नहीं, रीति या शैली की विशिष्टता ही होती है अन्यथा सारे रामकाव्य चाहे वह तुलसीकृत मानस हो या केशवकृत रामचंद्रिका, एक जैसे साहित्यिक सौंदर्य से समन्वित होते पर ऐसा नहीं है। इस वैशिष्ट्य का कारण उनकी अभिव्यंजना का रीतिवैशिष्ट्य या शैली वैशिष्ट्य ही है। जैसा किस कवि का स्वभाव होता है, वह उसी प्रकार के मार्ग को ग्रहण करता है। 'कवि स्वभाव भेद निबंधनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समन्जसतां गाहते।'[4]

कुंतक ने तीन मार्गों—सुकुमार, विचित्र और मध्यम का वर्णन किया है। इस रीति (मार्ग) विवेचन का आधार कवि स्वभाव है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अनेक कवियों के अनेक स्वभाव हो सकते हैं, तीन ही क्यों? इसके उत्तर में कुंतक ने कहा है—कवि स्वभाव भेद से मार्ग भेद निबंधन में अनन्तभेदता अनिवार्य है पर उन भेदों की गणना असंभव होने से सामान्येतन तीन प्रकार के मार्ग प्रतिपादित किए गए हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि कुंतक के अनुसार मार्ग वैयक्तिक स्वभाव अर्थात् रुचि-अरुचि पर निर्भर करता है। इस धारणा से यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं है कि कुंतक के मार्ग प्रतिपादन में वैयक्तिक रचयिता के तत्त्व की प्रधानता है।[5]

भारत के नाट्यशास्त्र में वृत्ति शब्द मिलता है। इसका अर्थ है—रसविषयक व्यापार। यह चित्त का व्यापार है जो क्रमशः दर्शक के चित्त को विकास, विक्षेप, संकोच, विस्तार के रूप में अनुवर्तित करता है। इन चार चित्तवृत्तियों के प्रकाशन के लिए भरत ने कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती- ये चार वृत्तियाँ गिनाई हैं। आनन्दवर्धन इन चारों वृत्तियों को शब्दवृत्ति न मानकर अर्थवृत्ति मानते हैं और भोज शब्द अर्थ दोनों की वृत्ति मानते हैं। राजशेखर रीति के लिए प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली शब्द के लिए प्रयुक्त होने वाले चार शब्द हैं—रीति, वृत्ति, मार्ग और प्रवृत्ति। शैली की वैज्ञानिक परीक्षा, अध्ययन करने वाली विधा विशेष को शैलीविज्ञान कहते हैं। किंतु इस विधाविशेष को शैलीविज्ञान नाम दिया जाय या रीतिविज्ञान—इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं हो सका है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने रीतिविज्ञान नामक अपनी पुस्तक में यह तर्क प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शैली के स्थान पर रीतिशब्द का प्रयोग सार्थक है। उनका मानना है कि चूँकि संस्कृत भाषा में शैली शब्द का प्रयोग साहित्येतर विधाओं के क्षेत्र में किया गया है, यथा—स्थापत्य के क्षेत्र में—नागर, वेसर या द्रविड़ आदि, चित्रकला के क्षेत्र में—अजन्ता, राजपूत, पाल, पल्लव आदि वास्तु के क्षेत्र में गांधार, मथुरा आदि एवं पाश्चात्य विद्वान भी 'स्टाइल' शब्द की व्याख्या जिस रूप में करते हैं, उस रूप का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता शैली शब्द में नहीं है, कारण शैली काकु, वक्रोक्ति आदि व्यवहारों को स्पष्ट करने की स्थिति में नहीं है, अतः रीति शब्द

का प्रयोग समुचित है। उनके शब्दों में—'शैलीविज्ञान शब्द का प्रयोग न करके रीतिविज्ञान शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त लगता है क्योंकि शैली के विषय में एक बहुत ही व्यापक धारणा रूढ़ हो चुकी है कि शैली आत्मनिष्ठ होती है अर्थात् शैली आदमी की अदा, भंगिमा, रुझान तथा रुचि की अधिक परिचायिका होती है। समष्टिगत व्यवहार के वैशिष्ट्य की उतनी परिचायिका नहीं होती और इस दृष्टि से शैली शब्द का प्रयोग आधुनिक भाषाशास्त्र की लिंग्वोस्टाइल के संदर्भ में इसीलिए उतना उपयुक्त नहीं समझा जा सकता है।'[6]

डॉ. नगेन्द्र शैली और रीति को अभिन्न मानते हैं। अनेक पाश्चात्य परिभाषाओं के आधार पर उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि शैली में व्यक्तित्व की प्रधानता उसका प्रमुख लक्षण है। उनका मानना है कि इस समीक्षा पद्धति में वस्तुनिष्ठता का बड़ा आग्रह है, उसे वहन करने के लिए उपयुक्त शब्द रीति ही है, इसलिए रीतिविज्ञान उपयुक्त शब्द है किंतु रीति शब्द शास्त्ररूढ़ बन गया है और पुराने शब्द को आज चलाना कठिन है, इसलिए शैली शब्द ही प्रयोग में प्रचलित है।

वास्तव में रीतिशब्द का अर्थविस्तार शैली के पर्याय के रूप में हो गया है। इसके अंतर्गत शैली के समस्त गुण अंतर्भुक्त किए जा सकते हैं। डॉ. रामदरश मिश्र के शब्दों में—'साहित्य के शैलीपक्ष पर विशेष बल देनेवाली आलोचना रीतिवादी आलोचना है। रीति से परिपाटी की भी ध्वनि आती है अर्थात् परिपाटीबद्ध शैली के चमत्कारों से संयुक्त साहित्य को सहराने वाली आलोचना रीतिवादी आलोचना है। विषय की प्रकृति के अनुसार शैली परिवर्तित होती रहती है और वह बाह्यारोपित कोई वस्तु नहीं वरन् विषय के साथ फूटी हुई उसका संपृकत अंग है। रीतिवादी आलोचना शैली को अलग से परिमार्जित और चमत्कृत करना चाहती है, शैली के भव्य प्रासाद में भाव की प्रतिष्ठा करना चाहती है। भव्य शैली में ही भाव भव्य रूप से दीप्त हो सकता है। इसलिए रीतिवादी आलोचक कृति के मूल स्फुरण नवीन अनुभूतियों और चेतनाओं का तथा तद्नुसार परिवर्तित या परिवर्धित होती हुई शैली की नई छवियों की चिंता न कर उसकी परिपाटीबद्ध मंजीमंजाई चमत्कारपूर्ण भव्यशैली में खोट देखकर नये साहित्य को सदोष और हीनकोटि का मान बैठते हैं। द्विवेदीकाल में लाला भगवानदीन की समीक्षाओं में रीतिवादी समीक्षा का स्वरूप देखा जा सकता है।'[7]

साहित्य में शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि रीति का अर्थ केवल शैली से लिया जाय तो उसका महत्त्व किसी भी प्रकार के साहित्य में या किसी काल की कृति में कम नहीं होता। यह शैली को परिवर्तनशील रूप में स्वीकार किया जाय और रीति को शैली का पर्याय मान लिया जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति अपने विकसित अर्थ में सभी कालों की आलोचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती आई है। आचार्य शुक्ल ने छायावादी काव्य के भाववैभव के साथ-साथ उसके शिल्प में होने वाले नये प्रयोगों

प्रतीक, अप्रस्तुत विधान, नई भाषाभंगिमा बिंब, छंद पद संगीत आदि की ओर संकेत किया और बाद के आलोचकों ने विस्तार से इसपर विचार किया।

सामान्य भाषिक शब्दावली में एक सामान्य लक्षण होता है किंतु शैलीविशेष भाषिक संरचना है। भाषिक अर्थ में शैली शब्द प्रायः सामान्य से भिन्न विशेष अर्थ का द्योतक है। यह वैशिष्ट्य प्रयोक्ता के व्यक्तित्व के कारण हो सकता है, रचना बिंब के कारण हो सकता है या विषय के स्वरूप के कारण हो सकता है। यह वैशिष्ट्य व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर करता है। साहित्य में वैशिष्ट्य का आधार कलात्मक सौंदर्य या साहित्यिक गुण होता है। सामान्य से विपथन भाषा के इसी वैशिष्ट्य को सूचित करता है। शैली में साहित्यिक भाषा के सर्जनात्मक प्रयोगों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है। शैलीवैज्ञानिक विशिष्ट कृति का अध्ययन तटस्थ और विशिष्ट ढंग से करता है। जब शैली वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वान का ध्यान हेतु और परिणाम की अपेक्षा रचयिता की कला पर ही केंद्रित रहता है तो उसका अध्ययन शैली वैज्ञानिक होता है। शैलीवैज्ञानिक की दृष्टि में काव्य एक विशेष प्रकार का भाषिक विधान है और शैली भी विशेष प्रकार के भाषिक विधान का ही नाम है। इसलिए शैली का साहित्य से विशेष संबंध है। भाषा और साहित्य अपने सम्मिलित सहयोग और कार्यपफलन के अपने निजी संतुलन के परिणामस्वरूप कला शैली को जन्म देते हैं। किंतु झिरमुन्स्की के अनुसार 'कला शैली को भाषा के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। कविता की कला शैली का संबंध कवि की जीवन दृष्टि और उसके भावजगत् के साथ होता है जो यद्यपि शब्दों के माध्यम से तो व्यक्त होता है किंतु शब्दों की ही परिधि में सिमटा नहीं रहता। कविता शब्दों के पार जाकर सामान्यीकृत बौद्धिक प्रत्ययों से ऊपर उठकर अबौद्धिक जगत् की सृष्टि करती है।'[8]

यदि झिरमुन्स्की की बात मान भी ली जाय तो भी यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता में जिस भाषा का प्रयोग होता है अथवा अपने माध्यम को कविता जिस रूप में अपनाती है उसके सहारे जिस अबौद्धिक कथ्य अथवा भावजगत् की जीवनसृष्टि को वह अभिव्यक्त करती है, उसके बीच कोई संबंध ही नहीं है। मुख्यतया भाषा के तीन रूप हैं—सामान्य, शास्त्रीय एवं काव्य या साहित्यिक भाषा है। शैलीविज्ञान साहित्यिक भाषा का विज्ञान है, अतः उसी सीमा में बंधकर वह सूक्ष्म और वैज्ञानिक विश्लेषण करती है। वैज्ञानिक या शास्त्रीय भाषा का आधार शास्त्रीय भाषा ही है। विशिष्ट दिशा में विकसित होकर वही शास्त्रीय बनती है। उसे ही साहित्यकार काव्यभाषा बनाता है। सामान्य भाषा सहज है, शेष दो कृत्रिम हैं। काव्यभाषा का प्रयोग सीमित लोग करते हैं। इसलिए साहित्यिक हिंदी और साधारण हिंदी या हिंदुस्तानी का फर्क रहेगा। साधारण भाषा में नदी, काव्यभाषा में पयस्विनी, कल्लोलिनी, सरिता आदि शास्त्रीय भाषा में नक सोडियम क्लोराइड, खारापानी, लवण या क्षारीय

जल इत्यादि। अक्षर सामान्य भाषा मतें Letter का वाची पर भाषाशास्त्र में Syllable (ध्वनि या ध्वनिसमूह) का वाचक है। यमक, श्लेष आदि काव्यभाषा के सौंदर्य इसी शब्द नियोजन के परिणाम हैं। सामान्य भाषा में अर्थ स्पष्ट होता है पर काव्यभाषा में शब्दार्थ का अर्थ वैविध्यपूर्ण होना गुण माना जाता है। सामान्य और काव्यभाषा में गुणात्मक अंतर होता है। यह गुण विचलन (विपथन) सादृश्यविधान संयोजन आदि के द्वारा साहित्यकार उत्पन्न करता है। साहित्यकार अत्यंत सतर्कता से युग के परिप्रेक्ष्य में शब्दों की आत्मा, उनकी अर्थच्छआ की पहचान करके उन्हें कृति में संयोजित करता है। साहित्य वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। उसका अपना निजत्व होता है, वह विशिष्ट होती है, सामान्य नहीं, इसलिए उसे सामान्य, सार्वजनीन भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका अलग काव्य भाषा विज्ञान होता है। कामताप्रसाद गुरु ने 1920 में प्रकाशित हिंदी व्याकरण में कविता की भाषा तथा काव्य स्वतंत्रता पर अलग से सबसे पहले विचार किया था। कवि भाषा विचलन, सादृश्यमूलक विधान (जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा) विरोधमूलक (विभावना, विरोधाभास, असंगति) श्रृंखलामूलक (माला, दीपक, एकावली) न्यायमूलक (काव्यलिंग, अनुमान) तथा व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, प्रतीक, बिंब, समानान्तरण आदि नाना विधानों द्वारा काव्यभाषा का नवर्निर्माण करता है। आदमी को गधा (मूर्ख) गिरगिट (रंग बदलने वाला) आदि प्रतीक क्रमशः रूढ़ि बन गए हैं। रूढ़ि बन जाने पर नये प्रतीकों का प्रयोग साहित्यकार करता है। सामान्य भाषा सूचना देती है, काव्यभाषा विशिष्ट भाषा के द्वारा विशिष्ट अनुभवगर्भित होती है। काव्यभाषा परंपरा और रूढ़ि तोड़कर नया रास्ता निकालती है। वक्रोक्ति वचन वक्रता उलटवॉसी विचलन से ही संभूत है। काव्यभाषा स्वच्छंद, सुसंस्कृत, जीवन्त, प्रभावी, व्यंजक, अनुभूतिप्रेषक होती है। विचलन उसका प्रधान उपकरण है।

भाषा ध्वनि, रूप, शब्द, प्रयोग, वाक्य रचना तथा अभिव्यक्ति आदि विभिन्न स्तरों पर नियमों से शासित होती है। भाषा का व्याकरण होता है जो नियम व्यवस्था आदि बनाता है। सामान्य भाषा की नियमबद्धता काव्यभाषा का स्वच्छंद, लचीला व्यक्तित्व नहीं स्वीकारता और वह ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य विचलन द्वारा नव-नवरूप ग्रहण करती है। जैसे भोर पुल्लिंग शब्द है जिसे पंत ने स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है-'उमड़ी हिमल सस्मित भोर' (पल्लव) या 'आज प्रथम पिक गाई पंचम'-'गाई' व्याकरण विरुद्ध है। विचलन चौंकाने के लिए नहीं, अर्थ सौंदर्य के लिए ही उचित है। अज्ञेय नें चमत्कार के लिए लिखा-'आई चित्रेतना-लम्बी प्रकातीक्षा' चित्र + चेतना = चित्रेतना, प्रकाशन + प्रतीक्षा = प्रकातीक्षा आदि। संक्षिप्तीकरण विचलन-यह चमत्कारवादी प्रयोग, प्रयोगवादी कविता का कौतुक मात्र है। शमशेर 'मुझे नश्श नहीं चाहिए'-नशे में शराबी की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त प्रयोग है।

विचलन की अभिव्यक्ति कई स्तरों पर देखी जा सकती है—

1. क्रमभंग, इसका उद्देश्य क्रिया या कर्म में जिस किसी को पहले लाया जाता है, उसे ध्यान का केंद्र बनाना होता है। जैसे—जहाँ तपस्या करते हम व्रतचारी' में कर्ता से अधिक कर्म पर और क्रिया पर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक होने के कारण कर्ता बाद में रखा गया है।

2. वाक्य में अप्रत्याशित समनुहार या ऐग्रीमेंट (वचन, पुरुषलिंग, काल आदि की अन्विति को तोड़ना), इसका उद्देश्य व्याकरणिक राशि केटेगरी को एक नई अर्थवत्ता प्रदान करना होता है। उदाहरणार्थ 'मैं' नहीं है, 'हम' हैं।

सामान्य भाषा में विचलन इसलिए अनपेक्षित है कि यहाँ संदेश प्रेषण में विचलन के कारण भ्रम होने की संभावना है। 'मैं' मैं नहीं है 'हम' है—इसमें 'मैं' के साथ हूँ' की प्रत्याशा थी किंतु यहाँ 'मैं'—उत्तम पुरुष एकवचन का सर्वनाम का रूप न होकर व्यष्टिगत अस्मिता का बोधक बनकर जब आता है तो उसे अन्य पुरुष में स्थापित करने से ही अन्य पुरुष की क्रिया के साथ स्थापित करना आवश्यक हो जाता है।

3. एक जाति के पद को दूसरी जाति के पद के स्थान पर प्रयोग करके सतह पर व्याकरण भंग इस उद्देश्य से लाना कि जो किया है, वह कर्म रूप में परिवर्तित होकर या जो कर्म है, व क्रिया बनकर अर्थ के आकस्मिक मोड़ को अधिक प्रखरता से व्यक्त करें। जैसे—'उसका न करता हूँ भी करता है।' इसमें 'न करता हूँ' यह क्रिया पदबंध 'करता है' क्रिया पदबंध के कर्ता के रूप में प्रयुक्त होता है।

4. वाक्य को सतही तौर पर अधूरा छोड़ देना।[9]

कवि विचलन की नाना विधियां ढूँढ़ते हैं। कर्ता, कर्म, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रियाविशेषण के विचलन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। विचलन का प्रयोग चौंकाने के उद्देश्य से न किया जाए, अपितु अर्थसौंदर्य के लिए किया जाना चाहिए। जो विचलन को चौंकाने के अर्थ में उचित मानते हैं, वस्तुतः वह साहित्य के मूल उद्देश्य को पकड़ नहीं पाते। उसका उद्देश्य मात्र चौंकाना नहीं, बल्कि ध्यान को एक जगह से खींचकर दूसरी जगह एकाग्र करना है। इस उद्देश्य से हटा हुआ विचलन साहित्यकार की अपरिपक्वता और उसके कौशल की कमी को व्यक्त करता है।

काव्यभाषा के गठन में सादृश्यविधान का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि यह साभिप्रायता की खोज का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। सदृश शब्द का अर्थ है—साथ दिखने वाला। इसलिए इस विधान में आवश्यक होता है कि दो विभिन्न धरातलों की आमने-सामने उपस्थिति जैसा आभास हो। जैसे—मोती जैसे दाँत। सादृश्य में संपृक्त वस्तुएँ एक दूसरे से समीकृत नहीं होती। उदाहरण के लिए कभी-कभी सुंदर कहने से पूर्ण अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। किस प्रकार का सुंदर, कैसा

सुंदर, वहाँ प्रसिद्ध उपमानों के द्वारा उसका बोध कराते हैं। सादृश्यविधान प्रतीकविधान नहीं है। किंतु प्रतीक शब्द जादुई कुंजी की तरह सभी तालों को खोल सकता है। पर काव्यबोध के क्षेत्र में प्रतीक से पूरा-पूरा काम नहीं चलता। इसलिए प्रतीक को छोड़ने की लाचारी सामने आ जाती है। साहित्य भाषा गणित नहीं है इसलिए वहाँ अत्यंत स्पष्टता उतनी प्रभावशाली नहीं होती और कवि को सादृश्य विधान के द्वारा सौंदर्य के रहस्यात्मक पक्ष को बनाए रखना पड़ता है। प्रसाद जी सौंदर्य के संबंध में लिखते हैं—

तुम कनक किरन के अन्तराल में,
लुक छिपकर रहते हों क्यों?
हे लाज भरे सौंदर्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों?

प्रतीक किसी भी संस्कृति में मानव मन के द्वारा स्थापित कुछ निश्चित संबंधों का ज्ञापन कराता है। जैसे -भारतीय संस्कृति में सौंदर्य के प्रतीक के रूप में कमल को स्वीकार किया गया है और अरब की संस्कृति में सौंदर्य का प्रतीक गुलाब है। सादृश्यविधान में काव्य भाषा बढ़ने वाला कवि ऐसे रूढ़ प्रतीकों को छोड़कर नये उपमान ढूंढता है। इस संबंध में यह ध्यान रखना है कि सादृश्यविधान वास्तविकता को छिपाने के लिए नहीं, बल्कि यह बताने के लिए कि सादृश्यता इदमित्थं को स्वीकार नहीं करती। बल्कि नये-नये सादृश्यविधानों के द्वारा वह उसकी निजता के नये आयामों को प्रस्तुत करने के लिए होती है। सादृश्यता विचलन का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

वस्तुतः विचलन सर्जनात्मक रचनाविशेष के वाक्यविन्यास का ही एक आवश्यक अंग है। इसके प्रयोग में विशेष सचेष्टता की आवश्यकता है क्योंकि यदि सतही तौर पर इसका प्रयोग किया जायेगा तो अर्थ गांभीर्य की जगह रचना में ओछापन आ जायेगा। किसी भी रचना का भावपक्ष यदि सशक्त हुआ तो कलापक्ष की थोड़ी अपरिपक्वता भी क्षम्य होती है किंतु यदि कलापक्ष सबल हुआ और भावपक्ष दुर्बल रहा तो रचना जनग्राह्य नहीं बन पाती। शास्त्रीय नियमन और प्रायोगिक लचीलेपन का सामंजस्य बैठाना रचनाकार का स्वधर्म है। यदि रचनाकार लक्षणा-व्यंजना के, ध्वनियों के, गुण-दोषों के रीतिवृत्तियों के, अलंकारों के , नाट्यांगों और छंदों के भेदोपभेद में ही उलझा रहा और इन सिद्धांतों की स्थूल जानकारी की अपेक्षा इनके मूल में निहित चेतना और सामंजस्य की ओर से उदासीन रहा तो उसका आकलन सिद्धांत शास्त्र में बंधे व्यक्ति के रूप में होगा न कि उसके बोध को व्यापक जनमान्यता मिलेगी। विचलन का सार्थक और ग्राह्य प्रयोग ही श्रेयस्कर है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने भवानीप्रसाद मिश्र की रचना 'अकेला तो सूरज भी नहीं है' का शैलीवैज्ञानिक विवेचन किया है, जिसमें विचलन का प्रायोगिक रूप स्पष्ट है—

'बहती है एक शाम
अतर्कित किसी प्रेम साहस की तरह
और दिन
गिन रहा जैसे कड़ियाँ
किसी छत की
पड़ा हुआ पहाड़ की चोटी पर
अंधेरा घिर रहा है
शाम के साँवले चेहरे का
सतरंगी बुर्क़ा
गिर रहा है।'

इसमें दो खंड है। पहले खंड में क्रम का विचलन है, दूसरे में नहीं। पहले उपखण्ड में भी दो प्रकार के विचलन है -

पहले विचलन में क्रिया पहले आती है, तब कर्ता, तब क्रियाविशेषण, और तब उस क्रियाविशेषण को बतलाने वाला एक उपमान। दूसरे उपखंड में पहले कर्ता, तब क्रिया, तब कर्म, तब कर्म का संबंधवाचक विशेषण और अंत में कर्ता का कृदन्तीय विशेषण और उसके बाद अंत में अधिकरणवाचक पदबंध। इस प्रकार एक ही उपखंड में दो प्रकार के विचलन हैं। एक में क्रिया कर्ता के पहले आती है, दूसरे में क्रिया कर्ता के बाद किंतु कर्म के पूर्व तथा कर्ता के विशेषण के पूर्व। इससे यह स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है कि दिन के गिनने में और शाम के बहने में एक सा प्रयोजन अंतर है। शाम के बहने पर कोई वश नहीं है और दिन सचेत और सक्रिय रूप से गिन रहा है। शाम का बहना प्रेरित है, दिनप का गिनना स्वयंचालित। किंतु दोनों उपखंडों में साधारणतः क्रिया और कर्ता के बीच में आने वाले अंश में डाल दिए गए हैं, जैसे वे उतने महत्त्वपूर्ण न हों, जितने क्रिया एवं कर्ता। ठीक इसके विपरीत दूसरे उपखंड में अपेक्षित क्रम तोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी गयी, उसमें दोनों वाक्यों में प्रत्याशित क्रम में ही कर्ता, क्रिया और उसके विशेषण रखे गए हैं क्योंकि यहाँ ऊपर के खंड में शाम और दिन के नाटकीय वैषम्य पर एक पटाक्षेप डालना अभीष्ट है, इसलिए चीजें क्रम में ही घटित होती दिखाई जाती हैं। नाटकीयता समाप्त हो गयी है और एक वास्तविकता उभर रही है। अंधेरा घिर रहा है और उसके ऊपर रंगीनी का पर्दा भी गिर रहा है अर्थात् शाम अतर्कित रूप में बहते हुए भी गहरी हो जाती है और दिन पहाड़ की किसी चोटी पर पड़ा हुआ किसी छत की झाड़ियाँ गिनते हुए ढल जाता है। प्रकाश का यह जूझना विफल हो जाता है।[10]

विचलन का एक छोटा नमूना और देखना अप्रासंगिक न होगा, जिससे विचलन संबंधी दृष्टि साफ होती है—

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास।
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास।
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त।
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आये घर के अंदर कई दिनों के बाद।
धुआं उठा आंगन के भीतर कई दिनों के बाद।
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद।
कौए ने खुजलाई पांखें कई दिनों के बाद।

नागार्जुन की यह रचना सामान्यतः कविता कहलाने वाली रचनाओं से काफी भिन्न है। प्रथम पंक्ति के दो मानवीकरण को छोड़ दें तो कहीं कोई अलंकार नहीं, रसनिष्पत्ति का कहीं कोई प्रयास नहीं। आधुनिक कवियों वाली अटपटेपन द्वारा आकर्षित करने की कहीं कोई प्रवृत्ति नहीं। सीधे-सादे नौ वाक्य, प्रथम पंक्ति में दो तथा अन्यों में एक-एक। तत्वतः कवि यहाँ आमने सामने दो विराधी भाव वाले बिंबों को रखकर दोनों की वास्तविकता को उभारते हुए दोनों के अंतर को रेखांकित कर रहा है। इसके लिए उसने शैलीय साधन बनाया है—सामानान्तरता को। यह कविता आठ पंक्तियों की है जिसमें प्रथम चार पंक्तियों में एक स्थिति है तो अंतिम चार में दूसरी। पहली स्थिति को व्यक्त करने वाली चारों पंक्तियाँ ऊपर से असंबद्ध हैं। उन्हें 'और', 'लेकिन' आदि योजकों से संबद्ध नहीं किया गया है। किंतु संरचना ध्वनि और अर्थ की सामान्तरता से वे बंधी है। संरचना की समानांतरता चारों पंक्तियों के प्रारंभ में कई दिनों तक पदबंध की आवृत्ति में हैं, ध्वन्यात्मक समानांतरता 'कई दिनों तक' के बाद आने वाली चारों पंक्तियों में आने वाले द्वि अक्षरी शब्दों 'चूल्हा', 'कानी', 'लगी' चूहों' तथा 'उदास-पास', 'गश्त-शिकस्त' की अत्यानुप्रासंगिकता में है तथा आर्थिक समानान्तरता चारों पंक्तियों से व्यंजित अर्थ में है। चारों पंक्तियाँ एक ही बात उल्लासहीनता को अलग-अलग बिंबों से व्यक्त कर रही है। दूसरी स्थिति को व्यक्त करने वाली अंतिम चार पंक्तियों में भी यही बातें हैं, ये भी आपस में ऊपर से असंबद्ध हैं और आदियोजकों के द्वारा बंधी नहीं है, किंतु संरचनात्मक, ध्वन्यात्मक तथा आर्थिक समानांतरताएं इन्हें भी बांध रही हैं। संरचनात्मक चारों के अंत में 'कई दिनों के बाद' पदबंध है, ध्वन्यात्मक आरंभ में द्विअक्षरी शब्द दाने, धुआँ, चमक, कौए, अंदर-ऊपर में अंत्यानुप्रासकिता अलग-अलग बिंबों से एक ही भाव व्यक्त कर रही है।[11]

दृग उरझत, टूटत कुटुम (असंगति), शीतल ज्वाला(आँसू) विशेषण विपर्यय विचलन ही हैं जो अलंकार बन गए हैं। सन् 40 से 75के बीच की हिंदी की साहित्यिक भाषा में विचलन का बहुत अधिक सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है। 'गुनाहों का देवता',

'झूठा सच', 'सूरजमुखी अंधेरे में' आदि शीर्षक विचलन के ही उदाहरण हैं। जिंदा मुर्दे, काठ की घंटियां, कुटियां का राजपुरुष इत्यादि शीर्षकों से यह सारांश निकलता है कि आधुनिक काल के हिंदी साहित्य में विचलन के सर्जनात्मक प्रयोग की पद्धति अत्यंत लोकप्रिय है, और मूल स्वर बन गया है साहित्य भाषा का।

विंचलन भाषा में प्राप्त व्यवस्था से विचलित होकर प्रयोग किया जाता है। चयन का अर्थ है—एकाधिक में से एक को चुन लेना। भाषा में प्राप्त अनेक इकाइयों, समानार्थियों या व्यवस्थाओं में से एक को चुन लेना चयन है। 'कनक भूधराकार शरीरा'—पर्वत, गिरि, शैल, भूधर में से भूधर का चयन तुलसी ने किया। ध्वनि चयन, शब्द चयन आदि इस चयन के आधार हैं। इसमें युगीन प्रवृत्ति जैसे छायावादी युग में स्वर्ण, पल्लव, किसलय, रश्मि, स्मृति आदि शब्दों का चयन, छंद की आवश्यकता से चयन ध्वनि प्रभाव के लिए शब्द चयन व संयोजन जैसे—'कंकन किंकिनी नुपूर धुनि सुनि' अर्थच्छटा दूरगामी अर्थव्यंजना, प्रकरण उपयुक्तता आदि, रूप और वाक्य चयन जैसे—साधारण संयुक्त मिश्र वाक्य, छोटे बड़े वाक्य, नकारात्मक-सकारात्मक वाक्य और अभिधा, लक्षणा व्यंजना द्वारा अर्थागम की व्यवस्था करना अर्थचयन है।

वाक्य, उपवाक्य, पदबंध, पद, शब्द, अक्षर, ध्वनि-ध्वनीय शैलीविज्ञान की परिधि में आते हैं। ध्वनि भाषा की लघुतम इकाई है। हर ध्वनि का एक सीमा तक विशेष प्रकार का प्रभाव अथवा प्रभावजनित अर्थ होता है। प्रभावजनित अर्थ वह अनुभूति है जो ध्वनियों का सुनने या उसके प्रभावस्वरूप श्रोता को होती है। कठोर और कोमल ध्वनियाँ काव्यशास्त्र में ओज-माधुर्यगुण से संबद्ध हैं, ध्वनियों का उच्चारण प्रयोक्ता के स्तर पर भी निर्भर होता है। उनके उच्चारण की दो सीमाएँ होती हैं—अनवरुद्ध, अवरुद्ध। उच्चारण में वायुमार्ग में अवरोध न हो तो वह अनवरुद्ध है। अवरुद्ध जैसे स्पर्श और स्पर्शसंघर्षी ध्वनियों का प्रभावजनित अर्थ औच्चारणिक विशेषताओं पर निर्भर करता है। वे सामान्यतः कठोरता, कोमलता, बड़ापन- छोटापन, उठान-ढलान, संगीतात्मकता, शांति-अशांति, द्रुत-अद्रुत आदि व्यंजित करती हैं। स्पर्श संघर्षी स्वरों को छोड़कर सभी स्वर पारदर्शी होते हैं कोई व्यवधान नहीं होता। संधि और समास भाषा को सघन बनाते हैं, यथा—बादलराग की प्रारंभिक पंक्तियाँ—झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर। राग अमर, अंबर में भर निज रोर।[12] इत्यादि आठ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। इनके घोष में कंपन की गुंज अघोष से अधिक होती है। इनका विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि उक्त आठ पंक्तियों में घोषध्वनियां 175, अघोष 15, घोष व्यंजन 99 तथा अघोष 15 हैं इसलिए पंक्तियों का प्रभाव सघन है।

विचलन का एक प्रमुख अंग समानान्तरता है। इसका अर्थ किसी रचना में समान या विरोधी इकाईयों का समानान्तर प्रयोग है। इस पर पश्चिम विद्वानों ने कम लिखा है। 'तुम तुंग हिमालयशृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता (निराला) समानान्तरता

का अच्छा उदाहरण है–

तुम दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुन्ज हारी
नाथ तुम अनाथ को, अनाथ कौन मों सो
मो समान आरत नहिं आरत हर तों सो।

यह विरोधमूलक समानान्तरता का अच्छा उदाहरण है।

समानांरतरता के कई प्रकार हैं–जैसे समतामूलक, विरोधमूलक, मिश्र समानांतरता, भाषिक इकाइयों के आधार पर समानांतरता–ध्वनीय, शब्दीय, रूपीय, वाक्यांशीय, अर्थ समानांतरता आदि।

शैलीविज्ञान भाषिक समीक्षा का नवीनतम स्वरूप है। इसका प्रयोग अभी हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में बहुप्रचलित नहीं है। इसके सैद्धातिंक पक्ष पर कई विद्वानों ने रचनाएँ की हैं जिनमें पं. विद्यानिवास मिश्र, प्रो. भोलानाथ तिवारी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा आदि ने इस दिशा में गंभीर और स्तुत्य प्रयास किये जिनसे इनके सिद्धांत पक्ष की जानकारी पाठकों को अच्छी तरह से हो जाती है फिर भी निरंतरता जैसे अनेक तत्त्व हैं जिनके संबंध में मतभेद की काफी गुंजाइश है। शैलीविज्ञान का सैद्धातिंक और व्यवहारिक अध्ययन के लिए पाश्चात्य विद्वानों जिनके संदर्भ इस लेख में दिए गए हैं, ज़्यादा उपादेय हैं। शैलीविज्ञान के सिद्धांत पक्ष की चर्चा उक्त ग्रंथों के आधार पर संक्षेप में यहाँ करने की चेष्टा की गई है किंतु इसका दूसरा पक्ष शैलीवैज्ञानिक अध्ययन या व्यवहार पक्ष सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा और भी कम प्रचलित है और शुद्ध शैलीवैज्ञानिक ढंग से किसी समुचित साहित्यिक कृति की भाषिक आलोचना हिंदी समीक्षा में अभी आम नहीं हुई है। कतिपय लेखकों ने अपने ग्रंथों में नमूने के रूप में इसके कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनमें से दो एक उदाहरण प्रसंगवशात् लेख में दिए जा चुके हैं। भोलानाथ तिवारी ने मांस का दरिया और नगेन्द्र की शैलीवैज्ञानिक समीक्षा का नमूना दिया है। पं. विद्यानिवास मिश्र ने अपने ग्रंथ के परिशिष्ट में तीन मानक रचनाओं के शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा इस दिशा में अच्छा मार्गदर्शन किया है और प्रसाद की प्रलय की छाया, निराला की राम की शक्तिपूजा और असाध्य वीणा की शैलीवैज्ञानिक पद्धति से समीक्षा करके इस दिशा में प्रगति का स्वर फूंका है। किंतु ये व्याख्यायें निरी सांख्यकीय व्याख्यायें नहीं है बल्कि शैलीविज्ञान की दृष्टि से कविता का आनंद लेने में जो सहायता मिल सकती है, उसका उद्‌घाटन करने की दृष्टि से लिखी गई है। इनके संबंध में पाठक अपनी अलग-अलग राय बना सकते हैं। ऐसी व्याख्याओं को अभी हिंदी में और आगे बढ़ाने की काफी गुंजाइश है।

संदर्भ

1. शैलीविज्ञान, डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 11
2. रीतिसिद्धांत और आचार्य वामन, पृ. 10-11
3. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान, डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, पृ. 358
4. वक्रोक्तिजीवितम्—प्रथम उक्ति 24 की वृत्ति
5. शैलीविज्ञान की रूपरेखा, डॉ. कृष्णकुमार शर्मा
6. रीतिविज्ञान, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 15
7. हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास, डॉ. रामदरश मिश्र, पृ. 515-516
8. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव
9. रीतिविज्ञान, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. 76-77
10. वही, पृ. 78-79
11. शैलीविज्ञान, डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 139-140
12. परिमल, पृ.149

अष्टम अध्याय

उपसंहार : हिन्दी रीति-काव्य का वैशिष्ट्य

आरंभिक अध्यायों में हम यह देख चुके हैं कि इस युग में अधिकांश आचार्यों ने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए तथा पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए शृंगार रस को अपने काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय बनाया। जिन आचार्यों ने काव्यशास्त्र के विविधांगों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है, उनके ग्रंथों में भी लक्षणों के उदाहरणों में शृंगार एवं वीर रस की प्रधानता है। रीतिमुक्त कवियों, विशेष रूप से घनानंद के काव्य का मुख्य विषय भी 'प्रेम' ही है। वस्तुतः समग्र रूप से हिंदी रीतिकाव्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस काल की कविता में वास्तविक महत्त्व उसकी अभिव्यंजना पद्धति में ही निहित है। एक विद्वान समीक्षक के अनुसार उस काल की कविता में वास्तविक महत्त्व कविता के कहने की शैली, उसकी वक्रता, वाग्विदग्धता, शब्द चयन और मंडन-शिल्प का था। क्या कहा जाता है—इसका महत्त्व नहीं था, किस प्रकार कहा जाता है—इसी का सारा चमत्कार था।'[1] कोई भी कवि अपने युग की परिस्थितियों से निरपेक्ष रहकर अथवा अपने संस्कारों से विच्छिन्न होकर काव्य क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। बाह्य परिस्थितियाँ एवं कवि के विशिष्ट संस्कार ही उसे काव्य रचना करने की सामग्री प्रदान करते हैं। चूँकि रीतिकाव्य का समय कला प्रदर्शन का युग था, इसलिए इस काल के कवियों के काव्य में भी भावपक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष प्रमुख हो गया। आचार्य अमीरदास ने तो काव्य-स्वरूप-निर्धारण में कला विधान को महत्ता देते हुए स्पष्ट लिखा है कि—

गिरा सुहृदय कुख तै कढ़ै, लै पद अर्थ विचित्र।
द्वंद्व भाव भूषण सरस, कहत काव्य सुन मित्र ॥[2]

इसमें भाव-रस अनुभूति पक्ष के तथा शब्दार्थ-वैचित्र्य, छंद एवं अलंकार अभिव्यक्ति-पक्ष के सूचक हैं। स्पष्ट है कि कवि की भावानुभूति का सशक्त माध्यम भाषा है। डॉ. महेन्द्र कुमार के अनुसार काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम-भाषा अपने भीतर पद (शब्द) योजना अर्थात् शब्दों और उनके व्याकरण संबंधी प्रयोगों, अलंकारों तथा शब्दार्थ सौष्ठव को ठीक उसी प्रकार समेट कर आता है जिस प्रकार की रेखाएँ और उनका समूह, विविध रंगों की योजना तथा उनका कुशल प्रयोग—ये तीनों अवयव

चित्र की अभिव्यक्ति के लिए एक साथ चलते हैं।[3] यहाँ पर रीतिकाव्य की भाषा, शैली, अलंकार-योजना आदि अभिव्यक्ति के विभिन्न तत्त्वों का पृथक्-पृथक् रूप से विवेचन करना उचित प्रतीत होता है।

रीतिकाव्य की भाषा

सामान्य बोलचाल में व्यक्ति के अभिप्राय को दूसरों के समक्ष प्रकट करने वाले किसी भी साधन को 'भाषा' कह दिया जाता है[4] किंतु साहित्य में मुखोद्गीर्ण ध्वनि-संकेतों के उस सामूहिक प्रयोग को ही यह संज्ञा दी जाती है जो वक्ता के मानसिक बिंब, उसकी अनुभूति अथवा उसके विचार को उसके सजातीयों के समक्ष व्यक्त कर सके।[5] कवि की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के मध्य सूत्र स्थापित करने का कार्य भाषा द्वारा ही संभव होता है। जव कवि कल्पना जगत में विचरण करने लगता है और उसके भाव अभिव्यक्ति पाने के लिए मचल उठते हैं, तो भाषा ही उसकी भावानुभूति को सौंदर्यमय रूप में अभिव्यक्त करती है। 'मानव-मानस की अथाह दृश्य गहनताओं को भाषा दृश्य रूप प्रदान करती है। भाव और भाषा का संबंध ब्रह्म और जीव के संबंध की भाँति अखण्ड और चिरंतन है। भाषा-हीन मूक मानव की विवश-व्याकुलता की भाँति, सुहृद कवि हृदय की भावातिरेकजन्य अस्फुट वेदना का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इसके विपरीत भाषा-प्रयोग में निष्णात कवि शिथिल भावानुभूति को भी विलक्षण रूप से प्रभावकारी बना देता है।[5]

रीतिकालीन कवियों की काव्यभाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। यद्यपि 12वीं-13वीं शताब्दी से ही ब्रजभाषा के संकेत साहित्य में दिखाई देने लगे थे, किंतु इसका सबसे अधिक विकास 18वीं शताब्दी में हुआ। रीतिकाल में ब्रजभाषा जनसामान्य की भाषा से ऊपर उठकर शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा बन गई। इसका स्वरूप निश्चित्त हो गया तथा इसे अपना व्याकरण भी बना लिया। इस प्रकार विकासोन्मुख ब्रजभाषा रीतिकालीन कवियों की प्रिय भाषा बन गई। आरंभ में ब्रजभाषा का क्षेत्र मथुरा के आसपास के कुछ प्रदेश तक ही सीमित था, किंतु इसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर इतर क्षेत्रों के कवि भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। फलतः ब्रजभाषा मध्ययुगीन साहित्याकाश पर ध्रुव नक्षत्र के समान प्रतिष्ठित हो गई। डॉ. महेन्द्र कुमार के शब्दों में, 'जब यह भाषा एक बार उच्चकोटि के कवियों का कण्ठहार बन गई तो इसमें कविता करना दूसरों के लिए गौरव की बात हो गई, फलतः केवल ब्रजभाषा भाषी प्रदेशों के कवियों ने ही इसमें रचना नहीं की इससे इतर प्रदेशों के कवि भी सफलतापूर्वक इसमें अपने ग्रंथों का निर्माण कर गए। .... इतर प्रदेशों के निवासी इन कवियों के मन में ब्रजभाषा के क्षेत्रीय बंधन के विषय में किसी प्रकार की हीनभावना भी नहीं थी, ये लोग ब्रजभाषा पर अपना उतना ही अधिकार समझते थे

जितना कि ब्रजभाषा भाषी कवि समझा करते थे। वस्तुतः इसके प्रति कवियों का आकर्षण कुछ इतना बढ़ गया था कि जो कवि अन्य भाषाओं में रचना करते थे, वे भी इसमें रचना करने का लोभ-संवरण नहीं कर सके।'[7]

ब्रजभाषा का शब्द-कोश अत्यंत समृद्ध है। चूँकि यह भाषा विभिन्न शताब्दियों की यात्रा करते हुए साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हुई थी, संस्कृत का विपुल शब्द-समूह इसे विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था, जिसे इसने अपनी प्रकृति के अनुरूप तद्भव और तत्सम रूपों में ग्रहण कर लिया था, शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश से आरंभ से ही संबंधित होने के कारण उसकी शब्दावली इसकी सहायिका बन गई थी तथा मुगलशासकों की दरबारी भाषा अरबी-फारसी के समय में प्रतिष्ठित होने के कारण उनके शब्द-भण्डार में से भी कुछ जनप्रचलित शब्द भी ब्रजभाषा ने आत्मसात कर लिए थे अतः इस भाषा के शब्द-भण्डार का समृद्ध होना सहज स्वाभाविक ही था। स्पष्ट है कि जिस भाषा का शब्द-भण्डार ही इतना अधिक समृद्ध एवं संपन्न होगा तो उस भाषा से निर्मित साहित्य में विविध गुण स्वयमेव ही समाविष्ट हो गए होंगे। हिंदी रीतिकाव्य के शब्द-भण्डार को प्रमुखतः चार वर्गों में विभाजित करके देखा जा सकता है—तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी।

तत्सम

जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है कि रीति कवियों को संस्कृत भाषा का तत्सम शब्द-भण्डार विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था, जिसे उन्होंने ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ढालकर उसके माध्यम से इनकी काव्य-रचनाओं में ये शब्द बाहर से लाकर जुड़े हुए नहीं लगते। वस्तुतः रीतियुगीन कवियों ने दो प्रकार के संस्कृत तत्सम शब्दों को ग्रहण किया है—व्यावहारिक तथा पारिभाषिक। इनमें व्यावहारिक साधारणतः नायक-नायिकाओं की वेशभूषा, उनके रूप, व्यापारों और परिस्थितियों के अतिरिक्त उनके सखाओं और सखियों के विभिन्न व्यापारों, कामोद्दीपक उक्तियों और कामोद्दीपक पदार्थों के वर्णनों के साथ-ही-साथ उनके अनुभावों एवं संयोग और वियोग की दशाओं-संबंधी प्रसंगों में प्रचुर परिमाण में देखे जा सकते हैं जबकि पारिभाषिक यत्र-तत्र वहीं पर देखने को मिलते हैं, जहाँ पर इन लोगों ने कोई नवीन अप्रस्तुत दिया है या फिर विशिष्ट परिस्थिति से संबद्ध किसी प्रसंग की योजना करने का प्रयत्न किया है।[8] यहाँ पर कुछ व्यावहारिक और पारिभाषिक शब्दों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

व्यावहारिक— 'एकनि को मन मुसक्यानि सो हरत अरु
एकनि पें कुंकम छिरकी छबि छाजे हैं।
एकै पै गुलाल अनुराग रंग रंगी बाल

जिनके विलोकि मुख कोकनद लाजे है।
फूल कंदुकनि हनि आनन्द मगन करि
एकै सबै तिनके कलेस वृंद भाजे है।
चलि मिलि सुन्दरि बसंत केलि व्यानु आजु
सुन्दर कनक बड़े साहिब विराजे है।'[9]

'हेरत ही हरि लीनो हियो इन आल रसाल सिरीष जम्हीरन।
चंपक बेली गुलाब जुहीं पिंचमंद मधूक कदम्ब कुटीरनि॥
खोलत काम तथा पिक बोलत डोलत चंदल मंद समीरनि।
केसर हार सिंहारन हू करना कचनार कनेर करीरनि॥'[10]

इन पदों में मन, कुंकुम, अनुराग, मुख कोकनद, आनन्द, वृन्द, केलि, सुन्दर, चंपक, रसाल, मधूक, कदम्ब, काम, पिक, चंदन मंद तथा केसर—व्यावहारिक शब्द हैं, जो इन पदों में इस पर घुलमिल गए हैं कि वे कहीं बाहर से आए हुए नहीं लगते।

पारिभाषिक— 'सुरति न ताल रुतान की, उठ्यो न सुर ठहराय।
येरी राग बिगारी गो, बेरी बोल सुमाय॥'[11]

'मान करि मानिनी मनाए माने बावरीन।
कोऊ गुरुमाने सतगुरु मान मानती॥'[12]

इन उदाहरणों में भी ताल, तान, राग, मान, मानिनी, गुरुमानें, मानमानती आदि पारिभाषिक तत्सम शब्द विशिष्ट शास्त्रीय अर्थ देते हुए भी इतने सरल एवं स्पष्ट है कि सहृदय का ध्यान इनकी शास्त्रीयता की ओर न जाकर रसमयता की ओर ही अधिक जाता है। शृंगारिक रचनाओं के अतिरिक्त राज प्रशस्ति, दर्शन और भक्ति, प्रकृति, नीति आदि आदि विषयों से संबद्ध रचनाओं में भी व्यावहारिक और पारिभाषिक तत्सम शब्दों का बहुलता से प्रयोग हुआ है। राज प्रशस्ति विषयक रचनाओं में यदि व्यावहारिक तत्सम शब्दों की बहुलता दिखाई देती है तो दर्शन और भक्तपरक रचनाओं में पारिभाषिक तत्सम शब्दों का बाहुल्य है, उदाहरण—

राजप्रशस्ति— 'सरजन सुत नृप भोज भूमिसुरजन रच्छाकर।
भोज तनय नृप भोज सम दानि बिदितबर॥
रतन पुत्र नृप नाथ रतन जिमि ललित जोतिमय।
नाथ नंद तिमि सत्रुसाल नरनाथ महोदय॥
जग सत्रुसाल नंदन नवल सत्रुन उर सालत रहिय।
नृप भावसिंह मतिराम कहि सुजस अमल प्रतिदिन लहिय॥'[13]

दर्शन— 'प्रत्याहार करे, मन खेंचि कै धारन धारि रहे मन हीं।

धरि ध्यान रहे न गहे मन और सबे तजि दौर अंचचल हीं।
त्रिपुटी तजि साधि समाधि रहै तऊ ग्यांन नहीं इनतै कबहीं।
यहै मन आनि संदेह बिना बिनु ब्रह्म अनुग्रह ग्यांन नहीं।'[14]

भक्ति– 'भूमिलोक भुवलोक स्वर्गलोक महर्लोक
जनलोक तपलोक सत्यलोक थल में।
कहै पद्माकर अतल में बितल में
सुतल में रसातल में मंजु महातल में॥
त्यों ही तलातल में पताल में अचल चल
जेते जीव जंतु बसें भाखत सकल में।
बीच में न बिल में बिराजे बिस्नुथल में
सुगंगाजू के जल में अन्हाए एक पल में॥'[15]

स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियों ने विषय एवं भाव के अनुरूप शब्दों का चयन करके यथासंभव काव्य के सौष्ठव को बनाए रखने का प्रयास किया है। ऐसे तत्सम शब्द जो भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल पड़ते हों अथवा जिनसे भाषा का सौंदर्य नष्ट होता है, प्रायः नहीं के समान हैं। डॉ. महेन्द्र कुमार के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'रीति-कवियों की सभी विषयों-संबंधी रचनाओं के अंतर्गत संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है। ये शब्द व्यावहारिक–अर्थात् दैनिक जीवन से संबंध रखने वाले विभिन्न प्रकार के विषयों से संबद्ध तथा पारिभाषिक–अर्थात् विशिष्ट शास्त्रीय अर्थों में प्रयुक्त होने वाले, दोनों ही प्रकार के हैं। इनमें व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, पारिभाषिक शब्द दर्शन–संबंधी रचनाओं के सिवाय सर्वत्र अपवाद रूप में ही आते है–उनका अधिक खुलकर प्रयोग नहीं किया गया। ये शब्द साधारणतः ऐसे रहे हैं कि उनका अस्तित्व रचना के भीतर स्वयमेव प्रकट हो जाता है। व्यावहारिक शब्दों में अधिकांश उनके विपरीत कुछ इस प्रक़ार के हैं कि इन रचनाओं की भाषा– ब्रजभाषा में सहज रूप से घुले-मिले प्रतीत होते हैं, कारण ये प्रचलित एवं सरल हैं।'[16]

तद्भव शब्द

संस्कृत के शब्द-रूप सुदीर्घ प्रयोग-परंपरा के प्रभाव में घिसकर जब कुछ परिवर्तित हो जाते हैं तो वे तद्भव कहलाते हैं। मानव जीवन के विविधानुभव का सहज संसर्ग ऐसे शब्दों में निहित रहता है, इसलिए उनका अपना विशेष महत्त्व है। रीतिकाव्य में इन शब्दों का बहुलता से प्रयोग हुआ है। रीतिकाव्य में प्रयुक्त ये शब्द दो प्रकार के हैं–एक तो वे जो अपभ्रंश और प्राकृत भाषाओं से होते हुए ब्रजभाषा में आकर और अधिक विकृत हो गए तथा दूसरे वे जो सीधे संस्कृत से आकर तद्भव

रूप में प्रयुक्त हुए। तत्सम शब्दों को भावि तद्भव शब्द भी रीतिकालीन कविता में इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि इनकी पृथक रूप से प्रतीति नहीं हो पाती। विभिन्न विषयों से संबद्ध पदों में इनका सौंदर्य द्रष्टव्य हैं–

शृंगार– 'घर घर डोलति सुधर नर मोहिनी सी
उघरी फिरती सन्मुख सुख देनियां।
अरुण बसन बय तरुण चुक्त रस
कुलटा कुटिल युवति भरेनियां॥
जावक के मिस काम पावक जगाति सी
हिये को हरति यों करति कर सैंनियां।
वेणी गूंथिबो को पिकबेनी सों तनैनी डालै
पेनी चितबीन की चपल नैनी नैनियां॥'[17]

राजप्रशस्ति–'बाने फहराने घहराने घंटा गजन के
नाहीं ठहराने राव राने देस देस के।
नग महराने ग्राम नगर पराने सुनि
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के॥
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के
भौन को भलाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरारन ते कमठ करारे फूटे
केश के से पात बिहराने पफन सेस के॥'[18]

दर्शन और भक्ति–'दुवन दुरास प्यास भूखन के भेटे ब्रज
भूषन सुभूषन कियो है हियो कोमेरी।
सूझे द्वारिकापति बिरुझे द्वारका सों ब्रज–
क्वारिकानि बूझे कह्यो रह्यो यह को मेरी॥
दुरति ही देव दुरतिक्रम दसासों दीनी
सुरति पयान को सुरति हिय को मेरी।
है पतनी पति सों देखि गृह दीपति को
हरै विन सीपति बिपति यह को मेरी॥'[19]

देशज शब्द

देशज शब्दों से हमारा अभिप्राय उन शब्दों से है, जो ब्रजभाषा के अपने शब्द हैं, जिनका निर्माण समय, संस्कृति और विशिष्ट परिस्थितियों के परिवर्तन एवं विकास के परिणामस्वरूप आवश्यकतावश हुआ है। 'देशज शब्द किसी प्रदेश विशेष के लोक जीवन से संबंधित परंपराओं के वाहक होते हैं।'[20]

रीतिकालीन कवियों की काव्यभाषा में इन शब्दों का प्रयोग मुक्त रूप से हुआ है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

'लोक की लाज सों काज कहा मन मोहन से कुल कानि डगी है।
बोले कहा हम बावरी है वह सांवरि सूरति देख ठगी है॥'[21]

अथवा

'तेह के नैन करे वो कछू इत भाँति छबीलो उपाड़ कर है।
पटियां सुधार दुहू कर सो मुक्तान को लेतह माँग भरे हैं।
छोर दुकूल अठाइक प्रयान सो प्यार सो सीस तिया के घरे हैं॥'[22]

अथवा

'जरकसी फैटा चटकीलो लटपटे पेंच
ललके झगा में छिन छटा मनि माल की।
आयो बनि निकट निकुंजन ते जमुना तट
लटकीली चाल ऐंड मींड्तु मराल की॥'[23]

विदेशी शब्द

ब्रजभाषा के विकास काल में भारत की केंद्रीय सत्ता मुगल शासकों के हाथ में थी। मुगल-दरबार में अरबी-फारसी भाषाओं का साम्राज्य था। इसी के फलस्वरूप इन भाषाओं के कुछ शब्द जन-साधारण में प्रचलित हो गए। इस प्रभाव से रीतिक़ालीन कवि, जो कि राज आश्रय में ही काव्य रचना कर रहे थे अछूते नहीं रह सके। फलतः संस्कृत के तत्सम शब्दों, तद्भव शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी के भी अनेक शब्द इनकी काव्यभाषा के अंग बन गए। डॉ॰ महेन्द्र कुमार के अनुसार, 'रीतिकाल तक आते-आते चूँकि मुसलमानों का आधिपत्य समग्र ब्रजभाषाभाषी प्रदेश पर जम चुका था और अधिकांश कवि मुसलमानों अथवा मुसलमानों से संबद्ध आश्रयदाताओं के यहाँ अपने काव्य की रचना कर रहे थे अतएव जनसाधारण तथा राज दरबारों में प्रचलित इस प्रकार के शब्दों का ग्रहण एवं प्रयोग करना इनके लिए कठिन नहीं था। दूसरे उस समय की परिस्थितियों से प्रभावित लोगों की विचारधारा की सही अभिव्यक्ति इन्हीं के द्वारा संभव थी। ऐसी दशा में इनका यथास्थान प्रयोग करना उनके लिए अनिवार्य था। यही कारण है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र के आधार पर रचित होने पर भी यह काव्य इनके प्रयोग से अछूता नहीं रह सका—उसमें ये यत्र-तत्र पर्याप्त परिमाण में प्रयुक्त हुए हैं।'[24] रीतिकवियों के काव्य में प्रयुक्त अरबी-फारसी शब्दों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

'रगमग जरतारी जगमग सारी कलित कुनारी रंग दरसै।
रुचि रस के बहलनि रोचक चहलनि मजलिस महलनि सुख सरसै।

कोविद कवि कहरें तन छवि छहरें जोवन लहरें तकि तरसे।
मीते अलबेली ललित नवेली सुबरन बेली रस बरसे ॥'[25]

अथवा

'रोजगार तेरा रोज लगा है कदम साथ
गम साथ क्या है अवसोस कधी ना लाने।
जिसने दिया है दम वह दम नहीं देगा यार
बेगम गुजार बानेकि यों दालाने ॥
ग्वाल कवि हाजिर खुदा की बंदगी में रहु
उसकी पसंदगी के कार सब बजा लाने।
दाना छितराजा तहाँ जाना है तरुर अरु
पाना भी वही है जो दिलाना हक्क ताला ने ॥'[26]

तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों के अतिरिक्त ब्रजभाषा में कुछ ऐसे शब्द भी प्राप्त होते हैं जो विषय-विशेष संबंधी अनुभूतियों को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ हैं। ऐसे शब्दों को भावात्मक शब्दों की संज्ञा दी जाती है। वैसे तो सभी विषयों से संबद्ध काव्य-रचनाओं में इनका प्रयोग देखा जा सकता है, फिर भी शृंगारिक कविताओं में ये अधिक परिमाण में उपलब्ध होते हैं। इन शब्दों का मुख्य उद्देश्य यथासंभव अनुभूति को पूर्व रूप से अभिव्यक्ति प्रदान करना ही रहा है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

'आंगनबैठी सुनि पिय आवत चित्त झरोखन में लरक्यो परै।
घूंघट में घट में पट हूं में समाति न फूलि हियो फरक्यो परै।
नैनन ते सुख के अंसुवा मनों मोंर सरोजन ते सरक्यो परे।
मंद हंसे दुति दंत लसे मुख सुंदर दाड़िम सो दरक्यो परे।'[27]

इस उद्धरण में क्रियारूप लरक्यो परे, फरक्यों परे, सरक्यो परे तथा दरक्यो परे क्रमशः चित्त की आतुरता, हृदय के उल्लास, अश्रुओं के न रुक पाने तथा स्थिति न छिप सकने की व्यंजना कर रहे हैं।

व्याकरण

रीतिकालीन ब्रजभाषा व्याकरण की दृष्टि से भी पुष्ट है। ब्रजभाषा के विपुल साहित्य से इसकी समृद्ध परंपरा की पहचान होती है। ब्रजभाषा के व्याकरण के संबंध में डॉ. महेन्द्र कुमार ने लिखा है कि 'रीतिकवियों की भाषा ब्रजभाषा-व्याकरण की दृष्टि से उसके वर्तमान रूप के समान सुनिश्चित एवं शब्द-योजना के समान स्वच्छ कही जा सकती है। इसके वाक्य-विन्यास में सामान्यतः इस प्रकार का कोई व्यक्तिक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे अर्थ तक पहुँचने में किसी प्रकार की बाधा पड़ती हो,

अन्वय की भी कम आवश्यकता पड़ती है। इसमें संदेह नहीं कि लय और छंद-निरीह के कारण पद्य-वाक्य में सामान्य रूप से कर्त्ता, कर्म और क्रिया का क्रम गद्य-वाक्य के समान नहीं रह पाता, किंतु इन कवियों ने यथासंभव इस बात का भी ध्यान रखा है—सभी प्रकार के छंदों, विशेषताः बहुप्रचलित कवित्त, सवैया और दोहा-गत साधारण और अनेक क्रियाओं के संघात से युक्त दोनों ही प्रकार के वाक्य ऐसे हैं जिनमें इस दृष्टि से किसी भी प्रकार का सर्वसामान्य शैथिल्य नहीं दर्शाया जा सकता।'[28] उदाहरण के लिए एक पद देखा जा सकता है—

'पिय के परस तें सुतिय कंपमान होति
जिस में विकल अति कल नहिं घरे।
सुरति सकोचनि तें लोचन न खोलति है
मोचति द्रगन नीर शोचति चिते हरै।
नीबी के हुबल ही करोट मुरिलेत ऊँचे
सांसन समेत यों ससकि सिसकी भरै।
नवल रसिक लाल अंक माल ज्यों ज्यों भरे
त्यों त्यों नव बाल दौन हाथन हहा करै॥'[29]

इतनी अधिक विशेषताओं के होते हुए भी रीतिकालीन ब्रजभाषा को दोषरहित नहीं कहा जा सकता। इस काल के कवियों के काव्य में भी लिंग, वचन, विभक्ति, क्रिया और वाक्य-रचना संबंधी दोष दिखाई देते हैं। डॉ॰ नगेन्द्र ने देव के काव्य में व्याकरण संबंधी दोषों का उल्लेख करते हुए उसके कारण का विवेचन इस प्रकार किया है—'व्याकरण की दृष्टि से भी देव की भाषा अत्यंत सदोष है। उन्होंने स्थान-स्थान पर उसके नियमों का उल्लंघन किया और इसके मूल में भी वही तुक, अनुप्रास और यमक का मोह है। इसी मोह में पड़कर वे लिंग-संबंधी दोष, कारक-चिह्नों तथा क्रिया-रूपों की गड़बड़, वाक्य-विन्यास का शैथिल्य आदि अनेक व्याकरण दोषों के दोषी हुए हैं।'[30] रीति-काव्य के कुछ व्याकरण संबंधी दोषों को देखा जा सकता है—

लिंग और वचन संबंधी दोष

'हिंदी की अन्य उपभाषाओं के समान ब्रजभाषा के अंतर्गत भी लिंग दो हैं—स्त्रीलिंग और पुल्लिंग जिनमें निर्जीव वस्तुओं की द्योतक संज्ञाओं को भी रखा जाता है।'[31] प्राणियों की द्योतक पुल्लिंग संज्ञाओं के स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिए अ-कारान्त और ई-कारान्त शब्दों के अंत में अ और ई के स्थान पर इति अथवा इनी तथा आ--कारान्त और ओ-कारान्त अथवा ओ -कारान्त शब्दों और अथवा ओ के स्थान पर ई प्रत्यय लगाया जाता है।[32] वचनों के संबंध में भी ब्रजभाषा के अंतर्गत हिंदी की सभी उपभाषाओं की तरह दो ही भेद होते हैं—एक वचन और बहुवचन,

किंतु इसका अस्तित्व कारक एवं विभक्तियों से पृथक् नहीं होता।[33] किंतु रीतिकाव्य में इसके कुछ विपरीत प्रयोग भी दिखाई देते हैं, जिन्हें व्याकरणिक दोष भी कहा जाएगा। जैसे—

'काह सखी सिखयो नवला कह मान की रीति सयान सों कांची।
बोली न बाल बोलावात लाल भरी गति मान विलोकन नांची।
प्रात पयान बन्यो परदेस को बात बनाय कह्यो यह सांची।
वो हरुये हँसि बोलि दियो अकुलाय कह्यो पिय झूंठ की सांची।'[34]

इस पद में सिखयो 'नवला' तथा 'बात बनाय कह्यो' प्रयोग व्याकरणिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है, क्योंकि नवला के साथ सिखाई और बात के साथ कही क्रिया रूप होने पर ही दोनों कर्मों का स्त्रीलिंग द्योतित होता।

विभक्ति दोष

कविता की भाषा में कारक-चिह्नों का प्रयोग नियमित रूप से नहीं हो सकता—भाषा की कसावट को बनाए रखने के लिए कविजन इनको छोड़ भी देते हैं। ब्रजभाषा के कवियों ने विशेषकर रीतिकालीन कवियों ने प्रायः ऐसा किया है।[35] जैसे—

'सात्रि संवार सिंगार भली विधि संग न कहूं ले जे हो अरामहि।
हे मग बीच रसाल को वृक्ष उहीं तर बैठि बराहि हो घामहि॥
वो फल देन को वीर सुरद्रुम सीत कोचंद मिले सुख जामहि।
या विधि बाल सुनाइ सखीन कहो कहो मम आजु करो कछु कामहि॥'[36]

इस उद्धरण के अंतर्गत सिंगार कहूं, मग, उहीं, पफल, सुरद्रुम और बाल के साथ किसी भी विभक्ति का प्रयोग नहीं हुआ है तथा आराम, धाम, जाम और काम के साथ 'हि' लगाकर तथा सखी के साथ बहुवचन बोधक 'न' लगाकर ही विभक्ति का काम ले लिया गया है। इसी प्रकार 'चंद की मयूरवनि फफोका परेगात हैं'[37]. में मयूरवनि के साथ 'सों' का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

क्रिया-दोष

सामान्यतः मूल क्रिया के दो भेद होते हैं—तिङन्त और कृदन्त, जिनमें प्राचीन ब्रजभाषा के अंतर्गत तो 'तिङन्त' के कतिपय रूप उपलब्ध हो जाते हैं, किंतु अब तक आते-जाते खड़ी बोली में इनकी स्थिति अपवाद के लिए ही रह गई है।[38] रीतिकालीन कवियों ने कारक-विभक्तियों के समान तुक मिलाने के लिए ही कतिपय स्थलों पर क्रिया रूपों का उपयुक्त प्रयोग नहीं किया, जैसे—

'ससिनाथ सुजान को आइबो बनी फुंफदी कों संवारति है।
तिय नारि नवाइ विहारति है, दुरिके पिय पंथ निहारति है॥'[39]

यहाँ पर 'संवारति' और 'निहारति' के प्रवाह में 'विहारति' को प्रयोग अशुद्ध है। 'विहारति' के स्थान पर 'विहरति' का प्रयोग उचित एवं अर्थपूर्ण होगा। इसी प्रकार निम्न उद्धरण में 'श्रमनो' और क्रमनो—क्रियार्थक संज्ञाएं 'श्रम' और 'क्रम'—संज्ञाओं से ही बना ली गई हैं जबकि ये केवल धातुओं में 'नो' प्रत्यय लगने से बनती हैं -

'तुम पै भो छपानली बाल सरो झलकै झुकि झांके सहै श्रमनो।
मुख दीपक ऊरू सफा सुकुमारि सोखे लगे जाको रह क्रमनो॥'[40]

वाक्य-दोष

वाक्य का मूल उद्देश्य प्रोक्ता के अभिप्राय को प्रकट करने का होता है, जिसकी पूर्ति वाक्य का, यथास्थान प्रयुक्त प्रत्येक पद करता है। यदि किसी पद के स्थान भ्रष्ट होने, उसके अनावश्यक रूप में आ जाने अथवा चले जाने से अभिप्राय को समझने में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न होता है तो वाक्य दुष्ट बन जाता है।[41] चूँकि रीतिकालीन काव्य की प्रकृति भाषा संयम की अपेक्षा कला-प्रदर्शन की ओर अधिक थी, अतः उनकी काव्य-भाषा में लय और तुक कोबनाए रखने के लिए इस प्रकार के वाक्य-दोषों का आ जाना कोई विस्मय की बात नहीं है। यद्यपि इस युग के काव्यकार सुशिक्षित एवं काव्य-शास्त्र के ज्ञाता थे, फिर भी उनकी भाषा में वाक्य-विन्यास संबंधी दोष देखे जा सकते हैं, जैसे—

'जाकी उजराई तें चखन चकाचौंधी लगै
काटे पाप पुंजन समखारे घमसान
लहर उठावै प्रतिकूलन करार ठाहै
देखी सदामार गज करत मुक्त दान॥'[42]

इस पद के प्रथम चरण में 'समर' के विशेषण 'घमसान' को उससे दूर रखा गया है, जिससे वाक्य शिथिल बन गया है। इसके अतिरिक्त 'पाप पुंजन' को बिना विभक्ति के इस प्रकार रखा गया है कि यह ज्ञात ही नहीं होता कि ये शब्द किस वाक्यांश से संबंधित हैं तथा वाक्य में इनकी क्या स्थिति है। इसी पद के द्वितीय चरण में 'देखी सदामार' की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की है, जिससे अर्थ ग्रहण करने में पाठक को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

'छरी सपल्लव लालकार लखि तमाल की हाल।
कुम्हिलानी उर साल धरि फूल-माल ज्यों बाल॥'[43]

इस पद में 'लखि' और 'उरसाल' एक दूसरे से अत्यंत दूर हो गए हैं तथा 'हाल' को भी उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। इसका अन्वय इस प्रकार होगा—

'तमाल की सपल्लव छरी लालकर(में) लखि (ओरु) उर (में) साल धरि,

फूल-माल-ज्यों बाल कुम्हिलानी।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि रीतिकालीन काव्य में कवि की भावानुभूति को अभिव्यक्त करने वाली भाषा में कुछ एक दोष दिखाई देते हैं, किंतु ये दोष परिमाण में इतने अधिक नहीं है कि इन्हें रीति कवियों की भाषा का प्रमुख अंग मान लिया जाए। वास्तव में इन कवियों ने लय एवं तुक तथा किसी विशिष्ट गुण की सृष्टि के लिए ही व्याकरण संबंधी नियमों का उल्लंघन किया है। 'ऐसी दशा में इन्हें न तो व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने का दोषी ही ठहराया जा सकता है और न उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा व्याकरण से वे अपरिचित थे। इस प्रकार समग्र रूप से यह कह सकते हैं कि निष्कर्षतः रीतिकवियों की भाषा वही लोक विश्रुत ब्रजभाषा है जो युगों से इस देश के विस्तृत भू-भाग की जन और काव्य भाषा रही है तथा आज तक आते-आते जिसका शब्द भण्डार अत्यंत समृद्ध तथा व्याकरण सुनिश्चित हो गया है।'[44]

भाषा-सौष्ठव

शब्द-भण्डार एवं व्याकरण के अतिरिक्त शब्द और अर्थ के प्रसाधक तत्त्व काव्य के सौंदर्य को निखार कर उनकी आस्वादय योग्यता को बढ़ा देते हैं। इन प्रसाधक तत्त्वों को भाषा-सौष्ठव के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ॰ महेन्द्र कुमार ने इस विषय के संबंध में लिखा है कि 'काव्य की भाषा के लिए शब्द-भण्डार और व्याकरण के समान ही सौष्ठव का होना भी अनिवार्य है--शब्द और व्याकरण जहाँ अपने समन्वित योग द्वारा भाषा को बिंब की अभिव्यक्ति का माध्यम बनने में समर्थ बनाते हैं, वहाँ सौष्ठव इसे समग्र रूप से आकर्षण के योग्य बनाता है। सौष्ठव से हमारा अभिप्राय भाषा-गत उस सौंदर्य से है जो सामान्यतः उसके विभिन्न अवयवों के औचित्य तथा प्रसाधन के अतिरिक्त तद्गत बिंब की ग्राह्यता और आह्लादकता के साथ भी विशेष संबंध रखता है।'[45] भाषा सौष्ठव में अलंकारों, काव्य-गुणों, शब्द-शक्तियों, मुहावरें, कहावतों तथा उक्ति वैचित्र्य का विशेष योगदान होता है। अतः यहाँ पर एक-एक तत्त्व के आधार पर रीति-काव्य की अभिव्यंजना पद्धति का मूल्यांकन करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

काव्य-गुण

'गुण' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे—विशेषता, शोभाकारी या आकर्षक धर्म, दोषाभाव आदि। रीतिकालीन कवि आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्री आचार्यों की भाँति गुणों को प्रकारांतर से काव्य का आधारभूत तत्त्व माना है। आचार्य सोमनाथ ने गुण को रस-सारस्य को हेतु मानते हुए कहा है —

'कवितादोष विहीन हूँ, बिन गुन लसै न मित्र'[46]

+ + + +

—रस सरसाई को जो ठेत

ताहि कहत गुन बुद्धि निकेत ॥[47]

आचार्य अमीरदास के अनुसार काव्य के रचनापरक स्वरूप को उत्कर्ष प्रदान कर रस-पोषण करने वाली विशेषता जिस ततत्व में है, वह गुण है—

'कुरहि रसहि उत्कर्ष ज़ो रचना कर गुण जान।'[48]

वस्तुतः काव्य के तीन प्रमुख गुण सभी विद्वानों द्वारा स्वीकार किए गए हैं— माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। इनमें से माधुर्य गुण की स्थिति शृंगार, करुण और शांत— इन तीन रसों में बताते हुए इसकी व्यंजना के लिए ट, ठ, ड, ढ वर्णों तथा समास का अभाव, र्-कार, ण्-कार और अनुस्वार—युक्त वर्णों का प्रयोग अनिवार्य माना गया है।[49] ओज के लिए कर्कश ध्वनियों अर्थात् ट, ठ, ड, ढ, श, ष, रेफ-युक्त अक्षर, प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ वर्णों का संयोग एवं लम्बे समासों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए इसकी स्थिति वीर, बीभत्स और रौद्र में मानी गई हैं।[50] प्रसाद गुण की स्थिति सभी रसों में मानी गई है तथा इसकी विशेषता इसी में निहित है कि रचना के श्रवण मात्र से उसका प्रभाव सूखे ईंधन में व्याप्त होने वाली अग्नि के समान अत्यंत क्षीप्र होता है।[51]

रीतिकालीन काव्य में किसी विषय से संबंधित पदों में किसी गुण का आधिक्य अधिक दिखाई देता है तो किसी में किसी का। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

माधुर्य गुण—'कुंदन कौ रंगु फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आंखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई ॥
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरे सी निकाई ॥'[52]

इस पद में सर्वत्र श्रवणप्रिय वर्णों की योजना की गई है। केवल 'मिठाई' शब्द में 'ठ' कठोर ध्वनि आ गई है, किंतु वह भी अन्य मधुर ध्वनियों के बीच में वैशिष्ट्य की सृष्टि करने के कारण ग्राह्य है। इस ध्वनि के प्रयोग से कठोरता का बोध नहीं होता। आचार्य सोमनाथ के काव्य का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

'साजि अभिसार चारु कंचन की डार ऐसी,
चली सुकुमारी प्रान प्यारी नंदनंद की।
सुन्दर दुकूल अंग सहज सुगंध संग,
गुंजन मलिंद पूरि उमग अनंद की।
सोमनाथ भूषन अनंत जगमग होत,
जीवति चलनि सुरपति के गयंद की।

फैलि गई कुंज-कुंज प्रति मंजु मंजरीति।
उज्जल जुन्हैया चंद बदन अमंद की॥'[53]

पहले पद के समान इस पद में भी सर्वत्र श्रुतिप्रिय वर्णों का प्रयोग हुआ है। मधुरता और कोमलता की व्यंजना ही कवि को इस संदर्भ में अभीष्ट रही है।

ओजगुण– 'टटकी लगनि चटकीली उमगति गौन
लटकी लटक नटकी सी कला लटकयो।
त्रिबली पलोटन सलोट लटपटी सारी
चोट चटपटरी अटपटी चाल चटक्यो॥
चुकुटी चटक त्रिकुटी तट मटक मन
भृकुटी कुटिल कोटि भावन में भटकयो।
टटकी बटल बोल पाटल कपोल देव
दीपति पटल में अटल ह्वे कै अटक्यौ॥'[54]

इस उद्धरण में सर्वत्र ओज गुण व्यंजक कटु वर्ण 'ट' की योजना हुई है, किंतु ये कठोर ध्वनियाँ रचना का दोष बनने की अपेक्षा चित्त-विस्तारक भाव के लिए सहयोगी बनकर उपस्थित हुई हैं।

आचार्य अमीरदास की काव्य-भाषा में ओज-गुण के सुंदर उदाहरण देखे जा सकते हैं। शेरसिंह -संग्राम नामक रचना में वज्रसम चमकती- तड़पती तलवारों, अग्नि-ज्वाल बरसाने वाले तोप के गोलों, धांसे की धमाधम से दहलते शत्रुओं के नगरों और धराशायी होते दुर्गों के चित्रण में उनकी भाषा के इसी गुण के दर्शन होते हैं–

'कठिन कराल करवालनि के जाल ताहि
बज्रन की पांतिनि की पांति दरसत हैं।
भनत अमीर तोप गज्जब गुगारनि के
गोला गोल बरसन बारि बरसत है।
धोंसा की धमक घम घम के धमाके हैं।
नगर जिगर करि सार सरसत है।
बीर सेरसिंह मिसि प्रबल घटा के पुंज
सत्रुनि के गढ़नि कौं भूमि परसत हैं॥[55]

प्रसाद-गुण

रीतिकालीन कवियों के शृंगारिक, राज प्रशस्तिपरक, दर्शन एवं भक्तिपरक तथा प्रकृति संबंधी रचनाओं में प्रसाद गुण का वैशिष्ट्य सरलता से देखा जा सकता है। प्रसाद गुण से संपन्न शब्दावली में सीधे, सरल एवं सहज ढंग से भाव को अभिव्यक्त

करने में रीतियुगीन कवि सिद्धहस्त हैं। प्रकृति संबंधी रचनाओं में, जहाँ शरद् ऋतु के दृश्यों की स्वच्छता को रूपायित किया गया है, दर्शन संबंधी रचनाओं में, जहाँ इष्ट देव के गुणों का बखान किया गया है, राज-प्रशस्ति की रचनाओं में जहाँ राजा की दानवीरता एवं वैभव का वर्णन व्याप्त है तथा नीति-परक रचनाओं में जहाँ कुसंगति के दोषों और मित्रता के निर्वाह के लिए जटायु के उत्सर्ग का प्रसंग वर्णित है, वहाँ-वहाँ प्रसाद गुण का उत्कर्ष अपने सहज रूप में द्रष्टव्य है, जैसे—

'चंपक भौलसरी जहं राजत छाजत भीर लता लवली।
कूजत मोर मधूपन कोकल खेलत कॉलेज की अबलो।
नीर समीर बहे बहु भांतिन संग विषे सजनी सबली।
खेल करें अबला घनस्याम तहाँ रु सरीर महां नवली ॥'[56]

शब्द शक्ति

शब्द के ध्वनित अर्थ को प्रकाशित करने वाली शक्ति को शब्द-शक्ति कहा जाता है। 'इन्हीं शक्तियों के कारण शब्द का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। ये शक्तियाँ किसी शब्द के उच्चारित होने पर मनुष्य के हृदय पर उसका पूर्ण प्रभाव डालती है। यह प्रभाव मुख्यतः किसी शब्द के अर्थ से संबंध रखता है। यह अर्थ शक्ति के कारण ही अपना प्रभाव श्रवण करने वालों पर डालता है।'[57] वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्दों के आधार पर शब्द शक्तियों की संख्या तीन मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्य रचनाओं में विषय एवं आवश्यकता के अनुसार इन तीनों भेदों को ग्रहण किया है।

अभिधा : जिसे शब्द शक्ति के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा शब्द-शक्ति कहा जाता है। इसका संबंध केवल शब्द के उस अर्थ के साथ ही रहता है जिसमें किसी भी प्रकार के शिल्प की अपेक्षा नहीं रहती। यह अपने मूलरूप में प्रस्तुत होकर विषय का सही रूप ग्रहण करा देता है, फलतः विषय की प्रतीति अथवा अनुभूति होने से पूर्व किसी भी प्रकार का मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता। दूसरे, कभी-कभी यह अपने आप में इतना रमणीक भी होता है कि इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन अर्थात् इसे सूक्ष्मता की ओर घसीट ले जाना अधिक चारुता उत्पन्न नहीं करता। काव्यशास्त्र में अभिधा अथवा वाच्यार्थ के इस रूप को गुणीभूत व्यंग्य नाम से अभिहित किया जाता है।[58] इसी संदर्भ में पं॰ रामदहिन मिश्र का मत है, 'काव्य में चित्र योजना दृश्य स्थापना या मूर्तिविधान इसी के द्वारा संभव है। अर्थ के चित्र-धर्म से अपरिस्पुफट भाव भी परिस्फुट हो जाता है।'[59]

यह सत्य है कि रीतियुगीन अधिकांश कवि आचार्यों ने अभिधा शब्द-शक्ति के संदर्भ में अपने मत व्यक्त नहीं किए हैं किंतु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि

उनका काव्य अभिधा शक्ति से विमुक्त है। रीति काव्य में प्रयुक्त वाचक शब्दों में से अधिकांशतः ऐसे हैं जो अपने विशिष्ट अभिधेयार्थ द्वारा बिंब की स्वच्छ प्रतीति कराने के साथ उसमें अद्वितीय सौंदर्य की सृष्टि करने में भी समर्थ हुए हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

(क) देखि तिया रतिघाम की और कौं स्याम की ओर सकाम निहारी।[60]

(ख) प्राणपती सुखसर्वसु वे उनसों गुण कोगर्व करोंगी।[61]

(ग) जैती करी अनभावती तूं मनभावती तेती सजाइ कों पाई।[62]

इन उद्धरणों के रेखांकित शब्दों का वाच्यर्थ रसास्वाद में पूर्ण रूप से सहायक है। यदि इन शब्दों के स्थान पर किसी अन्य समानार्थक शब्द को रख दिया जाए तो काव्य-सौष्ठव अवश्य नष्ट हो जाएगा। अतः इन शब्दों में किसी सूक्ष्म अर्थ को खोजना व्यर्थ है।

लक्षणा : मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन की सहायता से जिस शब्द शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से संबंधित किसी अर्थ की प्रतीति होती है, उसे लक्षणा शब्द-शक्ति कहा जाता है। डॉ॰ महेन्द्र कुमार ने लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्ति को एक साथ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, 'अपनी रमणीयता के कारण वाच्यार्थ रसास्वाद में सहायक होता ही है, किंतु यदि इसको सूक्ष्मता प्रदान की जाय तो उससे भी रस की आस्वादीनयता में वृद्धि हो जाती है। अर्थगत यह सूक्ष्मता लक्षणा और व्यंजना से आती है। अभिधा तो केवल काव्य-विषय का ग्रहण ही करा सकती है, जबकि लक्षणा उसके मूर्तरूप की अपेक्षा उसके गुणों के निकट ले जाती है तथा व्यंजना से इन गुणों के अंतःक्षेत्र की झलक तक मिल जाती है।'[63] रीतियुगीन कवियों के काव्य में लक्षणा शब्दा-शक्ति का बहुलता से प्रयोग हुआ है। इसी शब्द-शक्ति के माध्यम से उनका काव्य-सौंदर्य निखर कर सामने आया है, जैसे–

'तुम कहा करो कान काम तें अटकि रहे
तुमको न दोस सो तो आपनोई भाग है।
आय मेरे भौन बड़े भोर उठि प्यार ही तें
अति हरबरन बनाय बांधी पाग है॥
मेरे ही वियोग रहे जागत सकल राति
गात अलसात मेरो परम सुहाग है।
मनहु क़ी जानी प्रान प्यारे 'मतिराम' यहै
नैनहि हूँ माहि पाइयते अनुराग है॥'[64]

इस उद्धरण में वाच्यार्थ से तो दुःखिनी नायिका अपराधी नायक की प्रशंसा करती हुई प्रतीत होती है, किंतु स्पष्ट है कि दुष्ट पति के प्रति स्त्री प्रशंसात्मक उक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकती। अतः मुख्यार्थ का बोध होने पर यहाँ प्रयोजन

के द्वारा मुख्यार्थ से संबंधित अतिरिक्त अर्थ ही प्रमुख है। लक्षणा के आधार पर 'प्यार ही तें', 'मेरे ही वियोग रहे', 'परम सुहाग है', और 'नैनहि हूँ माहि पाइयतु अनुराग है' पदों का 'प्यार न होने के कारण', 'मेरा तनिक भी तुमको ध्यान न आया', 'यह मेरा दुर्भाग्य है' तथा 'तुम्हारे नेत्रों से भी स्पष्ट है कि मुझसे प्रेम नहीं करती, कारण इनकी अरुणिमा यह प्रकट कर रही है कि रात भर मुझे त्याग कर दूसरी स्त्री के यहाँ रमे हो लक्ष्यार्थ ज्ञात हो जाता है।[65]

व्यंजना : जब अभिधा और लक्षणा के द्वारा अर्थ प्रकाशित नहीं हो पाता, तब जिस शब्द-शक्ति के द्वारा अर्थ का उद्घाटन संभव हो पाता है, उसे व्यंजना शब्द शक्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस शक्ति से शब्द व अर्थ के गौण होने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो, उसे व्यंजना कहते हैं। हेमचन्द्र ने बताया है कि अभिधा से जो अर्थ स्पष्ट होता है, उसी में सहृदय तथा प्रतिभावान श्रोता व्यंजना शक्ति की सहायता से एक नवीन अर्थ की उद्भावना करता है। व्यंजना के द्वारा जो अर्थ उद्भूत होता है, उसे व्यंग्यार्थ तथा जिस शब्द का यह अर्थ होता है, उसे व्यंजक कहा जाता है।[66] रीतिकाव्य में उपलब्ध व्यंजना शब्द-शक्ति के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) 'बारी बहू मुरझानी बिलोकि जिठानी करै उपचार किती को।
त्यौं पदमाकर ऊँची उसास लखें मुख सास को ह्वे रह्यो फीको।
एक कहै इनै डीठि लगी पर भेद न कोऊ लहै दुलही को।
ह्वै कै अजान जु कान्ह सों कीनो सुमान भयो वहे ज्यान है जीको ॥'[67]

इस उद्धरण में बारी, फीको, मान, उपचार, भेद और ज्यान शब्दों के अर्थ द्रष्टव्य है। 'बारी' दो के अर्थ होते हैं—वाटिका और कमवयस् की, 'फीको' के अर्थ हैं—स्वादहीन, निस्तेज, कांतिरहित, 'मान' के अर्थ हैं—कोप, आदर, स्वाभिमान, सत्कार, 'उपचार' के अर्थ हैं—अभ्यास, सेवा, शिष्टाचार, 'भेद' के अर्थ हैं—रहस्य, अंतर तथा 'ज्यान' के अर्थ हैं—जिलाने वाला, हानि पहुँचाने वाला। क्योंकि यहाँ कलहान्तरिता के पश्चाताप का उल्लेख है, अतः इस प्रसंग में इन शब्दों के क्रमशः अर्थ इस प्रकार होंगे—कमवयस् की कांतिहीन, कोप, सेवा, रहस्य और हानि। स्पष्ट है कि इन अनेकार्थी शब्दों के विशिष्ट अर्थों की प्रतीति संदर्भ के द्वारा होने के कारण यहाँ पर शाब्दी व्यंजना शक्ति है।

'उदित भये शशि उदित भे, कुमुद, चकोर विनोद।
पफैलत दुति पफलन लगे, परिमल अमित अमोद ॥'[68]

इस पद में 'उदित' और 'फैलन' शब्दों के अर्थ क्रमशः 'प्रकट होना' और 'उठना' तथा 'प्रकाशित होना' और 'व्याप्त होना' लिंग के आधार पर ज्ञात हो रहे हैं, अतः इनमें भी शाब्दी व्यंजना है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवि

शब्द की तीनों शक्तियों का प्रयोग करने में कुशल हस्त थे। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस युग के कवियों को भाषा पर असाधारण अधिकार था, जिसके पफलस्वरूप इन्होंने अपनी रचनाओं को विशिष्ट चमत्कार से समन्वित कर दिया।

मुहावरे एवं कहावतें

मुहावरे और कहावतें किसी भी प्रौढ़ भाषा के सहज गुण होते हैं। यद्यपि इनके मूल में लक्षणा शक्ति काम करती है तथापि इनके प्रयोग से उत्पन्न भाषा-गत सौंदर्य कुछ और ही होता है—मुहावरे भाषा में चलतापन और कहावतें इसमें प्रभावकता लाती हैं, जो प्रत्येक सफल कवि को काम्य हुआ करते हैं। रीतिकवियों ने भी अपनी रचनाओं में इन दोनों बातों का सन्निवेश करने के लिए यथावसर मुहावरे और लोकोक्तियों का खुलकर प्रयोग किया है।[69] इस युग के काव्य मुहावरे एवं कहावतों के प्रयोग की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें इन सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग सर्वत्र विषयानुरूप ही हुआ है। शृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति और दर्शन संबंधी रचनाओं में मुहावरों का प्राचुर्य है तो नीति और उद्धव-गोपी-संवाद संबंधी प्रसंगों में कहावतों का आधिक्य है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

(क) 'ग्रीष्म के भानु सो खुमान को प्रताप देखि
तारे सम तारे गये मूंदि तुरकन के॥'[70]

(ख) 'बारपके यथके अंग सवै यदि मीच गरेई परी हरहार सी।
देखे दसा किन आपनी तूं अब हाथ के कंगन कों कहा आरसी॥'[71]

(ग) 'कहा नशावत शोक को, सूखो ज्ञान बताय।
ऊधो आप सुनी कहूं, प्यास ओस से जाय॥'[72]

(घ) 'रावरे नेहको लाज तजी अरु गेह के काज सबे बिसराए।
डारि हिद गुरु लोगन को डर गाम चवाई में नाम धराए॥
हेत कियो हम जो तो कहाँ तुम तो मतिराम सबै बिसराए।
कोऊ कितेक उपाय करो कहुं होत हैं आपुने पीउ पराए॥'[73]

उक्ति-वैचित्र्य

उक्ति के वैचित्र्य के द्वारा कवि काव्य में सहृदय के मन को रंजित एवं आनन्दित करने की क्षमता का समावेश करता है। किसी उक्ति विशेष को माध्यम से भाषा में वह तीखापन आ जाता है जो व्यंग्य को सहज ग्राह्य बनकर सहृदय को आह्लादित कर देता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा है कि वक्रोक्ति से अभिप्राय कविमणिति- गत वैदग्घन्य अर्थात् कवि-कर्म-कौशल जन्य शब्दार्थ चारुता है—

'काऽसो, वक्रोक्तिरेव। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्यभंगीभणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं, तस्यभंगीविच्छित्रिः तया मीणतिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।'[74]

अतः रीतिकवियों के उक्ति वैचित्र्य की परीक्षा के लिए कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' के अंतर्गत दिए गए वक्रता के निम्नलिखित छः रूपों को आधार बनाना अधिक समीचीन होगा।

वर्ण-विन्यास वक्रता

वर्ण विन्यास वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय स्पष्टतः अनुप्रास योजना[75]—और इसके अतिरिक्त वर्गान्त योगी स्पर्शी तू, लू, नू आदि वर्णों के द्वित्व तथा रेफादि—युक्त वर्णों की आवृत्ति से रहा है,[76] जिसके लिए वे विषयानुकूलता, सौन्दर्य, नवीनता तथा प्रसाद गुण आवश्यक मानते हैं।[77] इसके अंतर्गत उन्होंने यमक का भी अंतर्भाव कर दिया है।[78] रीतिकालीन काव्य में इन सभी तत्त्वों का कौशलपूर्ण निर्वाह हुआ है। 'यमक' को छोड़कर सभी तत्त्वों के आधार पर रीतिकालीन काव्य का मूल्यांकन हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर मात्र एक अलंकार की चर्चा ना करके 'यमक' के सौंदर्य का वर्णन रीतिकालीन कवियों की अलंकार-योजना के अंतर्गत करना अधिक उपयुक्त होगा। अतः 'यमक' अलंकार के उदाहरण बाद में देखे जा सकते हैं।

पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध वक्रता

वर्ण के उपरांत काव्य का दूसरा अवयव 'पद' है। सार्थक वर्ण-समूह को ही पद कहा जाता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इसके दो अंग हैं—प्रकृति और प्रत्यय, जिनका अपने स्थान पर विशेष महत्त्व होता है। कुन्तक ने इनके वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोग को ही पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध वक्रता—इन दो पृथक् संज्ञाओं से अभिहित करते हुए इनके उपभेदों का विवेचन किया है।[79] पदपूर्वार्द्ध वक्रता के आठ भेद माने गए हैं—रूढि-वैचित्र्य-वक्रता, पर्याय-वक्रता, उपचार-वक्रता, संवृत्ति वक्रता, विशेषण-वक्रता, वृत्तिवक्रता, लिंग-वैचित्र्य वक्रता तथा क्रिया-वैचित्र्य वक्रता। इनमें से रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय कोश तथा लोक व्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ के अंतर्गत लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने से है जबकि पर्याय वक्रता की सपफलता वे पर्यायवाची शब्दों को उनकी आत्मा के अनुसार प्रयोग करने में मानते हैं। उपचार वक्रता जहाँ साम्यमूलक अलंकार—व्यापार का प्रयोग मात्र है, वहाँ विशेषता का वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोग विशेषण प्रधान अलंकारों की कोटि में रखा जा सकता है—वैसे अलंकार के अभाव में भी विशेषण वस्तु-वर्णन को सुंदर बना देते हैं। संवृत्ति वक्रता का संबंध क्रमशः संज्ञा आदि के गोपन तथा समस्त-पदावली की योजना से उत्पन्न

चमत्कार से है—लिंग और क्रिया के विविध प्रयोगों से भी विशिष्ट सौंदर्य की सृष्टि होती है। इसी प्रकार दूसरी ओर 1. काल 2. कारक, 3. वचन, 4 पुरुष 5. उपग्रह (धातुपद) — सूचक प्रत्ययों तथा निपातन आदि स्वतंत्र प्रत्ययों के कुशल प्रयोग होने से ये सभी पदपरार्द्ध वक्रता के उपभेद हो जाते हैं।[80]

रीतिकालीन कवि ब्रजभाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे, अतएव उनकी भाषा में इन सभी विशेषताओं का प्रयोग वैज्ञानिक एवं साहित्यिक दृष्टि से स्वच्छ एवं सौंदर्यवर्द्धक है। यहाँ पर विस्तार भय से इन उपभेदों का एक-एक उदाहरण ही दिया जा रहा है—

रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता : 'केलि करि कला सों अमंद दुति चंद्मुखी,
रूप की कला सी परजंक पै ठहरी गई।
लागि पिय हिय सों सुहाग सनभानभरी,
पागि तन मन अनुराग में गहरी गई।
सोमनाथ सुन्दर प्रफुल्लित कमलवारी,
सौरभ समीर आनि अचका फहरी गई।
टरि गई नींद, सब सुखन बिसरी गई,
गिरि गई मति तन ताप सी छहरी गई।'[81]

यहाँ पर रेखांकित शब्द अपने विशिष्ट अर्थों द्वारा लोकोत्तर चमत्कार को सिद्ध कर रहे हैं।

पर्याय-वक्रता : 'मोहनि मंत्रनि मनमोहन कियो ते बस
बारन ज्यों बांधि राखे तामरस ताग सों।
कवि मतिराम भाली अलि सों गुविन्द कीन्हों
मंडित चरन अरविन्द के पराग सों।
ऐसो पति पायो बड़े भागनि सों प्यारी सदा
सुबरन हीकों पथिलावत सुहाग सों।
क्याम स्याम कहिए सिंगार रस राच्यौ ताते
लाल लाल कहिए संग्यो है अनुराग सों॥'[82]

इस उद्धरण में 'होहनि' (मोहने वाली), 'मनमोहन', 'आली' (भृमरी), 'सुबरन' (सोना), 'सुहाग' (सुहागा) 'स्याम' और 'लाल' शब्दों के प्रचलित अर्थों से भिन्न अर्थों में प्रयोग करके सौंदर्य उत्पन्न किया गया है।

विशेषण तथा क्रियाविशेषण वक्रता

चंचल चलाकें बेगबंत बर बांके
बंकता के आसमान जे कुसत करि तंग के।

सोहत असीले हेम हरिन सजीले
गरबीले गुन आगर सजीले अंग अंग के।
भाखें मन सगर सपूती अभिलाखें लाल
आँखें करि लखत उमंग अंग जंग के।
ताजी तेज लच्छी पौन पच्छी से उड़ात सजे
कच्छी पातसाह के सुलच्छी रंग-रंग के॥[83]

इसमें रेखांकित शब्द विशेषण अथवा क्रिया विशेषण है तथा ये वस्तु अथवा व्यापारगत सौंदर्य में अभिवृद्धि कर रहे हैं।

संवृत्ति वक्रता : 'सखि तें हूँ हुति निसि देखत ही जिनपे वे भई ही निछावरियां।
जिन्ह पानि गह्यो हुतो मेरो तबै सब गाइ उठीं बृज डावरियां॥
असुवा भरि आवत मेरे अजों सुमिरे उनकी पग पांवरियां।
हि कोहे हमारे वे कौन लगें, जिनके संग खेली ही भांवरियां।'[84]

इस उद्धरण में सभी रेखांकित शब्द सर्वनाम हैं, जो संज्ञाओं के स्थान पर आकर विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

वृत्ति-वक्रता : 'मंद मंद चली नंदनंदन पे प्रवीन बेनी
ग्रीषम दुपहरी विसाल अरि रही है।
संदली दुकूल फहरात भुजमूलन पे
फूलन के भूषन सुगन्ध झरि रही है।
नूपुर झनक जैसे सनक समीर तीर
चहुं और भौरन की भीर भरि रही है।
फूली फलीं भली आली काहू सुरवाटिका की
मानों बालबोंडर में बेलि परि रही है।'[85]

यहाँ रेखांकित पदावली समस्त है। जिससे भाषा में विशेष प्रकार की कसावट तो आ ही गई है साथ ही अभिव्यक्ति में भी निखार आ गया है। यहाँ यह कह देना अधिक उपयुक्त है कि ब्रजभाषा की प्रकृति समास-प्रधान नहीं है, अतः इस प्रकार की पदावली रीतिकाव्य में अधिक परिमाण में उपलब्ध नहीं होती।

पदपरार्द्ध-वक्रता : 'बहुते दिनन को बिछो ही मीत वोही मिल्यो
लीबे को घनेरो घन वाके मन आशा है।
कहे गिरधारी काम केलि की कलोलनि में
सोर सिसकारिन को मरे देत वासा है॥
भौंहनि मरोरति औ मोरति मयंकमुख
अंग अंग तोरति सकोरति सुनासा है।
ललै ललचावति लचावति ललित अंक
लोचन नचावति मचावति तमासा है॥'[86]

इस उद्धरण में 'मरे देतवासा है', 'मरोरति', 'मोरति', 'तोरति', 'रसकोरति', 'ललचावति', 'लचावति', 'नचावति' तथा 'मचावति' में काल वक्रता है, जबकि 'में' विभक्ति-चिह्न में कारक-वक्रता एवं 'ही' (बिछोही) प्रत्यय में निपात वक्रता देखी जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रीति कवियों के काव्य में ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप उक्ति-वैचित्र्य के विविध भेदों का निर्वाह पूर्ण मनोयोग के साथ हुआ है। इन्हीं उक्तियों के माध्यम से रीतिकाव्य में अलौकिक चमत्कार उत्पन्न हुआ है। डॉ. महेन्द्र कुमार के शब्दों में, 'इस कर्म में इन लोगों को जो इतनी सफलता मिली है उसका मूल रहस्य यही है कि ये ब्रजभाषा की आत्मा को भली-भाँति पहचानते थे इसका कौन-सा अंग (मोरति मयंकमुख) किस स्थान पर सौंदर्य की अधिकतम सृष्टि कर सकेगा इसका इन्हें पूरा ज्ञान था। यही कारण है कि किसी भी रचना को पढ़े तो उसमें विद्यमान बिंब जितना आह्लादन करता है, अभिव्यक्ति के माध्यम 'भाषा' के ये अंग भी अपने औचित्य पूर्व प्रयोग से कुछ वैसा ही कौतूहल-समन्वित आनंद देते हैं। वस्तुतः 'वक्रता' की दृष्टि से यह काव्य हिन्दी-साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।'[87]

रीतिकाव्य की अलंकार योजना

भाव,रस, रूप, गुण, क्रिया आदि की अनुभूति में सहायक होकर काव्य की शोभा की अभिवृद्धि का साधन होने के कारण काव्यकला की दृष्टि से अलंकारों का महत्त्व निर्विवाद है। वस्तुतः अलंकार शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर के आभूषण हैं। इनके द्वारा रस का उपकार होता है किंतु यदि स्वाभाविक रूप से सुंदर बिंब में इन्हें जबरदस्ती थोपने की चेष्टा की जाती है, तो इससे रस का उपकार ही होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि बिंब और उसकी अभिव्यक्ति के सहज सौंदर्य एवं स्वाभाविकता के विधायक होने के कारण अलंकार काव्य-संपदा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, किंतु तभी तक, जब तक कि इनकी योजना करना मात्र कवि का उद्देश्य नहीं रहता है।[88]

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार संबंधी विवेचन आचार्य भरत के समय से ही होने लगा था, किंतु भरत से लेकर विश्वनाथ तक आते-आते अलंकारों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई। वस्तुतः काव्यगत बिंब को ग्राह्य और प्रभावी बनाने के लिए उसमें जिन विशेषताओं की आवश्यकता होती है उनके विधायक छः मनोव्यापार माने गए हैं—साम्य, अतिशयता, औचित्य, वैषम्य, वक्रता और चमत्कार, जिनके परिणाम ही समस्त अलंकार माने गए हैं। अतः कवि के मन के इन छः व्यापारों के आधार पर अलंकारों को इन छः वर्गों में रखा जा सकता है—1. साम्यमूलक, 2. अतिशयमूलक 3. औचित्यमूलक 4. वैषम्यमूलक 5 वक्रतामूलक तथा 6. चमत्कारमूलक। रीति कवियों द्वारा प्रयुक्त इन अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

साम्यमूलक अंलकार

साम्यमूलक अलंकार योजना के अंतर्गत गृहीत विषयों को अलंकार-शास्त्रीय शब्दावली में प्राप्त 'अप्रस्तुत' कहा जाता है। किसी वस्तु के रूप, गुण, क्रिया अथवा भाव को अधिक स्पष्टता के साथ वर्णित करने के लिए 'उपमान' या अप्रस्तुतों की योजना की जाती है। अप्रस्तुतों का चयन प्रकृति तथा लोक कहीं से भी किया जा सकता है। यह कवि की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह प्रकृति से उपमानों का चयन करता है अथवा लोक के किसी पदार्थ से। सादृश्य, आरोप, संभावना इत्यादि प्रयोगों की सहायता से वह इनके द्वारा मुख्य विषय की प्रतीति को जितना तीव्र कर सकेगा, उतना ही उसे अपनी काव्य-कला को संवारने में सहायता मिलेगी। अप्रस्तुतों को प्रयोग की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) परंपरागत अर्थात् ऐसे पदार्थ जो विशिष्ट पदार्थों के विशिष्ट रूप, गुण अथवा क्रिया के लिए युगों के व्यवहार में आते रहे हैं और उनके लिए एक प्रकार से अत्यंत रूढ़ हो गए हैं तथा (ख) नवीन अर्थात् वे पदार्थ जो रूपादि-संबंधी अपनी सर्वानुभूति विशेषताओं को रखते हुए भी विशेष प्रकार के पदार्थों के लिए कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं हुए एवं प्रत्येक कवि ने उन्हें अपनी इच्छा से विशिष्ट बिंबों के भीतर नियोजित किया है।[89]

रीतिकालीन कवियों ने भी विषय के अनुरूप प्रकृति एवं लोक दोनों से अप्रस्तुतों का चयन किया है। कहीं स्थूल के लिए स्थूल, कहीं स्थूल के सूक्ष्म कहीं सूक्ष्म के लिए सूक्ष्म और कहीं सूक्ष्म के लिए स्थूल उपमानों की योजना हुई है। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया है कि अधिकांशतः रीतिकालीन कवि आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्रीय परिपाटी का अनुकरण करके ही काव्य-सृजन कर रहे थे। अतः उनकी काव्य-भाषा में उन उपमानों एवं अप्रस्तुतों का प्रयोग अधिक परिमाण में उपलब्ध होता है, जिनका प्रयोग संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में अधिक हुआ है। विशेष रूप से श्रृंगारिक रचनाओं में नख-शिख-वर्णनों में परंपरागत उपमानों के प्रयोग द्वारा शरीरावयों के सौंदर्य की सृष्टि में इनकी अद्भुत एवं चमत्कारिक योजना द्रष्टव्य है, जैसे—

'चंपक सो तनु नैन सरोज से इन्दु सो आनन जोति सवाई।
बिम्ब से ओठ लसै तिल फूल सी, नायिका स्वास सुवास सुहाई॥
बाहें मृनाल सी बेनी प्रवीन उरोज उतंग नई छबि छाई।
ज्यों ज्यों बिलोकिये जू प्रति अंगन त्यों त्यों लगे अति सुन्दरताई॥'[90]

इस उद्धरण में तन, नैन, आनन, ओठ, बाहों के लिए क्रमशः चम्पा, कमल, इन्दु, बिम्बाफल तथा मृणाल को उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये सभी उपमान परंपरागत तथा स्वरूप की दृष्टि से स्थूल है और ऊपर वर्णित सभी स्थूल पदार्थों के लिए ही नियोजित हुए हैं। परंपरागत उपमानों की भाँति नवीन उपमानों का प्रयोग भी

रीतिकालीन काव्य में पर्याप्त परिमाण में देखा जा सकता है। चूँकि रीतिकालीन कवि व्युतान्न कलाकार थे, इसलिए इनमें इस प्रकार के उपमानों के लिए आवश्यक नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा, सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तथा प्रकृति, लोकशास्त्रादि संबंधी ज्ञान और अनुभव स्वाभाविक रूप से विद्यमान था। सभी विषयों से संबंधित कविताओं में नवीन उपमानों का प्रयोग रीतिकालीन कवियों की मौलिक प्रतिभा एवं कला-प्रियता का परिचायक है। शृंगारिक रचनाओं में नख-शिख सौंदर्य वर्णन प्रसंगों में तो इन उपमानों का आधिक्य विद्यमान है ही, राजप्रशस्ति प्रकृति एवं नीति संबंधी पदों में भी इनका वैविध्य द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए एक पद को देखा जा सकता है –

लसै दीह दंतावली है अनंत। मानो मेघ सोहे मिली वक्क पंते।
झुला झुल्ल झूमें सु झूंल लदाऊ। मनो चंचला चौंधि कूदे सदाऊ॥
महाउच्च माथें सिरी सोहती हैं। मनो सिद्ध की सुद्ध सोभा लती है।
रंगी रंग सोहे मतंगे उमंगे। मानो सांझ के मेघ रंगे बिरंगे।।[91]

इस पद में पद्माकर ने धवल दंतों से युक्त हाथियों, उन पर पड़ी झूलों, उनके मस्तकों के सौंदर्य तथा उनके रंजक विभिन्न रंगों में रंगे उनके डीलों के लिए क्रमशः श्वेत वकों से युक्त मेघ, बिजलियों के समूह, शोभा और सायंकालीन रंग-बिरंगे मेघों को उपमान रूप में प्रस्तुत करके एक ही स्थल पर स्थूल के लिए स्थूल, स्थूल के लिए सूक्ष्म, सूक्ष्म के लिए सूक्ष्म तथा स्थूल के लिए स्थूल की योजना का सौंदर्य उद्‌घाटित किया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षणा शक्ति का परिचय देते हुए कुछ ऐसे अछूते उपमानों का प्रयोग अपनी काव्य रचनाओं में किया है, जिनसे उनकी कृतियाँ सहज सौंदर्य की सुषमा का प्रासाद बन गई है। डॉ. महेन्द्र कुमार जी के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'वस्तुतः परंपरागत उपमानों के प्रयोग में जहाँ ये लोग मात्र शिल्पकार दृष्टिगत होते हैं वहाँ नवीन उपमान अथवा परंपरागत उपमानों का नवीन प्रयोग उन्हें कलाकारों के मध्य में खड़ा कर देता है। ये नवीन उपमान ही ऐसे है जिनके प्रयोग ने इस काव्य के अधिकांश को गौरव का अधिकारी बना दिया है।'[92]

अतिशयमूलक अलंकार

अपने मूल रूप में अतिशयोक्ति का उद्देश्य उत्तेजना को संवेदनीय बनाना, अर्थात् अपनी उत्तेजना को व्यक्त करना और दूसरे को उत्तेजित करना है। उत्तेजना के लिए चित्त के विस्तार और उत्कर्ष की अपेक्षा होती है—और चित्त के विस्तार और उत्कर्ष के लिए अपनी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना आवश्यक होता है, तभी अतिशयूलक अलंकारों का जन्म होता है।[93] वैसे तो प्रायः सभी अलंकारों में एक

सीमा तक अविशयता का भाव व्याप्त रहता है, किंतु प्रस्तुत संदर्भ में हमारा अभिप्राय केवल उन्हीं अलंकारों से है, जो केवल अतिशयता पर ही आधारित होते हैं, जैसे– अतिश्योक्ति तथा अत्युक्ति अलंकार। स्पष्ट है मुगल शासन काल में, जहाँ आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखना ही कवि का उद्देश्य बन गया था, इससे अलंकार को प्रधानता मिल गई। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी ने अतिशयमूलक अलंकारों का प्रयोग बहुत विस्तार से किया है, यही कारण है कि हिंदी के चमत्कार-रसिक आलोचकों ने इनकी काव्य-प्रतिभा की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा भी की है। किंतु स्थान-स्थान पर यह भी देखा गया है कि रीतिकालीन कवि यद्यपि इन अलंकारों के प्रयोग के प्रति पर्याप्त प्रोत्साहित हुए थे, किंतु अधिक मनोयोग न होने के कारण ये अपने काव्य बिंबों को अधिक प्रभावशाली नहीं बना पाए–ये सामान्यतः इतने विस्तृत एवं सूक्ष्म हो गए हैं कि सहृदय को आह्लादित करने के स्थान पर उसके चित्त को आवश्यकता से अधिक चमत्कृत करके उस पर तमाशे की भाँति अगंभीर प्रभाव ही छोड़ पाने में समर्थ हुए हैं, जैसे–

'भूपर कमल युग ऊपर कनक खंभ
ब्रह्मा की सी गति मध्य सूक्षमन निदीवर।
तापर अनूप-रूप कूप की तखों तहाँ
श्रीपफल युगुल माल, मिलित मिलिन्दखर।
देव तरु बल्लीबीचि डोलती सल्लव प्रकास
पुंज तामें जगमग जोति बिंदीवर।
इंदिरा के मंदिर में उदित उमंद इंदु
आनन उदित इंदु मंदिर में इन्दीवर॥

इस उद्धरण के अंतर्गत केवल उपमानों की सहायता से नायिका के विभिन्न अंगों को प्रस्तुत करते हुए उसका समग्र बिंब व्यक्त किया गया है। अलंकार रूपकातिश्योक्ति है, किंतु यह बिंब नायिका के शरीर की प्रतीति कराने के स्थान पर कुछ ऐसी प्रतीतियां सहृदय के मन पर अंकित करता है जो अपने आप में आह्लादक नहीं कही जा सकती–मात्र प्रतीतियों ही रह जाती हैं।[94]

रीतिकालीन काव्यधारा की शृंगारिक कविताओं की अपेक्षा राज-प्रशस्ति विषयक रचनाओं में अतिशयमूलक अलंकारों की प्रभावशाली व्यंजना हुई है। अपने युग की परिस्थितियों अथवा यूँ कहे कि अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने की आकांक्षा ने इन कवियों को अतिरंजना पूर्ण वर्णन करने के लिए बाध्य किया, तो अत्युक्ति न होगी। मतिराम के ललितललाम के अंतर्गत दान के प्रसंग में दान सामग्री को जितना अतिरंजित करके प्रस्तुत किया है, उससे कहीं अधिक इसके दान में अपने आश्रयदाता के उत्साह को व्यंजित करने का प्रयत्न किया है–

जीते और जंग अति अतुल उतंग तन
दूनी स्याम रंग छबि छपदनि छाए तें।
कहे मतिराम नभ पदी के कुसुम सम
उड़े उड़गन सुंह अनिल उड़ाए तें।
मदजल धार बरषत जियि धाराधर
धक्कनि सों धुक्करें घरनिघर घाए तें।
आवें कविराजऐसे पावे गजराज राव
भाव सतासुत सों अगार गुन गाए तें॥[95]

औचित्यमूलक अंलकार

इन अलंकारों का मूल आधार है 'औचित्य' अथवा अन्विति, जिसकी सहायता से कलाकार अपने काव्य-बिंबों का निर्माण करते समय तत्संबंधी अनूभूतियों को कुछ इस प्रकार रखता है जिससे उसमें स्वाभाविकता चित्त की आह्लादक होकर मुखर होती है। वस्तुतः विषय-वैचित्र्य में ही सौंदर्य नहीं होता, उसकी स्वाभाविकता में भी यह देखने को मिल जाता है। अनुभूति के अंतर्गत इस स्वाभाविकता की सृष्टि उसके विविध अवयवों को विशिष्ट कम में रखने से भी होती है, जिसका संपादन सामान्यतः औचित्य-मूलक अलंकारों द्वारा हुआ करता है।[96] स्वभावोक्ति, यथासंख्य, कारणमाला, एकावली आदि कुछ अलंकारों की गणना इसी वर्ग के अंतर्गत होती है। रीतिकालीन कवि आचार्यों ने अलंकार-संबंधी विवेचन के अंतर्गत तो इनको महत्त्व दिया ही है, साथ ही विविध विषयों के प्रभावशाली निरूपण में ही इन अलंकारों का यथासंभव प्रयोग किया है। श्रृंगारिक एवं दर्शन-भक्ति विषयक जिन रचनाओं इस प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है, उसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है -

आगे आगे आसपास फैलति बिमल बास
पीछे पीछे भारी भीर भोरनि के गान की।
तातें अति नीकी किंकिनी की झनकार होति
मोहिनी है मानों मनमोहन के कान की॥
जगर भगर होति जोति नव जोबन की
देखें गति भूलें मति देव देवतान की।
सामुहें गली के जु अली के संग भलीभांति
चली जाति देखी वह लली वृषभान की॥[97]

इस उद्धरण में स्वभावोक्ति अलंकार की सहायता से नायिका के शरीर से उठती हुई पद्मगंध, उसकी ओर उड़ते हुए भ्रमर, कटि में किंकिणी की झंकार तथा यौवन-संपन्न शरीर की दीप्ति का स्वाभाविक चित्र चित्रित किया गया है। एक

अन्य पद में मतिराम ने नायिका के नहाने के पश्चात् अंगों का अंगोछना, बालों को झुकाना तथा मुख मोड़कर मुस्कुराना—इन तीनों बातों को अत्यंत सहज ढंग से प्रस्तुत किया है—

'मृदु बोलत डोलत कुण्डल कानन कानन कुंजनि ते निकस्यो।
बन माल बनी 'मतिराम' हिए पियरो पट त्यों कटि में बिलस्यो।
जब ते सिर मोर पखानि धरे चित्त चोरि इत ओर हंस्यौ।
तव तें दुरि भाजि के लाज गई अब लालचु नैननि आनि बस्यौ॥'[98]

दर्शन एवं भक्ति से संबंधित एक पद में औचित्यमूलक अलंकार का सौंदर्य प्रस्तुत है—

'जनकपुरी की सब नवीली छबीली वाम
ठाढी है झरोखन में सोहत है हाथ सों
मंडप अनूप तामे राजे सुख के निधान
सोहत किसोर रूप मातन के साथ सों॥
सेवादास मंगल मनोहर सो गगन करे
सीता जी सोहति और रामवर गाथ सों।
एकै इठलाति मुसक्याति एकै बार बार
एकै तिरछाति एकै हसति रघुनाथ सों॥'[99]

इस उद्धरण में 'एकावली' अलंकार के द्वारा भगवान राम के विवाह के समय स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित व्यापारों का मनोहारी चित्रण किया गया है। स्पष्ट है कि इन कवियों ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत औचित्यमूलक अलंकारों का प्रयोग पर्याप्त परिमाण में किया है और वह अपने आप में इतना स्वच्छ रहा है कि उससे निर्मित बिंब सामान्यतः आकर्षक एवं प्रभावी बन गए हैं। इस वर्ग अलंकारों में 'स्वभावोक्ति' आदि जहाँ जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के स्वाभाविक वर्णनों में अधिक व्यवहार में लाये गए हैं वहाँ 'कारणमाला' और 'एकावली'—जैसे कार्य कारण अथवा ग्रहण-त्याग संबंधी अलंकार नीति जैसे विशिष्ट विषयों के अधिक अनुकूल रहे हैं—बिंबों के स्वरूप की दृष्टि से इन अलंकारों के योग के विषय में केवल यही कहना संगत प्रतीत होता है कि 'स्वभावोक्ति' से जहाँ ये सरल, सहज और स्वाभाविक बने हैं, वहाँ 'कारणमाला' आदि ने इनमें उतार-चढ़ाव का वैशिष्ट्य समाविष्ट किया है—'यथाक्रम' विभिन्न बिंबों को आरोह अथवा अवरोह के क्रम में प्रस्तुत कर उनके समग्र-बिंब में विलक्षण लय की सृष्टि करता है।[100]

वैषम्यमूलक अलंकार

वैषम्यमूलक अलंकार का मूल उद्देश्य साधारणतः रूप, रंग इत्यादि उपकरणों

के वैषम्य द्वारा मुख्य विषय की अनुभूति में अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि करना होता है। साम्यमूलक अलंकारों के समान ही इनके उपयोग में भी कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि और परिष्कृत रुचि का दर्शन होता है, जिसकी सफलता का कारण उनकी अनुभूति की स्वच्छता तथा उसकी तीव्रता में अंतर्निहित है।[101] इस वर्ग के अंतर्गत सामान्यतः विरोधाभास, विभावना, विचित्र, व्याघात, विषम, अधिक, अल्प, विशेष, असंगति और अन्योन्यक्ति नामक अलंकारों की गणना की जाती है। रीतिकालीन काव्य इस प्रकार के अलंकारों का प्रयोग, यद्यपि साम्य अथवा अतिशय-मूलक अलंकारों के समान पर्याप्त परिमाण में नहीं हुआ है, फिर भी न्यूनाधिक रूप से सभी विषयों से संबंधित रचनाओं में इनके द्वारा बिंबों का निर्माण किया गया है। सोमनाथ के एक पद को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें विषय अलंकार की सहायता से एक क्रिया की विषम प्रतिक्रिया को अत्यंत सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है—

'इहिं ओसर एक कीडीठि बचाए के कंठ ते प्यारी को लाल दई।
ससिनाथ गुलाब की माल वही लखि दूसरी के दृगसाल भई।।'[102]

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

'माँग सेंदुरारी तम तरुन अरुन जोति
बेंदी रविंद त्यों छवि पुंज उद्दरत है।
सघन जघन कुच सकुच दबीच दब्यौ
उचिकि उचकि लंक लचक्यो परतु है॥
जोबह बनक बन्यो तन में तनक देव
भूषन कनंक, मनि आभा उभरतु है।
बेसरि को मोतीसुधा बिंदु सों चुवत, मुख
इन्दु सोंउवत, बूडि बूडि उद्दरतु हैं॥[103]

इस उद्धरण में 'सम' अलंकार के द्वारा सेंदुरारी माँग और अंधकार युक्त अरुण तथा चमकदार बिंदी और सूर्य जैसे विषम पदार्थों में जहाँ समता व्यक्त की है, वहीं 'विषम' अलंकार के द्वारा सघन जंघाओं और छोटे उरोजों की तथा लंक के उचकने और लचकने की विषमता चित्रित है। इसके अतिरिक्त 'अल्प' अलंकार के द्वारा शरीर के आभूषणों के बिंब के भीतर बड़े आधार में छोटे आधेय का चमत्कार प्रस्तुत हुआ है जबकि बेसरि के मुक्ता रूपी अमृत-बिंदु में डूबने और उछलने की कल्पना में आधार की अपेक्षा आधेय की अधिकता वर्णित हुई है। इस प्रकार चारों में ऐसा वैषम्य समाविष्ट हुआ है कि नायिका के समग्र बिंब की रूप और वस्त्राभरणों-संबंधी विभिन्न रेखाएँ परस्पर-प्रतिरूप होकर अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि कर रही हैं।

वक्रता-मूलक अलंकार

इस वर्ग के अलंकारों का मूल आधार है—'वक्रता'—अर्थात् व्यंग्य-गोपन। यद्यपि इस प्रकार की वक्रता प्रत्येक आलंकारिक उक्ति में समाविष्ट रहती है, किंतु इन अलंकारों की विशेषता यह है कि ये वाणी की व्यक्त भंगिमा द्वारा सहृदय के चित्त में जिज्ञासा अथवा कौतूहल जागृत करके मुख्य विषय के बिंब की प्रतीति को संपुष्ट करते हैं। प्रायः इस वर्ग के अंतर्गत अर्थ-वक्रोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, सूक्ष्म आदि अलंकारों की गणना की जाती है। ऐसे अलंकारों के प्रयोग में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि रचना के भीतर यह व्यंग्य इतना गुप्त न हो जाए कि उसे खोजने के लिए मानसिक व्यायाम करना पड़े। ऐसा होने से बिंब की प्रतीति से होने वाले आनंद को सहृदय प्राप्त नहीं कर पाता। सूक्ष्म और गुप्त के प्रयोग की दशा में प्रायः यही दोष आ जाया करता है। जो कवि यह सावधानी बरतता है, उसकी रचना पर्याप्त आकर्षक हो जाती है, क्योंकि कौतूहल वृत्ति का जाग्रत होना स्वतः एक प्रकार का आनंद है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[104] अधिकांश रीतिकालीन कवि अभिव्यक्ति की मौलिक विशेषताओं के प्रति विशेष रूप से जागरूक थे, अतः इन अलंकारों के प्रयोग से उन्हें कवि-उद्देश्य की पूर्ति में पर्याप्त सहायता मिली है। शृंगारिक रचनाओं के विविध पक्षों के अंतर्गत इन अलंकारों के वैविध्य को सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। नायक-नायिकाओं के निरूपण-संबंधी बिंबों में प्रायः वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, पर्यायोक्ति और व्याजस्तुति अलंकार का प्रयोग तथा सूक्ष्म क्रियाओं में सूक्ष्म और विहित अलंकारों का प्रयोग हुआ है। नायिका-भेद संबंधी निरूपण में ही इसी वर्ग के अलंकारों का विशेष रूप से सहयोग रहा है। जैसे—

दाऊ न नंद बबान जसोमति न्योते गए कहूं ले संग भारी।
हौं हूँ इके पदमाकर पोरि में सूनी परी बरवरी निसि कारी।
देखें न क्यों कढि तेरे सु खेत तें घाइ गई छुटि गाइ हमारी।
ग्वाल सों बोलि गुपाल कह्यो सु गुवालिनि पें मनो मोहिनी डारी॥[105]

इस उद्धरण में वचन-विदग्धता की भाँति पर्यायोक्ति के द्वारा नायक के इसी गुप्त अर्थ का बोध हो रहा है कि तेरे पति को तो मैं देर के लिए घर से बाहर भेज देता हूँ और मेरे एकान्त घर में मिलन का सुअवसर है।

राज-प्रशस्ति विषयक रचनाओं में तो इस वर्ग के अलंकारों के कुछ सुंदर उदाहरण दिखाई दे जाते हैं किंतु दर्शन परक रचनाओं में इस प्रकार के अलंकारों का प्रायः अभाव ही रहा है। ईष्ट देव की कृपालुता, दयालुता, शरणागत-रक्षा, पापियों के उद्धार जैसे भक्तिपरक विषयों में इन्हें अवश्य पर्याप्त आग्रह के साथ प्रयोग में लाया गया है। एक पद उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है—

कीने घोर करम धरम की न रीति जानी
मरम के ग्याता तो सों छिपी नहीं रद की।
पाप करिबे में शक्ति तरुन ज्यों राख्यो अऊ
पुन्य करिबे में जैसे बासकनि रद की॥
सूरति कहत ऋष चंद प्रभु सुनो मैं तो
बड़े पतितन की बड़ाई बदि रद की।
मेरी करनी में द्रष्टि करनी न नाथ तुम्हें
एहो महाराज साज आपने बिरद की॥[106]

स्पष्ट है कि इस उद्धरण में पर्यायोक्ति अलंकार की सहायता से अपने पापों तथा ईष्ट देव के गुणों का वर्णन करते हुए एक विशिष्ट रीति से ईश्वर से अपने कल्याण की प्रार्थना की गई है। डॉ॰ महेन्द्र कुमार के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'इन सभी अलंकारों के प्रयोग में सिवाय राजप्रशस्तियों के यही विशेषता दृष्टिगत होती है कि गोपन-व्यापार में कोई भी कवि असफल नहीं रहा—राज प्रशस्तियों में यद्यपि अतिशयता का समावेश हो जाने से इन अलंकारों में उत्पन्न सौंदर्य कुछ फीका पड़ गया है, किंतु प्रतीतियां इनकी भी स्वच्छ हैं।'[107]

चमत्कारमूलक अलंकार

अभिव्यंजना में आकर्षण और प्रभाव उत्पन्न करने का दूसरा मुख्य साधन है चमत्कार। इस वर्ग के अलंकार बिंब की अपेक्षा भाषा की सौंदर्य वृद्धि में विशेष सहायक होते हैं। चमत्कारमूलक अलंकारों के अंतर्गत उन अलंकारों की गणना की जाती है जिनका उपयोग उक्ति में विचित्रता लाने के लिए होता है—वैषम्य और श्लेष मूलक अलंकार प्रायः इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त अनुप्रास, यमक, वीप्सा और पुनरुक्ति ये चार अलंकार ही ऐसे हैं जो भाषा में विशेष रूप से सौंदर्य-वृद्धि करते हैं। इनमें से अनुप्रास से जहाँ भाषा के अंतर्गत झंकार आती है, वहाँ यमक इसमें चमत्कार लाता है, वीप्सा और पुनरुक्ति इसको गति प्रदान करते हैं।[108] रीतिकाव्य में इन सभी अलंकारों का पर्याप्त परिमाण में प्रयोग हुआ है। चूँकि रीति कवियों का ब्रजभाषा के साथ-साथ प्रांतीय बोलियों पर भी असाधारण अधिकार था, जिसके पफलस्वरूप शब्दों को विषयानुरूप तथा ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप प्रयोग करने में वे सिद्धहस्त थे। संभवतः इसीलिए इनकी काव्य रचनाओं में शब्दालंकारों का कौशल देखते ही बनता है। श्रुति माधुर्य के लिए अनुप्रास अलंकार विशेष रूप से उपयोगी होती है। रीतिकाव्य के प्रायः सभी छंदों में अनुप्रास की धारा प्रवाहित है, जैसे—

तिय सुंदर अंग सिंगार सिंगारि सिघरि मनोज विलास हई।
प्रगटी मुखचंद की जोति चहूं दिस पफैली सरीर सुबासनई।

ससिनाथ सुजान बिना रतिमंदिर हरि सखनि के पास गई।
हिय केलि कला तें निरास भई अंखियां भरि भारी उसासलई॥[109]

अनुप्रास के उक्त प्रयोगों में एक व्यंजन विशेष से आरंभ होने वाले शब्दों की लड़ी बांध देना कवि का अभिप्रेत नहीं रहा है। उनकी आनुप्रासिक योजना भाषा में उचित सौंदर्य की वृद्धि करती है। उक्त उद्धरणों में अनुप्रास, प्रवाह और श्रुति-माधुर्य दोनों को साधता है। अन्त्यानुप्रास संतुलन की सृष्टि करता है। अनुप्रास की भाँति ही यमक, वीप्सा, पुनरुक्ति आदि अलंकारों का भी सौंदर्यशाली निरूपण रीतिकालीन काव्य की प्रमुख विशेषता है, यहाँ विस्तार-भय से केवल इन अलंकारों के एक-एक पद को ही उद्धृत किया जा रहा है—

यमक— ऊँचे घोर मंदिर के अंदर रहनवारी
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती है।
कंदमूल भोग करें कंदमूल भोग करें
तीन बेर खातीं ते वे तीन बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग
विजन डुलातीं ते वेबिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास
नगन जडातीं ते वे नगन जडाती है।[110]

इस उद्धरण में घोर, मंदर, कंदमूल, बेर, भूषन, बिजन, डुलाती, नगन और जडाती—शब्दों की आवृत्ति हुई है तथा ये सभी सार्थक शब्द भिन्नार्थक हैं।

वीप्सा— 'रीझि रीझि रहसि रहसि हंसि हंसि उठै
सांसें भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकिचौंकि चकि चकि ओचक उचकि देव
थकि थकि ढकि बकि उठति बई बई॥
दुहुन के गुन रूप दोऊ बरनत फिरैं
घरत थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय
राधा मन मोहि मोहि मई मई॥'[111]

इस पद में रीझि-रीझि, रहसि, रहसि, चौंकि-चौंकि, चकि-चकि तथा मोहि में क्रमशः मुग्धता, आनंद, ध्यानमग्नता, आश्चर्य और मोह के क्रम की तथा थकि-थकि और भई-भई से क्रमशः शैथिल्य की अनुभूति और तन्मयता के आधिक्य की व्यंजना हो रही है। इन सबमें भावात्मकता होने के कारण यहाँ 'वीप्सा' अलंकार का प्राधान्य स्वीकार किया जा सकता हैं।

पुनरुक्ति— कोटि कोटि मतिराम कहि, जतन करो सब कोइ।
फाटे मन अरु दूध में, नेह न कबहूं होइ॥[112]

इसमें 'कोटि-कोटि' में पुनरुक्ति अलंकार हैं, जिसके माध्यम से प्रयत्नों की पुनरावृत्ति के आधिक्य को प्रकट किया है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों ने ऊपर वर्णित सभी वर्गों के अलंकारों को अपने काव्य में पूरे मनोयोग के साथ प्रयोग किया है। इसी कारण इनके प्रयोगों में कहीं भी शिथिलता अथवा बिखराव की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाई है। डॉ. महेन्द्र कुमार के शब्दों में कहा जा सकता है कि ' इन लोगों ने अपने बिंबों को स्पष्ट करने तथा सजाने-संवारने में अत्यंत सफलता के साथ विभिन्न प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है—इनकी कविता में इनकी स्वाभाविक छटा इतनी रही है कि कहीं पर भी ऐसा आभास नहीं होता कि ये मात्र आचार्य थे, सहृदय कवि नहीं, जिन अलंकारों की आवश्यकता हुई है, इनकी वाणी उन्हें ले आई है—जबरदस्ती से उस पर लादे नहीं गये। कदाचित् यह भी इनके काव्य की लोकप्रियता के कारणों में से एक रहा है।'[113] जहाँ तक रीतिकाव्य की अभिव्यंजना शैली का प्रश्न है, उसके उत्तर में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि शैली के स्वरूप की चर्चा करते समय विद्वानों ने इसके चार प्रमुख गुण बताए हैं—1. ओजस्विता, 2. सजीवता 3. प्रौढ़ता और 4. प्रभावशीलता।[114] तथा पीछे किए गए विवेचन के अध्ययन से इन चारों गुणों की स्थिति स्वतः ही स्पष्ट हो गई है। रीतिकालीन कवियों ने वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अपनी काव्य-रचनाओं में शैली के इन गुणों को उचित स्थान दिया है। शैली के उचित प्रयोग के कारण ही इनकी रचनाओं में सहृदय के चित्त को आकर्षित करने की क्षमता का समावेश संभव हो पाया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अंत में यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों की भावाभिव्यंजना अनुकूल शब्द-चयन, व्याकरण सम्मत भाषा एवं भाषा सौष्ठव के विविधं उपकरणों -अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण, मुहावरे, लोकोक्ति आदि के द्वारा आकर्षक एवं प्रभावशाली बन गई है। राज-दरबार के विलासी वातावरण में आश्रय पाने के कारण इनकी रचनाओं में भी राजाओं की विलासी प्रवृत्ति को और अधिक उद्दीप्त करने वाले प्रसंग अधिक परिमाण में व्याप्त हो गए हैं। श्रृंगार जैसे कोमल भाव को अभिव्यक्त करने में ब्रजभाषा का प्रयोग अपने पूर्ण वैभव के साथ उभर कर सामने आया है। चूँकि इस युग के कवि—आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र की विस्तृत एवं सुदीर्घ परंपरा को अपना आधार बनाकर- काव्य-रचना के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए थे अतः स्वाभाविक रूप से परंपरागत उपमान उनकी काव्य-भाषा के भी प्रमुख अंग बन गए। लोकोक्ति एवं मुहावरों के प्रयोग से इनकी अभिव्यंजना पद्धति में सजीवता एवं स्फूर्ति का समावेश हो गया। विविध अलंकार तो इनकी काव्य-भाषा

56. आचार्य अमीरदास और उनका साहित्य, डॉ. रामप्रकाश, पृ. 296
57. समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रकृतियां (द्वितीय खण्ड), प्रतापनारायण टण्डन, पृ. 708
58. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 459
59. काव्यदर्पण, पं. रामदहिन मिश्र, भूमिका, पृ. 50
60. रसशिरोमणि, रामसिंह, छंद 23
61. सुखसागरतरंग, देव, छंद 649
62. रससारांश, भिखारीदास, छंद 132
63. मतिराम : कवि और आचार्य, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 236
64. रसराज, मतिराम, छंद 38
65. मतिराम : कवि और आचार्य, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 237
66. समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, प्रताप नारायण टण्डन, पृ. 714
67. जगिद्विनोद, पद्माकर, छंद 172
68. सतसई, भूपति, छंद 255
69. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 480
70. शिवराजभूषण, भूषण, छंद 38
71. प्रबोधपचासा, पद्माकर, छंद 45
72. भारतीभूषण, गिरिधरदास, छंद 329
73. रसराज, मतिराम, छंद 229
74. हिंदी वक्रोक्ति जीवितं, संपा. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 51-52
75. हिंदी वक्रोक्ति जीवितं (संपा. डॉ. नगेन्द्र), प्रथमोन्मुष, 19वीं कारिका की वृत्ति
76. वही, द्वितीयोन्मेष-2
77. वही, द्वितीयोन्मेष -4
78. वही, द्वितीयोन्मेष-7
79. रसलीन की काव्यकला, डॉ. उषा शर्मा, पृ. 233
80. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 493
81. रसपीयूषनिधि, सोमनाथ ग्रंथावली (प्रथम भाग), पृ. 157
82. ललितललाम, मतिराम, छंद 285
83. हम्मीरहठ, चन्द्रशेखर वाजपेयी, छंद 112
84. शृंगार निर्णय, भिखारीदास, छंद 128
85. नवरसतरंग, बेनी प्रवीण, छंद 172
86. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 506
87. वही, पृ. 510
88. वही, पृ. 269
89. वही, पृ. 273-274
90. नवरसतरंग, बेनी प्रवीण,छंद 3
91. प्रतापसिंह विरुदावली, पद्माकर, छंद 28-29

92. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 309
93. देव और उनकी कविता, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 202
94. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 310-311
95. ललितललाम, मतिराम, छंद 129
96. मतिराम : कवि और आचार्य, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 201
97. भावविलास, देव, पंचम विलास
98. ललितललाम, मतिराम, छंद 268
99. रघुनाथ अलंकार, सेवादास
100. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 329
101. मतिराम : कवि और आचार्य, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 197
102. श्रृंगार विलास, सोमनाथ ग्रंथावली (प्रथम भाग), पृ. 286
103. शब्दरसायन, देव, नवम् प्रकाश
104. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 339-340
105. भक्तविनोद, सूरति मिश्र, छंद 19
106. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 348
107. वही, पृ. 348
108. मतिराम : कवि और आचार्य, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 226
109. श्रृंगार-विलास, सोमनाथ ग्रंथावली (प्रथम भाग), पृ. 299
110. शिवावावनी, भूषण, छंद 7
111. भवानीविलास, देव, प्रथम विलास, छंद 39
112. मतिराम सतसई, मतिराम, छंद 10
113. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 349
114. कविवर पद्माकर और उसका युग, डॉ. ब्रजनारायण सिंह, पृ. 428
115. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्यशिल्प, डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 511





डॉ. इन्दु

शिक्षा

एम. ए., एम. फिल., पी-एच. डी.

दिल्ली विश्वविद्यालय

डी. लिट्.

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशित पुस्तक

तुलसी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

संस्कृत रीति-सिद्धांत का हिंदी रीति-काव्य पर प्रभाव

संप्रति

रीडर, हिंदी-विभाग

श्री अरविन्द महाविद्यालय (सांध्य)

दिल्ली विश्वविद्यालय

संपर्क

ए-308, शिवालिक

मालवीय नगर

नई दिल्ली-17